भारतीय काव्यशास्त्र : नई व्याख्या

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन

एकमात्र वितरक
साहित्य भवन [प्रा] लिमिटेड
इलाहाबाद-३

© डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

संस्करण	प्रथम, १९७४ ई०
प्रकाशक	राका प्रकाशन ४०-ए, मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद-२
वितरक	साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड जीरो रोड, इलाहाबाद-३
मुद्रक	पर्वतीय मुद्रणालय १८, राय रामचरनदास रोड, इलाहाबाद-२
आवरण	शिव गोविन्द पाण्डेय
मूल्य	चौदह रुपये मात्र

स्मृतिशेष

पुण्यश्लोक डॉ० गोपाल व्यास

को

प्राक्कथन

हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र मे यह आवाज़ बार-बार उठती है कि हिन्दी के 'अपने' समीक्षा-शास्त्र का निर्माण और विकास होना चाहिए। अपने समय के चिन्तन को देखते हुए सजग समीक्षकों के अन्तरतम से निकलने वाली यह आवाज इस बात का ज्वलत प्रमाण है कि अपने समीक्षा-शास्त्र के निर्माण और विकास मे कही कोई गत्यवरोध है और यह अकारण नही है। कही कुछ है जो 'अपने' को 'पहचानने' नही देता है, फलतः निर्माण और विकास मे गत्यवरोध आ जाता है। भारतीय मानस 'आत्मशक्ति' का एहसास खो चुका है, फलत वह आत्म-प्रत्यभिज्ञा की दिशा अनुद्घाटित ही रहने दे रहा है और जब ऐसा है तब निर्मित तथा विकसित कैसे हो ? जिस राष्ट्र की नई चेतना 'अपने' को 'हीन' समझकर 'ऊँचा' बनने की चाह से दूसरे राष्ट्र का अंधाधुध अनुकरण करने मे लग जाय, उससे क्या आशा की जाय ? जो लोग थोड़ा 'अपनी' ओर मुडकर देखना चाहते है या देखने लगते है, उन्हें नव निर्माताओ की परिधि से काटकर पृथक् कर दिया जाता है। नये से नये ज्ञानालोक मे अपनी विवेक-शक्ति का परिमार्जन कीजिए, पर नियोजित कीजिए उसे 'अपने' स्वभाव मे निहित सभावनाओं के विकास के लिए। किन्तु यह सब जिस कपिलसमाधि से साध्य है, वर्तमान ढाँचे की निशाचरी वृत्तियाँ उस समाधि मे साधक को जाने ही नही देतीं।

सर्जना के क्षेत्र मे हिंदी साहित्य की प्रातिभ क्षमता निश्चय ही सामने आई है, पर सर्जक अपने उत्तरदायित्व की अपेक्षा समीक्षक के उत्तरदायित्व का ध्यान ज्यादा जोर से वहन करना-कराना चाहता है। वह यह नही सोचता कि सर्जना काल की निर्मम भट्ठी पर दस-बीस वर्ष स्वय पच-पंचा ले फिर जब वह आत्मशक्ति के बल पर कालजयी बन जाय, तब थिराहट में समीक्षक निहित 'शक्ति' या प्रतिमान को उभारे। यहाँ तो निकट अतीत के प्रयासो मे दिखाई यह पडता है कि तुम नही तो मैं ही समीक्षा करूँगा और तुम मेरी प्रशंसात्मक समीक्षा नही करोगे तो मैं तुम्हे ही उखाड दूँगा। नई प्रति-भाओं का सारा श्रम आन्दोलनों और धाराओं को नए शीर्षक प्रदान कर विकृत अहम्मन्यता की पुष्टि करने में नियोजित हो रहा है।

कुछ नए अधीत चिन्तक और समीक्षक जब यह कहते है कि भाव कविता का शील है, रस आत्मा हो न हो—तब पूर्वार्द्ध से सहमत होकर भी उत्तरार्द्ध

चिन्त्य हो जाता है। बावजूद इसके **'भाव कविता का शील है'** यह उद्घोष किसी राष्ट्र की प्रकृति का अतिक्रमण कर कविता की प्रकृति से अवश्य जुट जाता है। जब अद्यतन चिंतक यह मानता है कि सर्जनात्मक अनुभूति को वहन करने वाले सटीक और अपरिवर्तनीय अर्थवान् शब्द कविता में सब कुछ हैं, तब वह कविता के अपने स्वभाव का निश्चय ही दीप्त रूप मुखर करता है। कविता के स्वभाव-समुद्र में समय-समय पर बुलबुले की भाँति उतराने वाली 'विसंगति', 'सपाट बयानी' आदि को प्रतिमान के स्तर पर रखना बहुत स्थायी को महत्त्व देना नहीं है। कविता की प्रवृत्ति और उसके बाद राष्ट्र की प्रकृति को न झेल सकने का ही यह परिणाम था कि प्रगतिवाद जैसा आन्दोलन हिन्दी के सर्जनात्मक साहित्याकाश में लूक की तरह आया और चला गया। जो कविता जरूरत की कविता हो, हाथों की छटपटाहट हो, वह काल की निर्मम भट्ठी पर चढ़ने के बाद कितनी मात्रा में कालजयी होगी—कहा नहीं जा सकता। फिर इनसे कौन से प्रतिमान स्पष्ट होंगे ? यह ठीक है कि कविता में चिरंतन और सदातन को अद्यतन के माध्यम से ही व्यक्त किया जाता है, पर ऐसे स्रष्टा में भी तो कहीं चिरंतन और सदातन की परख, पहचान, आस्था और झुकाव हो। समीक्षा रचना या सर्जना की अनुधाविनी है, सखा है, शासक है, अतः समीक्षा का गत्यवरोध आदि दूर करना है तो सर्जक की आत्मशक्ति की परख अतीत में घुसकर करनी होगी और अपने स्वभाव की संभावनाओं को ही साहित्य के रूप में मूर्त करना होगा।

भारतीय काव्यशास्त्र 'अतीत' का है, इसमें कोई संदेह नहीं, परन्तु उसमें निरूपित भेद-प्रभेदों की तह में अनुस्यूत 'सामान्य' इतनी संभावनाओं का है कि उसका पुनरुज्जीवन वर्तमान किन्तु 'अपने' को अभिव्यक्त करने वाले अद्यतन सर्जन के संदर्भ में किया जा सकता है। प्रस्तुत कृति इसी संदर्भ का प्रयास है। मूल्य और महत्त्व सहृदय चिन्तकों के हाथ में जाने पर ही तय होगा।

कृति के प्रकाशन में योग देने वाले मित्रवर डॉ० पारसनाथ तिवारी तथा मुद्रण में समय की गति से अधिक सक्रिय श्री रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी' को धन्यवाद दिए बिना इस संदर्भ का कर्तव्य अधूरा रह जायगा। अंततः कृति के आकार ग्रहण करने में साक्षात्-असाक्षात जिसका भी सहयोग हो सब के प्रति आभार।

अनुक्रम

● ● ●

एक | भारतीय काव्यशास्त्र : वर्तमान सन्दर्भ में

[१]

काव्य के शास्त्र से अभिप्राय उसके शासन से है—नियम-विधान से है। शास्त्र इसलिए 'शास्त्र' माना जाता है कि वह शासन करता है—कवियों को निरंकुश होने से रोकता है। कतिपय साहित्यशास्त्रियों ने काव्यशास्त्र या काव्यशासन की जगह 'काव्यानुशासन' शब्द का ठीक उसी प्रकार प्रयोग किया है जैसे व्याकरण के भारतीय चिंतकों ने 'शब्दानुशासन' का। महाभाष्यकार पतंजलि ने शब्द प्रयुक्त—शब्द-लक्ष्य—का अनुगामी रहकर शब्दशासन की बात कही है, लक्ष्य को ध्यान में रखकर लक्षणों का विचार किया है, न कि लक्षणों के द्वारा लक्ष्य का स्वरूप निर्धारित किया है। कहा भी गया है—"लक्ष्यैकचक्षुष्का: वैयाकरणा:।" ठीक इसी प्रकार जब हेमचन्द्र या वाग्भट 'काव्यानुशासन' की बात करते हैं अथवा दशरूपककार उत्कृष्ट रचनाओं को देखकर नियम बनाने की युक्ति प्रदर्शित करते हैं तब वे भी शब्दविदों की भाँति शासन नहीं अनुशासन का ही समर्थन करते हैं। काव्य का अनुशासन ही काव्य का शास्त्र है।

बात यह है कि शासन या नियम-निर्माण बुद्धि का कार्य है और काव्य उसकी अपेक्षा और भी महत्त्वपूर्ण किसी सर्जनात्मक शक्ति का—जो केवल संश्लेष को जानती है, समग्र से परिचित है—उसके द्वारा की गई सृष्टि में कौन कहाँ से आकर किस अनुपात में किस तरह आवयविक विकास की अखण्ड प्रक्रिया में जुट गया, इसका उसे पता नहीं। यह अवश्य मानने की बात है कि हर कविता उस सर्जनात्मक शक्ति का प्रसव नहीं होती। कौन-सी रचना सर्जनात्मक शक्ति की प्रसूति है—इसका निकष भी सब का हृदय नहीं हो सकता। तभी तो किसी को लिखना पड़ा कि 'तार सप्तक' लाला भगवानदीन के हाथों पड़कर अपना प्राप्य नहीं पा सकता। सहृदय समीक्षक या समझदार

को काव्यधारा और जीवनधारा के सम्पर्क में रहकर अपनी समझ या ग्रहण-शीलता को निरन्तर ताजा रखना पड़ता है। जिस समझदार में इस ग्रहणशील वृत्ति की ताजगी अन्य दोनों सम्पर्कों के अभाव में मर जाती है, उसमें अनुशासन की क्षमता नहीं आ सकती—वह अनुरूप प्रतिमान नहीं निर्धारित कर सकता।

कतिपय चिंतकों की धारणा तो यह है कि न तो काव्य का अनुशासन तात्त्विक भूमिका पर सम्भव है और न काव्य के लिए उसकी कोई आवश्यकता ही है। पहली बात इसलिए मान्य है कि कविता अपने हर प्रयत्न में सर्जनात्मक शक्ति 'नवता' से सवलित रहती है, अत. अनुशासन रखने वाली बुद्धि हमेशा पीछे ही रह जाती है और दूसरी बात भारतीय काव्यशास्त्रियों के साक्ष्य पर इसलिए सही है कि वे काव्य को महज आस्वाद की वस्तु मानते हैं—उनका सर्वाधिक मान्य रसात्मक प्रतिमान केवल आस्वाद की निरतिशयता या तारतमिकता बताता है। निरतिशयता रस की अपनी स्वरूपगत विशेषता है जबकि तारतमिकता ग्राहक के संस्कार और व्यजक सामग्री की। वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्रियों के रसात्मक प्रतिमान में आस्वाद या प्रीति के साथ-साथ व्युत्पत्ति अथवा मूल्य की बात इस कदर अपरिहार्य अंग बन गई है कि उसे अलग से न कहकर भी कह दिया गया है। इसीलिए रसात्मक प्रतिमान के विषय में यह कहना कि वह मूल्यांकन की ओर उन्मुख नहीं है—सही भी है और नहीं भी। सही इसलिए कि वह काव्य का लक्ष्य चर्वणा या आस्वादमात्र मानता है, और नहीं भी इसलिए कि आस्वाद-उत्पादक-अवयव समाज-निर्धारित-औचित्य (मूल्य) गर्भित होते ही हैं—अन्यथा 'आस्वाद' की निष्पत्ति ही न हो सकेगी। तभी तो आनंदवर्द्धन ने कहा—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्यकारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

यह औचित्य सामाजिक मूल्य ही है जिसे रससिद्धान्ती काव्येतर मूल्य कह दिया करते हैं—वस्तुत: यह पक्षपाती उदग्र दृष्टि की परिणति है। औचित्य या मूल्य वह तत्त्व है जो जीवन और काव्य के भेद को समाप्त करता है। वह काव्येतर होकर भी काव्य का है—यदि ठीक ढंग से सोचा जाए। निष्कर्ष यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र काव्यानुशासन, काव्य का रसात्मक प्रतिमान—सब-कुछ है, अर्थात् प्रतिमान भी, आस्वाद प्रक्रिया भी और साथ ही आस्वाद भी। निस्संदेह यह बड़ा ही समर्थ प्रतिमान है। वर्तमान जीवन और जगत् में उन

तमाम औचित्य-नियामक मूल्यों का विघटन चल रहा है जिन्हे रस-निष्पत्ति के लिए अनिवार्य समझा जाता है। इसलिए अनुरूप सामग्री की योजना ही सम्भव नहीं है। मनुष्य ने, उसके द्वारा निर्मित समाज ने अपनी सुदीर्घ यात्रा मे जिन मानवीय मूल्यों को अर्जित किया है वे टूट रहे हैं। मेरा विश्वास तो यह है कि वे टूट नहीं रहे है वरन् पुनः प्राणार्जन की आन्तरालिक प्रक्रिया मे हैं। यदि जीवन, जगत् और कविता मे कोई सर्जनात्मक शक्ति है तो उसकी सार्थकता, उसके अस्तित्व का प्रमाण इसी मे है कि सघटन और विघटन उभयविध प्रक्रिया मे निर्माण की ओर ही अग्रसर हों। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी प्रश्न किया है कि विद्रोह और सघर्ष किसके प्रति ? जिस डाली पर मानव और समाज बैठा हे, उसी के प्रति ?

जो भी हो, सवाल यह है कि जो प्रवृत्ति छायावाद के अनन्तर हिन्दी साहित्य मे अकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई है, उसको व्याख्यायित करने मे, उसके सौन्दर्य-परीक्षण मे, उसको समझने-समझाने मे भारतीय काव्यशास्त्र कहाँ तक समर्थ है ? सवाल इतना ही नहीं है बल्कि यह भी है कि भारतीय प्रतिमानों मे ऐसी सभावनाएँ भी हे क्या—जिन्हे छायावादोत्तर नई काव्यधारा को व्याख्यायित करने मे उपयुक्त किया जा सकता है ? 'भाषा और सवेदनाकार' ने तो स्पष्ट घोषणा कर दी है कि नई काव्यधारा के सौन्दर्य-विश्लेषण मे प्राचीन भारतीय प्रतिमान अक्षम हैं, उनमे अब ऐसी कोई सभावना भी नहीं शेष है जिसे नई काव्यधारा के सन्दर्भ मे उघाडा जा सके। भारतीय काव्य-शास्त्र से अपरिचित ऐसे तमाम काव्यचितक है जिनके उद्धरण इस सदर्भ मे प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

छायावादोत्तर काव्यप्रवृत्तियों और उसके आलोचको की बात तो विचारणीय है ही, एक समय था जब स्वच्छन्दतावादी या छायावाद के समीक्षक ही यह कहने लग गये थे कि काव्य के उस रूप के सौन्दर्य-परीक्षण मे पुरातन भारतीय प्रतिमान अपर्याप्त हो गये है। परन्तु ज्यो-ज्यो छायावादी आस्वाद और भारतीय प्रतिमान (रस-ध्वनि)नजदीक आते गये, त्यो-त्यो उनका अजनबीपन मिटता गया। एक तरफ आचार्य नन्ददुलारे वाजपयी 'भावनिरूपण के पद्धतिबद्ध रूप' को हेय बताते हुए भी युगोचित परिष्कार के साथ 'रस' को काव्य की निर्विवाद आत्मा घोषित करते है और दूसरी ओर प्रसाद जी 'छाया या प्रतीयमान' अर्थ को काव्य का सर्वस्व कहते हैं। उक्त स्थापनाओ द्वारा इन कवियो और आलोचको ने भारतीय प्रतिमानो मे निहित सभावनाओ

को देखा है और उसे छायावादी साहित्य के लिए भी उपयोगी माना है। स्वच्छन्दतावादी साहित्य के विषय में कतिपय चिन्तकों की यह धारणा भी थी कि इस साहित्य से अभिव्यक्त सौन्दर्य का संवेदन काव्यगत विषय से आगे बढ़कर कवि की अन्तरआत्मा के साक्षात्कार से संभव है (क्योंकि ये लोग सौन्दर्य को आत्मनिष्ठ मानते है) जबकि रस का ग्रहण काव्यगत विषय (विभावादि) से ही हो जाता है, अतः रसवादी प्रतिमान की बात फिर भी निरर्थक है। वस्तुतः यह आक्षेप रस के मध्यकालीन माध्यम-प्रधान अथवा ढाँचा-बद्ध विजडित रूप को ध्यान में रखकर किया गया है, न कि आनन्द-वर्द्धन और अभिनवगुप्त की मूल धारणा को समझकर। आनन्दवर्द्धन की रस विषयक धारणा पर्याप्त संभावनाओं से संवलित है। उन्होंने तो रस को ऐसी अनुकूल मनोवृत्ति या चित्तदशा माना है जो काव्यवर्णित वस्तु या स्थितियों से उत्पन्न होती है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि ग्राहक काव्य विषय का ग्रहण करता हुआ रसावेश मे कवि की प्रतिभा का भी साक्षात्कार कर लेता है। इसी प्रकार प्रगतिवादी भी पहले 'रस' से मुँह बिचकाते थे, किन्तु अन्ततः उन लोगों ने भी यह स्वीकार किया कि यदि रस को विजड़ित कर देने वाले जाल को हटा दिया जाय तो रसवादी सरणि उन लोगो के बहुत काम की है।

'नई कविता' के मर्मज्ञों ने इसकी मूल प्रेरक वृत्ति को गैर-रोमांटिक कहा और अपनी सर्जनात्मकता मे कविता को अपरिभाषेय माना। बताया यह भी कि 'कविता क्या है', यह समझने के लिए कविता क्या नही है, यह समझना होगा। इसी सन्दर्भ मे यह कहा गया कि **'कविता में भावावेग या रोमांटिक मनःस्थिति का होना अनिवार्य नहीं।'** छायावाद और प्रगतिवाद उभयत्र भावावेग की सस्थिति मानी गई—एक का अवलंबन प्रकृति या नारी और दूसरे का धुएँ में सना मजदूर। फलतः रसात्मक प्रतिमान या अनुभावन की समस्या वहाँ तक कोई समस्या नही थी। समस्या वहाँ से आरम्भ हुई जहाँ काव्य सम्बन्धी पुरानी धारणाओं—छन्द, भावावेग आदि—को निषिद्ध मानकर भी कविता या सर्जनात्मकता की चुनौती का निर्वाह किया जाने लगा, जहाँ सर्जनशीलता के नये आयाम उद्घाटित किये गये—इसे भाषिक सर्जनात्मकता कहा गया।

इस प्रकार 'नयी कविता' मे प्रायः समस्त पुरातन धारणाओं, कलात्मक उपकरणों तथा क्रमागत जीवन-मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह और प्रस्थान की बात इस आशा से की गई कि काव्योचित सर्जनात्मकता या नवता अंकुरित होने

योग्य भूमियाँ और भी है—उनकी ओर भी दृष्टिपात होना चाहिए। कहा तो यह भी गया है कि 'नयी काव्यधारा' में जिस अनुभूति ने अभिव्यक्ति पाई है उसकी बुनावट और बनावट अपनी गुणात्मक विशेषताओं मे भिन्न हो गई है और उसका कारण तेजी से होने वाले जीवनगत गुणात्मक परिवर्तन है। इस प्रकार ऊपर-ऊपर से विचार करने वालो ने यह स्थिर कर दिया है कि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र या उसके द्वारा निरूपित काव्य प्रतिमान जिस 'लक्ष्य' को सामने रखकर बने थे, वह लक्ष्य अब अपनी समस्त विशेषताओ के साथ निःशेष हो चुका है। आज का 'नया कवि' अथवा 'युवाकवि' जो कुछ दे रहा है, उसके लिए भारतीय प्रतिमानो मे कोई सम्भावना शेष नही है। आज सामान्य, समाहिति, सामंजस्य और संश्लेष की जगह विशेष, व्यक्ति, बिखराव, द्वन्द्व और खण्ड-खण्ड की स्थितियाँ हैं। इस स्थिति मे भारतीय काव्यशास्त्र को 'नयी काव्यधारा' के मूल्यांकन मे या तो निःशेष मान लिया जाए अथवा उसकी नई व्याख्या द्वारा शेष सम्भावना स्पष्ट की जाय।

इसके पूर्व कि उक्त दोनों विकल्पों मे से किसी एक की नयी काव्यधारा के सन्दर्भ में पुष्टि करें, एक बार पुनः देख लें कि ग्राह्य काव्य-धारा मे भाव या भावना, सामान्य या व्यापकता और सामञ्जस्य या सौन्दर्य की वृत्ति कही शेष है या नही। साथ ही यह भी देखें कि अस्ति और नास्ति पक्ष वाली रचनाओ मे किसे इस धारा की चरम उपलब्धि स्वीकार किया गया है? प्रतिमान का निकष चरम उपलब्धि की रचनाएँ ही मानी जानी चाहिए। उन्ही से प्रतिमान निकाले भी जाने चाहिए।

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने गैर-रोमाण्टिक काव्य की सम्भावनाओं पर विचार करते हुये कहा है कि कविता के लिए भावावेग अनिवार्य नही हैं। मतलब भावावेग निषिद्ध भी नही है। स्वयं अज्ञेय में भावावेग की स्थितियाँ मिलती है और इन स्थितियो मे उत्तम रचनाएँ भी आई है। साथ ही यह भी लक्षित करने की बात है कि भावगत आवेग का निषेध हुआ—सामान्य भावबोध का नही, ताकि अनाविष्ट दशा का यथार्थ भी अभिव्यक्ति पा सके। भावबोध या रागात्मकता की स्वीकृति के साथ-साथ इस बात पर बल अवश्य दिया कि उन्हे उभारने वाले जटिल-जटिलतर रागात्मक सम्बन्धों को अधिक प्रकाश मे लाया जाय। इसीलिए अज्ञेय प्रभृति लक्ष्यकारों का कहना है कि नई काव्यधारा मे राग की जगह रागात्मक सम्बन्धो ने महत्त्व पा लिया है। कविता इसीलिए आज पहले की तुलना में जटिल-जटिलतर हो रही है क्योंकि सम्बन्ध वैसे हो

गये है । पुरानी कविता जहाँ भीतर (भाव) से बाहर (रूप) की ओर आती थी, नयी कविता बाहर (जटिल सम्बन्धो) से भीतर (भाव) की ओर आ रही है । भोगे हुये जीवन से उपलब्ध राग या भाव को उसकी प्रामाणिक यथार्थता मे चित्रित करने के लिए यह प्रयत्न अवश्य हुआ है कि उसे न तो गलदश्रुभावुकता से रँगा जाय और न ओढ़ी हुई आइडियोलाजी से विकृत किया जाय । नई कविता की दिशा मे दिखाई पडने वाली कतिपय शिथिलताओ की प्रतिक्रिया मे युवा-कवि अपने आक्रोश और अनौपचारिक अभिव्यक्ति म आगे बढ़े और 'अकविता' या 'कवितांतर' तक पहुँच गये । दूसरी ओर नयी कविता मे जिस भावुकता या भावना का स्वर दबे-मुँदे ढग से रिस रहा था, नवगीत मे वह समस्त युगानुरूप कलात्मक उपकरणो के साथ अपना स्वतन्त्र प्रस्थान लेकर चला । नई कविता के भावात्मक और अ-भावात्मक प्रवृत्तियो के ये दो सीमान्तगामी शिखर है--इनके बीच अन्यान्य प्रवृत्तियो की हरी-भरी घाटियाँ भी है ।

युवालेखन के विषय में मर्मज्ञों की विविध धारणाएँ मिलती है । श्री ओमानन्द सारस्वत आदि की धारणा है कि युवालेखन मे कतिपय कृतियाँ या कृतिकार ऐसे है जिनमे काव्य या कवि का अन्वेष्य 'सहज' उभरता हुआ लक्षित हो रहा है । 'क्ष त्र ज्ञ' के सम्पादक को डर है कि समकालीन जीवन सन्दर्भो और केन्द्रीय स्थितियो से सीधे साक्षात्कार की चुनौती को अप्रासगिक करने पर युवालेखन कही सम्भावनाहीन एकरसता का शिकार न हो जाय । उनकी धारणा यह है कि आक्रोश और विद्रोह का बेमानीपन अब स्वत-सिद्ध हो चुका है, चूँकि किसी ठोस बुनियादी चिन्तन के अभाव मे नाराज भगिमाओ की कोई तर्क-सगति नहीं है ।

इस प्रकार नई काव्य-प्रवृत्ति मे युवालेखन की अभी इतनी समीपी प्रवृत्ति है कि उसकी वयस्कता परीक्षणीय है । इसकी ऊँचाई, गहराई तथा प्रसार और व्यापकता अभी कोई सुस्थिर रूप नही ग्रहण कर सके है । फलत: न तो इस पर कोई प्रतिमान लागू किया जा सकता है और न इससे कोई प्रतिमान गढ़ा जा सकता है । दूसरी बात यह है कि उस विद्रोह और विरोध मे सभावनाहीन एकरसता का भय होता है, जिसके मूल में किसी मूल्य के प्रति आस्था नही है । ऐसा आस्थाहीन संघर्ष क्षयी और शुष्क हो जाता है । जहाँ मूल्यान्वेषण का बीज भाव नही है, वहाँ का विद्रोह और संघर्ष सर्जनात्मक नहीं वरन् अराजक और विध्वंसक होता है । एक तरफ़ भारत के सामूहिक

मन में व्यवसायी युग द्वारा दमित मूल्य-प्राण, जातीय मनोवृत्ति का बाहर आने के लिए द्वन्द्व और संघर्ष तथा दूसरी ओर व्यवसायी और अवसरवादी बलवती शक्तियों से पराजित—फलतः आचार ग्रहण करने में असमर्थ—इस दलदल का युवालेखन अजीब फाँसी भोग रहा है। इस संघर्ष का सर्वाधिक प्राणवत्ता में भोग निराला और मुक्तिबोध ने किया था—उनकी रचना ही इसकी साक्षी है। इसीलिए नई काव्य-प्रवृत्तियों के मर्मज्ञों का निर्णय है कि मुक्तिबोध और उनकी रचनाएँ नई काव्यधारा की चरम उपलब्धि है।

क्या ही अच्छा हो कि इसी चरम उपलब्धि को केन्द्र में रखकर भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रतिमानों की परीक्षा की जाय और देखा जाय कि वे अपने पूर्व-व्याख्यात रूप में ही यहाँ लागू हो सकते हैं अथवा नई व्याख्या के साथ? निराला से लेकर मुक्तिबोध तक 'राम की शक्ति पूजा', 'असाध्य वीणा' एवं 'आशंका के द्वीप : अँधेरे में' अथवा 'ब्रह्मराक्षस' को विभिन्न रुचियों के लोगों ने एकमत से कविता और उत्कृष्ट कविता कहा है। विचारणीय है कि इन्हें कविता या उत्कृष्ट कविता कहने का आधार क्या माना गया है? क्या इसलिए कि इनमें घुटन, त्रास, खंड, वैयक्तिकता, असौन्दर्य, असामंजस्य, असमाहिति, द्वन्द्व, बौद्धिकता, निर्मूल्य विद्रोह, संघर्ष और रूक्षता है? या कोई उनसे बड़ी चीज है? क्या ये रचनाएँ इसलिए उत्कृष्ट हैं कि इनमें कोई आकर्षण नहीं है—एक बार पढ़ने पर ये बासी लगने लगती हैं? क्या है इन रचनाओं में जो इन्हें निरन्तर नवता और ताजगी दे रहा है—विभिन्न भूमिकाओं के लोगों को एक राह पर चला रहा है?

काव्य के सम्बन्ध में विचार करने वाला प्रत्येक आलोचक इस बात से सहमत है कि काव्य और अनुभूति (या संवेदना) का सहज तथा अविच्छेद्य सम्बन्ध है। बहस और विवाद केवल इस बात पर है कि आज काव्य में अनुभूति और संवेदना का अनुपात क्या है? उसका नियोजन किस स्तर पर है? साथ ही उसकी बुनावट और बनावट कैसी है? विचारणीय यह है कि 'नई कविता' और 'युवाकविता' की केन्द्रीय वृत्ति क्या है—संवेदना या ज्ञान? यहाँ 'संवेदना' और 'अनुभूति' की चर्चा विशेषतः इसलिए की जा रही है कि 'रस' से उसका सीधा सम्बन्ध है। संवेदना और अनुभूति पहले भी काव्य में महत्त्वपूर्ण थी और आज भी, अन्तर यह आ गया है कि जहाँ पहले रूप और व्यापार की योजना संवेदना, अनुभूति, राग या भाव से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती थी, आज वे सम्बन्ध जटिल-जटिलतर हो गये हैं। इसीलिए जो (राग) वस्तु

काव्य में सदा से अविशेष नही है, वह तो अविशेष है ही, पर युगीन प्रभाव के रूप में आज महत्त्व पा गये है—ये जटिलतर रागात्मक सम्बन्ध। अद्यतन कविता मे 'अनुभूति' के स्वरूप पर विचार करते हुए भी श्री विजयदेव नारायण साही एवं डॉ० नामवर सिंह तो उसे हीरे की संरचना से उपमित करते है—जहाँ संरचना ही संरचना है और कुछ है ही नही। यदि आज की उत्कृष्ट कविता में अनुभूति ही निखालिस है—किसी अन्य विजातीय द्रव्य का वहाँ मिश्रण ही नही है—तब तो 'रस' (अनुभूतिमात्र) के विपक्ष मे कुछ कहने को मिलता ही नहीं। यदि 'अनुभूति' के स्वरूप के विषय मे ही कोई गहरा मतभेद हो तो उसे स्पष्ट उभरकर आना चाहिए। जिस प्रकार 'रस' का विरोध करते हुए उसकी स्वीकृति मे अर्थवाद (व्याख्या) की अपेक्षा शर्त के रूप मे प्रस्तुत की जाती है, वैसे ही मेरी भी जिज्ञासा है कि ये नव्य समीक्षक जिस 'अनुभूति' की बुनावट को हीरे की संरचना से उपमित करते हैं उसका भी विवरण और समन्वय व्याख्या के आधार पर दें, तभी बात आगे बढ़ सकती है।

जब डॉ० नामवर सिंह उत्कृष्ट काव्य के प्रतिमान के रूप मे अर्थवान् शब्द के माध्यम से आवयविक अखण्डता की बात करते है, मुक्तिबोध ज्ञानात्मक संवेदना और सवेदनात्मक ज्ञान की चर्चा चलाते हैं, ध्वनियो और चित्रो के साथ संवेदना प्रभाव के संवाद और आनुरूप्य पर बल देते है, गिरिजाकुमार माथुर सवेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति को काव्य कहते है, काव्य के संदर्भ मे भावपक्ष, बिम्बपक्ष और नादपक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रत्यभिज्ञा को महत्त्व देते है, जब जगदीश गुप्त अनुभूति और अभिव्यक्ति की सच्चाई को ही काव्योचित 'नवता' का मूलमन्त्र कहते है, जब 'अज्ञेय' सर्जनात्मक शक्ति के अस्तित्व की पहचान एकागिता की सभावना के निःशेष होने मे स्वीकार करते हैं, जब पत आदि छायावादी झकार मे चित्र और चित्र मे झकार की समरसता को काव्य का निकष मानते है, तब सुदूरवर्ती भारतीय आचार्य—कुतक, अभिनवगुप्त और आन्दवर्द्धन—का यह उद्घोष कि अलकार और अलंकार्य की तात्त्विक भूमि पर अखण्डता, काव्योचित उपकरणों की परिवृत्त्यसहता, काव्य की सहज स्फूर्ति भी हमे निराश नही करते। अन्दर प्रविष्ट होकर सहानुभूति के साथ देखने पर ये सारे-के-सारे प्रतिमान काव्य के समस्त उपकरणो मे एक सहजता की माँग पर केन्द्रित जान पड़ते है। भेद प्रतिमान की मूल वृत्ति मे नही है—युगोचित काव्यकृतियो के अनुरूप उनसे निर्गत उपरूपों मे है। ये उपरूप जड़ और विकृत हो सकते है—इन्ही को मूल वृत्ति

मानकर एक-दूसरे का खण्डन हो सकता है, पर यह सब स्वयं का अज्ञान है जो खाने खींचता है और कलह करवाता है। संदर्भ-सापेक्ष प्रतिमान भी प्रतिमान है, पर देखना यह है कि संदर्भ-सापेक्ष रश्मियों के विकरण की क्षमता प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में है या नहीं। यदि नहीं तो नई व्याख्या की बात ही व्यर्थ है और हाँ तो अभी तो वे सम्भावनाएँ ही युगोचित रंगों से व्यक्त हो सकती हैं—नई व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि उन प्रतिमानों की मूलवृत्ति को परखा जाय और उसे सामयिक काव्य पर लागू किया जाय—उसके उपरूप निर्मित किये जाएँ।

भारतीय काव्यशास्त्र या कोई काव्यशास्त्र आलोचक का बौद्धिक प्रयास है—बुद्धि द्वारा ऐसे प्रतिमान का निर्माण है जो यथासम्भव काव्य के सौन्दर्य को अपरिणत प्रज्ञ जन तक भी पहुँचा दे। यदि सर्जनात्मक शक्ति बुद्धि से परे कोई क्षमता है तो बौद्धिक ढाँचों में काव्य का बहुत कुछ आ जाने पर भी कुछ शेष रह ही जाएगा, इसीलिए इस भूमि तक पहुँचकर जो लोग मूल्यांकन, मानदण्ड और प्रतिमान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाना चाहते हैं, वे गलत नहीं हैं। बुद्धि और सर्जनात्मक अनुभूति इन द्विविध शक्तियों का अर्धनारीश्वर मनुष्य एक तरफ अपने अथाह आत्माभिव्यंजन से स्वभावानुसार संतोष पाता है तो दूसरी ओर उसको बौद्धिक ढाँचों या खानों में बाँधने के प्रयास में भी; दोनों ही उसका स्वभाव है। तत्त्वतः जो भी सही हो, स्वभावतः दोनों चलते रहेंगे। अन्ततः प्रतिमान भी अपनी अखण्डता में उसी सहज और अथाह की ओर संकेत करके अपनी सीमा स्पष्ट करते हैं।

अभिप्राय यह कि बौद्धिक वैभव के प्रदर्शन का मानवीय स्वभाव शास्त्र-निर्माण की प्रेरणा देता है। काव्यशास्त्र का निर्माण करते हुये बुद्धि ने पहला खाना खींचा कथ्य और कथन सरणि का, वर्ण्य और वर्णना का। काव्य इन दोनों की अखण्ड स्थिति है, फिर भी महत्त्व इसी वर्ण्य (अनुभूति) को दिया गया और कभी 'वर्णना' को। (संकल्पात्मक अनुभूति ही काव्य है, 'वर्णनाकाव्य-मुच्यते')। 'वर्णनाकाव्यमुच्यते' की वर्तमान प्रतिध्वनि 'भाषिक सर्जनात्मकता' है। आनन्दवर्द्धन ने भी ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में दो ऐसे उदाहरणों को लेकर जिनमें वर्ण्य एक है, फिर भी 'नवता' काव्य की आत्मा को लेकर, पूर्व पक्ष के रूप में उसका भार 'उक्ति वैचित्र्य' पर मढ़ा है। बाद में विचार किया है—"किमिदमुक्तिवैचित्र्यम् ? उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादिवचनम्। तद्वैचित्र्ये कथं न वाच्यवैचित्र्यम्। वाच्यवाचकयोरविनाभावेन प्रवृत्तेः, वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूप तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयये, तेनोक्तिवैचित्र्यवादिना

वाच्य-वैचित्र्यमनिच्छताप्यवश्यमेवाभ्युगन्तव्यम्" अर्थात् यह उक्तिगत काव्योचित 'नवता' (भाषिक सर्जनात्मकता) है क्या ? उक्ति वही न जो वाच्यविशेष का प्रतिपादन करने वाली वाणी होती है ? तो फिर उक्तिवैचित्र्य का मतलब वाच्यवैचित्र्य नहीं है ? क्या कभी वाच्यनिरपेक्ष वाचक की और वाचक-निरपेक्ष वाच्य की कल्पना सम्भव है ? एक-दूसरे का प्रयोग तो परस्पर सापेक्ष ही होता है। काव्य में वाच्य वस्तु और व्यापार जब बिंबात्मक रूप में ग्राहक की प्रतिभा पर प्रतिबिम्बित होते हैं तब वैयक्तिक विशेषता को साथ लिये हुये। निष्कर्ष यह कि उक्तिवैचित्र्य या भाषिक सर्जनात्मकता की बात करने वाले को चाहे अनचाहे वाच्यवैचित्र्य या वाच्यगत काव्योचित नवता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। सारांश यह कि सर्जना शक्तिजन्य काव्योचित 'नवता' काव्य के समूचे रूप में सम्बद्ध है—उसे काटकर देखना संगत नहीं है।

भारतीय काव्यशास्त्र या काव्य-प्रतिमान की बात करते हुये कहा यह जा रहा था कि बुद्धि कतिपय कल्पित खण्डों को लेकर विश्लेषणार्थ अग्रसर होती है। सर्जनात्मक अनुभूति अपने-आप में आदि और अन्त से उसी प्रकार अखण्ड होती है जैसे धरती की क्षमता विशेषता (गन्ध) पुष्प के आदि और अन्त में (आदि में एक सर्जनात्मक शक्ति के रूप में और अन्त में सौन्दर्य या गंध के रूप में)। विश्लेषण के लिये इस मध्यवर्ती रूप को खण्ड-खण्ड कर दिया जाता है। काव्य भी अपने आदि रूप में एक सर्जनात्मक क्षमता है और मुक्तिबोध के शब्दों में अन्ततः एक संश्लिष्ट सौन्दर्यानुभव। वे इस सौन्दर्यानुभव को जीवनानुभव द्वारा प्रदत्त मानते हैं। उन्होंने कहा है कि "संवेदनात्मक उद्देश्य विधायक कल्पना की क्रिया को चलित करते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार जीवनानुभवों के तत्त्व कल्पना के संघटन विधानकारी हाथों में निराले और तरह-तरह के रूपों में प्रकट होते हैं। इस प्रकार जीवनानुभवों के तरह-तरह के पैटर्न कल्पना तैयार करती है, किन्तु उसकी क्रिया संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुशासन में रहती है। उनके अनुसार इस पूरी प्रक्रिया में सौन्दर्यानुभव तब घटित होता है जब मन पटल पर विविध कल्पनाओं, रूपों में डूबकर मन साधारण जीवन की अपनी निजबद्धता का परित्याग कर देता है······संक्षेप में तन्मयता और तटस्थता-निजबद्धता से मनःपटल पर अंकित बिंबों में अपने स्वयं की व्यस्तता-संलग्नता—इन दो द्वन्द्वों की एक मनोदशात्मक परिणति ही सौन्दर्यानुभव है।···इसीलिये सौन्दर्यानुभव जीवन के सारस्वरूप का प्रगाढ़, मार्मिक अनुभव है।" मुक्तिबोध को इतना लम्बा सोद्देश्य उद्धरित किया गया है।

भारतीय काव्यशास्त्र ने भी एक मनोदशात्मक परिणति विशेष (चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः न च तदस्ति वस्तु किंचिद्यन्न चित्तवृत्तिविशेष-मुपजनयति, तदनुत्पादने वा कवि-विषयतैव तस्य न स्यात्) को ही काव्य का लक्ष्य कहा है। अन्तर वहाँ आ गया है जहाँ युगोचित रूप, व्यापार और मानवीय सम्बन्ध बदल गये हैं—अन्तर सामग्री का है। इसी सामग्री को कथ्य और कथन में बाँटकर भारतीय काव्यशास्त्र ने जिन प्रतिमानों (वस्तुपरक रस सिद्धान्त कलापरक अलंकार, रीति, वक्रोक्ति) की चर्चा की थी 'ध्वनिसिद्धान्त' ने सबको आत्मसात् कर एक स्वस्थ रूप दिया। ध्वनिसिद्धान्त अपनी समग्रता में एक सशक्त काव्य प्रतिमान है और खण्डता में वस्तुसिद्धान्त (रस ध्वनि) और कलासिद्धान्त (वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि)। इसीलिये ध्वन्यालोककार ने कहा है कि अभ्यास काल, पुनः प्राणार्जन काल या सक्रान्तिकाल में कविता चाहे जैसी हो किन्तु "परिणतपरिणतीनां तु ध्वनिरेवकाव्यमितिनिश्चितमेतत्" अर्थात् अभ्यासार्थियों के काव्य को आप चाहे जो कहें—पर परिणतावस्था में तो जो काव्य होता है, वह 'ध्वनि' ही है—ध्वनिकाव्य ही है।

ऊपर जिन तीन आधुनिक उत्कृष्ट रचनाओं की बात कही गई है उस पर भारतीय काव्यशास्त्र अर्थात् ध्वन्यात्मक प्रतिमान पूरे तौर पर लागू होता है। कविता वही उत्कृष्ट होती है जो अभिव्यक्तिगत सहजता से हर समय के लोगों के संवेदना तंतुओं को स्पंदित कर सके (जिनके तंतु मर चुके हों उनकी बात अलग है) अथवा हर युग के अनुरूप, प्रत्येक परिवेश के अनुरूप व्याख्या की संभावनाएँ अपने भीतर रखे। इन तीनों परिणत कविताओं में ये दोनों शर्तें मिलती हैं जो ध्वन्यात्मक प्रतिमान में निहित हैं। ध्वन्यालोककार ने ही कहा है कि महाकवि वह है जिसके शब्दों की झंकार हर युग वाले को अनुरूप सुनाई दे और पुनः-पुनः तन्मयकारिता पैदा कर सके। 'निराला' की 'राम की शक्ति पूजा', 'अज्ञेय' की 'असाध्य वीणा' और मुक्तिबोध की 'ब्रह्म राक्षस' या 'आशंका के द्वीप अँधेरे में'—इन सबमें दोनों बातें लागू होती हैं। 'राम की शक्ति पूजा' में राम के साथ तादात्म्य अनुभव करता हुआ पाठक बार-बार करुणा से भर उठता है। राम के आँसू के साथ-साथ पाठक के आँसू ढुलक पड़ते हैं। 'ब्रह्मराक्षस' में कुबेरनाथ राय ने रसबोधक तत्त्वों का अस्तित्व देखा है जिनके कारण उन्हें (या किसी को) मुक्तिबोध की रचनाएँ बासी नहीं लगतीं। 'असाध्य वीणा' में भी कोई ऐसी चीज है जो उसे कोरी दार्शनिक स्थापना होने से बचाती है। व्यक्तित्व विलयन अथवा समर्पण जो रस सिद्धान्त की एक शर्त है—वह 'असाध्य वीणा' की रीढ़ है। निष्कर्ष यह कि जहाँ एक ओर इन

विताओं में मानवीय संवेदन तंतुओं को स्पंदित कर अपने को निरन्तर ताजी बनाये रखने की क्षमता है, वहाँ बदलते हुए परिवेशों के अनुरूप नई 'वस्तु' झंकृत करने की भी क्षमता है। 'राम की शक्ति पूजा' में निराला का वैयक्तिक जीवन-संघर्ष तात्कालिक स्वातंत्र्य संग्राम में विदेशी आसुरी शक्ति के समक्ष नैतिक शक्ति से जूझते हुए गाँधी, मानस जगत् में निरन्तर चल रहे आसुरी और मानवी शक्ति का द्वन्द्व और संकल्प की अंततः विजय अथवा सार्वभौम भूमिका पर चल रहे निरन्तर सत् और असत् का संघर्ष—कुछ भी बदलते परिवेशों के अनुरूप वस्तुध्वनि निकाली जा सकती है। इसी प्रकार 'असाध्यवीणा' ने भी काव्यात्मक सर्जना के माध्यम से शाश्वत विराट् सर्जना की रहस्यमयी प्रक्रिया का संकेत अंकन है। 'ब्रह्मराक्षस' में एक शाश्वत सत्य तो यही है जो सदा-सदा के लिए मनोविज्ञान-सिद्ध उभर सकता है कि जातीय दमित वृत्तियाँ दोहरी यातना भोगती हैं—एक तरफ़ अकालग्रस्त जातीय सात्विक वृत्तियों का भारतीय ब्रह्मराक्षस मन की बावली में निवास करता है और दूसरी ओर उसके बाहर आती आवाजें साम्प्रतिक व्यवसायवादी वृत्ति से दबा दी जाती है। इस वस्तु ध्वनि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की ध्वनियाँ भी यहाँ संभावित है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वस्तुपक्ष और कलापक्ष—दोनों को आत्मसात् करता हुआ तात्विक भूमिका का संकेतक ध्वनिसिद्धान्त भी अपने मूलरूप में ज्यों-का-त्यों प्रतिमान के रूप में ग्राह्य है। हाँ, तात्कालिक लक्ष्यों को देखकर जो खाने और ढाँचे तात्कालिक विवेचकों ने अवान्तर उपभेद के रूप में कहे हैं—उन्हें यथासंभव मानकर या लाँघकर नये उपरूपों की रचना का दायित्व आज के स्वस्थ समीक्षक पर है। अभिप्राय यह कि भारतीय साहित्य शास्त्र की मूल वृत्ति तो आज भी यथावत् ग्राह्य है—उपरूप नए हो सकते है। काव्य में जिस अभिधा और लक्षणा की बात कही गई है—उन्हें व्यंजनामुखी कर दिया गया है और व्यंजना के ग्रहण की सामर्थ्य अंततः प्रतिभा पर छोड़कर उसकी संभावनाओं का द्वार उन्मुक्त रखा गया है। कहा है—

"...प्रतिभाजुषाम् योऽन्योर्थो व्यज्यते यत्र व्यापारो ध्वनिरेव सा।"

भारतीय काव्यशास्त्र ने 'प्रतिभा' को अनन्त सिद्ध करने के लिए ही ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना कर रखी है। कहा जाता है कि गैर-रोमांटिक 'नई कविता' अथवा 'युवालेखन' का मूल्यांकन छायावादी छद्म संस्कारों से मुक्त समझदार ही कर सकते है। ऐसे छद्म संस्कारों से आक्रान्त भावुक सहृदय नई

कविता का मूल्यांकन नहीं, अवमूल्यन कर बैठते है। ऐसे लोगों को छायावादी रोमानियत और सौन्दर्यबोध तथा आइडियालाजी के अवशेष ही आकृष्ट करते है, नई धारा के प्रासाद नहीं। इसीलिए मैंने प्रतिमानों पर विचार करने के लिए कविता (चरम उपलब्धि) चुनी है---छायावादी या किसी वाद से आक्रान्त रचना नहीं।

[२]

वर्तमान संदर्भ मे न केवल साहित्य की सर्जनात्मक विधाओ के ही पूर्व 'नया' या 'नई' विशेषण जोड़ देने की पद्धति परिलक्षित होती है–अपितु 'समीक्षा' के पूर्व भी वह विशेषण जोड़ा जाने लगा है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी 'नयी समीक्षा' कहने की जगह 'समीक्षा का वर्तमान स्वरूप' कहना चाहते हे। ऐसा कह कर दोनों ही पुराने अथवा अतीत से नए अथवा वर्तमान की विशेषता उसकी रचनात्मकता मे इंगित करना चाहते है। इस चिन्तक परम्परा मे मेरा यह कहना है कि उक्त विशेषणों द्वारा जिसकी ओर संकेत किया गया है, वह समीक्षा की स्वरूपगत विशेषता है। अतः 'समीक्षा' संज्ञा मे ही इतनी शक्ति या सामर्थ्य है कि वह अभीष्ट (नये चिन्तकों को अभीष्ट) रचनात्मक अर्थ स्वयं प्रदान कर सकती है–विशेषण की अपेक्षा उसे नहीं है। प्रवाह मे कभी-कभी यह अवश्य होता है कि संज्ञा अपनी विशेषताएँ खो देती है, अतः स्वरूपगत खोई हुई विशेषता का बोध कराने के लिए भी विशेषण का प्रयोग सार्थक माना जाता है। अभिप्राय यह कि विशेषण परिस्थिति विशेष में स्वरूपगत विशेषता का भी बोध कराने के लिए प्रयुक्त किए जाते है, पर उनकी अधिकांश सार्थकता आगन्तुक विशेषता के बोध मे ही मानी जाती है।

प्रस्तुत सन्दर्भ मे जहाँ तक समीक्षा के स्वरूप का सम्बन्ध है, मै यह उचित मानता हूँ कि सर्जना की भाँति समीक्षा को भी एक अविच्छिन्न प्रवहमान धारा के रूप मे लेना चाहिए, उसमें विभिन्न विशेषण जोड़ कर मूल रूप से उसे विच्छिन्न नहीं करना चाहिए, परम्परा से उसे पृथक् नहीं करना चाहिए। गत्यात्मक अथवा रचनात्मक प्रकृति की सक्रियतावश उभरने वाली विशेषताएँ किसी काल विशेष मे ही बँधी नहीं हैं, काल प्रवाह मे प्रवहमान प्रत्येक गत्यात्मक प्रकृति सवलित धर्मी मे सभावित है। फलतः उसे काल विशेष अथवा देश विशेष मे ही बाँध कर निर्दिष्ट करना ठीक नहीं है। उसे निर्विशेष 'समीक्षा' ही रहने देना चाहिए।

व्युत्पत्तिमूलक अर्थ (सम्यक् ईक्षा अथवा बुद्धि पूर्वक भलीभाँति परखना) की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि समीक्षा की विशेषता आलोच्य कृति के दोष एव गुणो के समुद्घाटन मे है। दोष-गुण, खरा-खोटा, अच्छा-बुरा, प्रशस्त-अप्रशस्त भाव का सकेत या निर्णय देने के लिए किसी प्रतिमान की आवश्कता होगी। प्रतिमान प्रतिमेय या मेय के बाद ही बनते हैं, क्योकि वह उसके लिए है। प्रतिमान मेय या लक्ष्य के अनुरूप उसी को सामने रख कर निकाले जाते है। समस्या यह खड़ी होती है कि प्रतिमान जिस कृति को सामने रख कर तैयार किए जाते हैं, उससे भिन्न पर उन्हे लागू करना क्या पूर्व-ग्रह नही है ? नये चिन्तको का यही तो आक्षेप है कि सर्जना सदा नई प्रसूति है, 'नव' की रचना करनी है और 'नव' अपने मान के लिए अपने भीतर से अपना (नया) प्रतिमान पैदा करती है। प्रतिभा की हर सच्ची प्रसूति अपने अनुरूप प्रतिमान अपने भीतर से निर्मित करती है। अन्य पूर्ववर्ती कृतियो के अनुरूप निर्मित प्रतिमान या सौंदर्य–नियम से दूसरी 'नव' रचना का शासन या नियम रचनात्मकता का या तो प्रतिबधक हो जायगा अथवा प्रतिमान मे अक्षम और अपर्याप्ति। नये चिन्तकों का यह कहना है कि नियमानुधावी एव स्वतत्र की सूझबूझ से हीन समीक्षक समीक्षा को जड़ीभूत कर देते है—उसकी गतिमयता को नि शेष कर देते है। इसलिये वे निर्णयात्मक समीक्षा को सच्ची और रचनात्मक समीक्षा कहने मे असहमति व्यक्त करते है और व्याख्यात्मक समीक्षा को पुष्कल ठहराते है।

वस्तुत: समीक्षा की वास्तविक स्थिति और विशेषता—जिसकी सम्भावना व्याख्यात्मक समीक्षा मे की जाती है—का सकेत प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र मे भी मिलता है। फलत. इसे कोई सर्वथा नवीन उद्भावना नही समझनी चाहिए। अभिनव गुप्त अथवा आनन्दवर्द्धन ने किसी न किसी प्रकार रसवत्ता का. आत्मा की भाँति व्यापक अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी सर्वत्र उसी को प्रतिमान मानने की बात का विरोध किया है। उन्होने उसमे नायक को रसांध कहा है—जिसने हर कृति की व्याख्या रस को ही केन्द्र मे रख कर की या करनी चाही है। उनका कहना है कि हर सच्चे समीक्षक को चाहिए कि वह यथासम्भव सहानुभूतिपूर्वक रचना के अध्ययन तथा आस्वाद के माध्यम से रचनाकार के साथ तादात्म्यापन्न हो जाय। इसी स्थिति मे समीक्षक रचना की मूलवर्तिनी मन:स्थिति सौंदर्य की केन्द्रीय वृत्ति और उसको काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने मे उपयोगी उपकरणो की तारतमित स्थिति—इन सबका साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार मूलवृत्ति तथा अभिव्यक्ति के समस्त उपकरणो और उनसे सम्बद्ध सर्जना-प्रक्रिया——सबका

समग्रता में साक्षात्कार कर समीक्षक पुन. सर्जना करता है। जहाँ रचनाकार की मानस प्रक्रिया का साक्षात्कार करने के लिए समीक्षक को तादात्म्य की भूमिका यथासम्भव निबाहनी पड़ती है वही समीक्षात्मक पुनःसर्जना के यथासम्भव अनासक्त उपस्थापन में ताटस्थ्य की भी वर्णिका ग्रहण करनी पड़ती है। यह एक सच्चे समीक्षक की अद्‌भुत सामर्थ्य है कि वह तादात्म्य और ताटस्थ्य की परस्पर विरोधी स्थितियों में रह सकता है। इस प्रकार की समीक्षा व्याख्यात्मक समीक्षा है, और इसमें किसी पूर्व निर्धारित प्रतिमान से खरा-खोटा का निर्णय नहीं होना, प्रत्युत जो है उसे अनावृत कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया से समीक्षा में जड़ीभाव की स्थिति नहीं आती और उसकी रचनात्मकता बनी रहती है।

समीक्षा की (जड़ता विरोधी) रचनात्मकता तो निर्विवाद मान्य है, परन्तु उस रचनात्मकता का स्वरूप क्या है ? विचारणीय यह भी है। सर्जनात्मक (Creative) कृतियों के मूल में रहने वाली रचनात्मकता से आलोचनात्मक (Critical) कृतियों में रहने वाली रचनात्मकता किस प्रकार भिन्न है ? कारण, रचनात्मकता संश्लेष है, अतः एक दूसरा कैसे हो सकता है ? क्या समीक्षा अर्थात् विश्लेष को रचना अर्थात् संश्लेष कहना परस्पर विरुद्ध नहीं है ? तब क्या समीक्षा को रचनात्मक न माना जाय, जड़ कहा जाय ? किया क्या जाय यह भी एक समस्या है।

इस समस्या का मेरी समझ में समाधान यह है कि रचनात्मकता आलोचनात्मक (Critical) कृतियों में जहाँ संश्लेष पर आधारित है, वहाँ ऐसी कृतियों में रचनात्मकता रचनाकार की 'दृष्टि' सम्पन्नता से आती है। यदि समीक्षक सूझ-बूझ का है तो उसकी समीक्षा जड नहीं हो सकती। आचार्य शुक्ल की 'दृष्टि' प्रख्यात है, अत उन्होंने हिन्दी समीक्षा को बँधे हुए प्रतिमानों से हटाकर नया रूप प्रदान किया। यह बात दूसरी है कि उनकी 'दृष्टि' ने रुचि-भिन्न साहित्य को उसका प्राप्य नहीं दिया, साथ ही युगानुरूप निर्मित होती हुई कृतियों के प्रतिरूप अथवा अनुरूप होता गया और अततः अपनी सर्जनात्मकता खो दी। पर इससे यह निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा कि Critical कृतियों की रचनात्मकता के लिए यह अनावश्यक है। बात यह है 'दृष्टि' सूझबूझ या बुद्धि ही है। सर्जनात्मक शक्ति में निहित सौंदर्य की अभिव्यक्ति के अनुरूप बुद्धि व्यवस्था का ढाँचा खडा कर देती है, जो वृत्त बन कर सर्जनात्मक शक्ति को घेरे रहती है। सर्जना जब उस वृत्त को अपने अनुरूप नहीं पाती, तो तोड़कर

आगे बढती है। बुद्धि वृत्त बनाती है और सर्जना सीधी बढती है। बौद्धिक व्यवस्था सर्जनात्मक विकास के अनुरूप हो, तो वह ग्राह्य है और विरूप हो तो त्याज्य। निर्जीव तथाकथित व्यवस्था मे बँधना बुरा है, स्वस्थ व्यवस्था से होकर सर्जना का गुजरना बुरा नही है, वरन् वह तो होना ही चाहिए। व्यवस्था जड होती है और सर्जना गतिशील; यही कारण है कि सर्जको मे व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना लक्षित होती है। लेकिन यह भी सर्जना का अतिचार है कि वह स्वस्थ व्यवस्था का तिरस्कार करे। इस प्रकार इन तमाम बातो से प्रस्तुत सदर्भ मे निष्कर्ष यह है कि रचना या सर्जना की क्षमता या प्रकृति समीक्षा मे भी होती है; अन्तर इतना ही है कि सर्जनात्मक (Creative) कृतियो मे वह सश्लेष प्रधान है और समीक्षात्मक कृतियो मे 'दृष्टि' प्रधान। विश्लेष-मुखी समीक्षा के बुद्धि प्रधान होने से वहाँ विश्लेष ही सम्भव है। समीक्षा विश्लेषण ही है, सश्लिष्ट का सश्लेष नही।

इस पर से भी यह विचारणीय है कि फिर क्या Creative कृतियो के मूल मे 'दृष्टि' नही होती और Critical कृतियों मे सश्लेष की जगह विश्लेष या बिखराव ही होता है ? सश्लेष भावना पर आधारित है और विश्लेष बुद्धि पर; फलत क्या जहाँ सश्लेष है वहाँ भावना ही भावना है और जहाँ विश्लेष है, वहाँ बुद्धि ही बुद्धि है ?

वास्तव मे चाहे सर्जना अर्थात् Creative कृति हो या Critical, भावना और बुद्धि उभयत्र सक्रिय है। महादेवी की उन रचनाओ को लें, जहाँ दर्शन एव भावना के तानेबाने से कोई कविता बुनी हो, वहाँ व्याख्याकार यदि भावना को पकड कर स्वय भावनामय नही हो जाता, तो बुद्धि को ठीक दिशा नही मिलती। व्याख्याता जितना ही भाव-मग्न होता जाता है, बुद्धि भी उतनी ही तीव्र होती जाती है। घनानन्द की ऐसी तमाम रचनाएँ उद्धृत की जा सकती है जिनमे भावना और बुद्धि का सामजस्य है। भावना के तरल प्रवाह मे उससे अविच्छेद्य बुद्धि या दृष्टि सहज ही खुलने लगती है।

'श्रवण नयनमय नयन श्रवणमय आज हो रही कैसी उलझन ?' की व्याख्या केलिए यह आवश्यक है कि एक ओर समीक्षक प्रतीक्षारत नायिका की मानस दशा का सामर्थ्यवश साक्षात्कार करे और दूसरी ओर यह भी सोचे कि इस दशा का प्रभाव क्या होता है, कैसे हर इन्द्रिय में प्रिय के साक्षात्कार की प्रतिस्पर्द्धा जग जाती है। जिस समीक्षक की भावना इस स्थिति के साक्षात्कार

तक नहीं जग सकती, उसकी बुद्धि इन उक्तियों की संगति लगाने में असमर्थ होगी। इसी प्रकार कवयिता या सर्जक कलाकार भी काव्यात्मक सृष्टि के पूर्व उमड़ती हुई भावराशि को संगत आकार देने के लिए बुद्धि की सहायता लेता है। लोक व्यवहार की भूमिका की अनुभूति इतनी अदम्य वेग की होती है कि उसके पीछे विवेक का सूत्र उसे बाँध नहीं पाता। इसीलिए वर्ड्सवर्थ ने काव्य के अदम्य भावावेग को सर्जना के उपयुक्त तभी माना है जब वह शांति के क्षणों में पुनः व्यवस्थित रूप में स्मृत की जाती है। निष्कर्ष यह कि भावना और बुद्धि (Creative तथा Critical) उभयत्र सक्रिय है, पर घनानन्द के शब्दों में Creative कृति में 'रीझि सुजान सची पटरानी' होती है और 'बची बुधि बावरी ह्वै करि दासी'। क्रोचे भी अभिव्यंजना की प्रक्रिया में संवेदन, संयमन तथा अभिव्यंजन का स्तर मानता है। दार्शनिक भी सृष्टि के निमित्त मूल चेतना के उस स्तर को उपयोगी मानता है जहाँ वांछित सृष्टि के अनुरूप सामग्री ही व्यवस्थित ढंग से अभिव्यक्ति पाने के लिए उद्ग्रीव हो, शेष तह में दबी पड़ी हो। यही दबी-उभरी स्थिति विषमता या वैषम्य की स्थिति है, जो सर्जना मात्र के लिए उपयोगी है। यही कारण है कि शांकर वेदांतियों को ब्रह्म को 'ईश्वर' स्तर पर सृष्टि के निमित्त उतारना पड़ता है, वल्लभ मतानुयायियों को 'पुरुषोत्तम' नहीं 'अक्षरब्रह्म' से सृष्ट्यात्मक क्षरण की कल्पना करनी पड़ती है। अस्तु, कहना यहाँ यही है कि हर व्यक्ति जब कुछ संदर्भानुरूप कहना चाहता है, तो अतिरिक्त अन्य बातों को दबा कर प्रासंगिक सामग्री पर ही प्रातिभ किरणों को केन्द्रित कर देता है, उतना ही अंश प्रकाशित होता है, उसी की व्यवस्थित अभिव्यंजना आरम्भ हो जाती है, सृष्टि होने लगती है। रही बात यह कि सर्जना में भावना का प्राधान्य हो या बुद्धि का। ग़ैर-रोमण्टिक भाव-बोध की संभावनाओं को उजागर करने में व्यस्त नये रचनाकार भावना को हटाकर उसकी जगह बुद्धि को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, और बात यहाँ तक बढ़ जाती है कि 'बुद्धि' भी 'रस' बन जाती है। 'भाव-बोध', 'बुद्धि-रस' की संगति-असंगति पर हमें यहाँ कुछ सोचना-विचारना नहीं है, वह एक अतिरिक्त विषय है। यहाँ मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से इतना ही कहना चाहता हूँ कि क्रिया मात्र मनोवेग पर आधारित है, बुद्धि सहायक है मनोवेग को कार्य व्यापार में लिए केन्द्रित करने में। विचार चाहे जितने भी तीव्र, तीखे एवं स्थिर हों, मनोवेग के द्वारा ही हम व्यापार-अभिमुख हो सकेंगे। अतः सर्जनात्मक व्यापार के लिए भी मनोवेग का होना आवश्यक है। यह अवश्य है कि उसकी तह में कहीं बौद्धिकता गहरी होगी और कहीं

छिछली। पीठिका में सक्रिय रहने वाली बौद्धिकता रोमास को घटा देती है, गम्भीरता ला देती है, आप चाहे तो उसे गैर-रोमाण्टिक कह सकते है, कोई विशेष आपत्ति की बात नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि Creative कृति या सृष्टि में रहेगे बुद्धि और भावना या मनोवेग—दोनो ही, पर आगे रहेगी भावना और उसे हस्तावलम्ब देगी बुद्धि। भाव या मनोवेग के कारण सश्लेष संभव है, उस संश्लेष को व्यवस्थित करने में बुद्धि की उपयोगिता होगी।

उपर्युक्त तर्क के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि कृति भी एक व्यापार है और जब व्यापार मात्र के लिए मनोवेग या भावना अपेक्षित है तब समीक्षा के लिए भी अपेक्षित होगी और फिर इस स्थिति मे पुनः रचना और समीक्षा का अन्तर धुधला पड़ने लगता है, अर्थात् रचना और समीक्षा, दोनो के ही लिए मनोवेग और बुद्धि के कारण उभयत्र सश्लेष और विश्लेष की स्थिति होगी। इस गुत्थी को सुलझाने के लिए पुनः प्राधान्य की ही बात का सहारा लेना होगा।

समीक्षक कृति के समग्र अनुशीलन से प्रभावित होगा, क्योंकि प्रभावित ही न होगा तो कहने के लिए उन्मुख ही क्यो होगा ? जिस स्फुरणा को सर्जक कृति मे बाँधता है, समीक्षक जब तक उसे पकड़ नही लेता, तब तक कुछ कहने के लिए मुखर ही नही हो सकता। स्फुरणा का समीक्षक द्वारा साक्षात्कार ही उसका प्रभावित होना है, सवादी स्थिति में आना है, तभी कुछ कहने को मनोवेग प्रेरित करता है। स्फुरणा एव तज्जन्य मनोवेग समान रूप से सर्जक एव समीक्षक को मुखर करते है, पर सर्जक जहाँ बुद्धि का संश्लेष में उपयोग करता है, वहाँ समीक्षक कृति से गृहीत समग्र प्रभाव की विस्तृत कुक्षि मे सश्लिष्ट सर्जनात्मक कृति के प्रत्येक ताना-बाना को बुद्धि द्वारा इस प्रकार विश्लेषित करता है कि वह विश्लेषण भी समग्र प्रभाव को मूर्त करने में उत्तरोत्तर संश्लिष्ट होते जाते हैं, पाठक के लिए समीक्षा मूल प्रभाव को ग्रहण कराने मे साधक होती है। समीक्षा मे निश्चय ही बौद्धिक विश्लेषण की प्रक्रिया अपेक्षाकृत अधिक मुखर होती है, पर यह विश्लेषण तभी सार्थक है जब कि कृतिकार की मूल सवेदना और अधिक स्पष्ट एवं उद्ग्रीव होकर सामने आ जाय। यह सारा विश्लेषणात्मक व्यापार मूल प्रभाव या सवेदना की ओर केन्द्रित होता है, अतः किसी दृष्टि से यहाँ भी संश्लेष है, सर्जना है, रचनात्मकता है।

इस प्रसंग में एक अतिरिक्त प्रश्न यह खड़ा होता है कि मूल संवेदना (Sensibility) सर्जक और समीक्षक की एक ही होती है या भिन्न ? प्राचीन आचार्यों मे भट्ट तौत का कहना है 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः' मूल नायक, अनुकर्ता, कवि तथा गृहीता पाठक या समीक्षक की मूल संवेदनाएँ एक ही या अधिक से अधिक कहे तो समान ही होती है। सर्जक मूल सवेदना को मूर्त करता है और समीक्षक उसी मूल सवेदना को ग्रहण करता है और इस प्रकार उघाड़ कर रखता है कि सामान्य पाठक या श्रोता भी उस मूल संवेदना का साक्षात्कार कर ले।

यदि समीक्षक कृतिकार की मूल संवेदना को तटस्थ होकर विश्लेषण करता हुआ यथासंभव ज्यों का त्यों पाठक तक पहुँचा देता है तो कदाचित् वह अपने मध्यस्थ के कार्य मे ज्यादा सफल माना जाता है। लेकिन ऊपर समीक्षा की रचनात्मकता का स्पष्टीकरण देते हुये यह कहा जा चुका है कि तदर्थ समीक्षक का 'दृष्टि'-सम्पन्न होना आवश्यक होता है और यह दृष्टि उसकी अपनी होती है। अतः इस बात को यदि मान लिया जाय, तब यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रचयिता की मूल संवेदना, जिसमें उसकी निजी दृष्टि, जीवन-दर्शन तथा जीवनानुभव का रासायनिक मिश्रण है, से समीक्षक की मूल सवेदना, जो कृति के माध्यम से सम्भव है, एक भी है और भिन्न भी। एक इस माने मे कि समीक्षक कृति द्वारा कृतिकार की मूल सवेदना का साक्षात्कार न कर सका, उसको अपना न बना सका, तो उसका कार्य समीक्षण ही न हो सकेगा। भिन्न इस माने में कि समीक्ष्य कृति की मूल सवेदना (कवि की जीवनदृष्टि) समीक्षक की 'दृष्टि' से रंजित हो जाती है, तब मूल संवेदना-दृष्टि (समीक्षक), मिलकर अपनी समग्रता में भिन्न हो जाती है। इस प्रकार एक नई समस्या यह खडी होती है कि यदि समीक्षक 'दृष्टि' सम्पन्न नही है तो उसकी समीक्षा रचनात्मक न होगी, जिसका होना आवश्यक है और 'दृष्टि'-सम्पन्न है तो तटस्थतापूर्वक निबाही जाने वाली समीक्षक की अपनी जिम्मेदारी पूरी नही होगी। सर्जना और समीक्षा, सृष्टि और आलोचना मे प्रायः यह अंतर माना जाता है कि पहले मे रचयिता अपना व्यक्तित्व भी प्रक्षिप्त करता है, सृष्टि में स्रष्टा की छाप होती है, समीक्षा मे अनासक्ति और तटस्थतावश वह सब न होना चाहिए। निबध बौद्धिक होता हुआ भी 'दृष्टि'-मूलक होने के कारण एक सृष्टि है, रचना है, Creative विधा है, आलोचना में उसकी अपेक्षा अधिक तटस्थता की माँग है। यदि तटस्थता विगलित हो जाय, तो समीक्षक 'कृति-'परक वक्तव्य न देकर आत्मपरक देने लगता है और ऐसी समीक्षा ——— न होकर अपना वांछित स्त

खो देती है। इस उलझन की स्थिति मे मैं इतना ही कह सकता हूँ कि सर्वाधिक तटस्थता तो यान्त्रिक ही हो सकती है। उसकी अपेक्षा कम तटस्थता पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष की शृखला अथवा केवल परीक्षण-प्रयोगात्मक निष्कर्ष की विश्लेषण-मुखी तार्किक शृखला मे बधी हुई शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक निबन्धों मे हो सकती है। आलोचक की तटस्थता एक तरफ़ निबन्धकार की बौद्धिकता के साथ-साथ अपनी अपेक्षाकृत अधिक तटस्थता मे उल्लेख्य है तो दूसरी ओर यान्त्रिक तथा शुद्ध तार्किक निबन्धो की तुलना मे अपेक्षाकृत कम तटस्थता मे। समीक्षक या आलोचक की तटस्थता इसी मात्रा की हो सकती है, निरपेक्ष नही। कदाचित् इसीलिए भट्ट तौत ने मूल सवेदना को समान कहा है, एक नही।

उदाहरण के लिए हम आचार्य शुक्ल की समीक्षा को ही ले। सूर-साहित्य की उन्होने समीक्षा की। भ्रमरगीतसार की मूलवर्तिनी अनुभूतियो का उन्होने बडी क्षमता के साथ साक्षात्कार किया और भावभगिमाओ का बडी बारीकी के साथ विश्लेषण किया। सूर की अपनी अनुभूतियो के मूल मे जो वल्लभ का जीवन-दर्शन मिश्रित था, उसके साथ (दृष्टि अनुभूति) मूल संवेदना का साक्षात्कार किया। लेकिन उसके समीक्षणात्मक-पुनरुपस्थापन या पुनः सर्जन मे अपनी लोक मगलकारी 'दृष्टि' जोड़ दी। फल यह हुआ कि कवि की मूल सवेदना मे निहित दृष्टि की समीक्षक की दृष्टि से सगति नही हो सकी, फलतः समीक्षा मे रचयिता की दृष्टि के बदले समीक्षक की दृष्टि उभर गई और कृतिकार की मूल सवेदना कट-पिट कर रह गई। इस प्रकार समीक्षक के दृष्टि-सम्पन्न होने का दुष्परिणाम भी होता है, अर्थात् रचनात्मकता की जगह विध्वसात्मकता भी आ सकती है। तब क्या समीक्षक के दृष्टि-सम्पन्न होने का अर्थ इतना ही मान लिया जाय कि वह कृतिकार की मूल सवेदना को ठीक-ठीक पकड़ सके, पकडने की क्षमता रख सके। कृतिकार की मूल सवेदना को पकड़ कर काव्यात्मक परिणति मे अपेक्षित तन्तुओ की सश्लेषणोपयोगी तारतमिक स्थिति का साक्षात्कार कर उसे समग्र प्रभावोत्पादी ढंग से रख देने की क्षमता ही समीक्षक की दृष्टि-सम्पन्नता है—क्या उसकी दृष्टि का इतना ही अर्थ किया जाय ? यदि समीक्षक केवल मध्यस्थ है, तो उसकी दृष्टि का यह अर्थ किया जा सकता है। समीक्षक में यह क्षमता तो होनी चाहिए कि वह कृतियो मे डूब कर प्रभाव ग्रहण करे और फिर ऊपर उठकर स्वय देखे और दूसरो को उसकी अच्छाइयाँ और खामियाँ दिखाये, उसके रचनातंतुओ का अनावरण करे। यथासम्भव तादात्म्य और ताटस्थ्य की बात तो माननी ही पड़ेगी। एक ही

समीक्षक जब अच्छाइयो और खामियो को दिखाने लगता है तब उसका आचार्यत्व उभार पर होता है और जब तन्तुओ का अनावरण कर ज्यों का त्यों प्रभाव पर्यवसायी उपस्थापन करता है तब उसकी मध्यस्थता सक्रिय रहती है। इस प्रकार समीक्षा की रचनात्मकता दो कारणो से सिद्ध हुई। एक तो यह कि उसका विश्लेषण मूल प्रभावोत्पादकंपर्यवसायी होता है, फलत. विश्लेषणात्मक होकर भी सश्लिष्ट या केन्द्रमुखी होता है, प्रभाव विकिरण की प्रक्रिया सश्लेपगामी मनोवेग-सापेक्ष होती है। दूसरे, यह कि रचनात्मकता या नवता के लिए समीक्षक की नवताग्राही दृष्टि सक्रिय रहनी है। दृष्टि की जो दो व्याख्याएँ ऊपर की गई, उनमे से एक 'निजी दृष्टि' है, जिसके उदाहरण आचार्य शुक्ल हैं और दूसरी वह 'भावयित्री प्रतिभा' नामक दृष्टि है जो रचनाकार की मूल सवेदना से लेकर काव्यात्मक आकार-ग्रहण की समस्त रचना-प्रक्रिया का ठीक-ठीक साक्षात्कार कर लेती है और केन्द्रीय वृत्ति को व्यक्त करने मे उपकरणो की तारतमिक स्थिति का प्रभावपर्यवसायी दिशा मे उद्घाटन कर देती है। अभिनव गुप्त एव आनन्दवर्द्धन ने उस दृष्टि को "तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि" कहा है— 'बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते"। दोनो ने माना है कि ग्रहीता रसावेश या प्रभावावेश में निरायास कवि की प्रतिभा का साक्षात्कार लेता है। "सरस्वती स्वादुतदर्थवस्तु निष्यंदमाना महता कवीनाम्।" "अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्त प्रतिभाविशेषम्।" वाग्रूपा सरस्वती या कृति तत्त्वदर्शीबुद्धि-सम्पन्न गृहीता को प्रभावगामी उपकरणों के साक्षात्कार मे निमग्न करती हुई महाकवि की प्रतिभा का साक्षात्कार करा देती है। प्रतिभा और कुछ नहीं, कवि की अपूर्व वस्तु-निर्माण-क्षम प्रज्ञा ही है। आधुनिक भाषा में कहे तो कह सकते हैं कि प्रभावावेश मे ग्राहक रचयिता की समस्त रचना-प्रक्रिया का साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार समीक्षा के संदर्भ मे शुक्ल जी को उदाहरण रखकर की गई 'दृष्टि' की व्याख्या भिन्न है और आनन्द तथा अभिनव गुप्त को सामने रखकर की गई दृष्टि की व्याख्या भिन्न है। यदि समीक्षक मध्यस्थ है तो आनंद और अभिनव की 'दृष्टि'-परक व्याख्या ग्राह्य है। मध्यस्थ नहीं, अपितु कुछ अपनी नई कहना समीक्षा का रूप है, तो शुक्ल जी को ध्यान मे रखकर की गई 'दृष्टि' की व्याख्या ग्राह्य है। मैं तो मध्यस्थ वाले पक्ष को ही सगत समझता हूँ। निजी दृष्टि को प्रमुखता देने वाला समीक्षक समीक्षक से अधिक Creative हो जाता है। मध्यस्थ की समीक्षा-सृष्टि इतने ही अर्थ में रचनात्मक या नई है कि उसने 'नये' को 'नये' रूप मे ही रख दिया, पुराने प्रतिमानो मे उसे कसकर मृत नहीं कर दिया।

इस प्रकार समीक्षक में तीन तत्त्वों के उभरने की संभावना आ गई—आचार्यत्व, मध्यस्थता तथा निजी दृष्टिमूलक सर्जकता । प्रथम के उद्रेक में सुधार की भावना होगी, खरा-खोटा बताया जायगा, दूसरे के उद्रेक में कृति की मूल संवेदना एवं सर्जना-प्रक्रिया का तटस्थ उद्‌घाटन होगा और तीसरे में संवेदना के साथ कुछ और (निजी दृष्टि) भी जुटेगा । मैं समीक्षा को तीसरे अर्थ में रचना नहीं मानता, कारण यह है कि निजी दृष्टिकोण की केन्द्रीयता होने से ऐसी समीक्षा स्वयं एक Creative विधा के पास जाने लगती है, क्योंकि उसमें व्यक्तित्व का प्रक्षेप मुखर हो जाता है, अनासक्ति की भूमिका भंग होनी लगती है । यद्यपि अनासक्ति आपेक्षिक ही होती है, यह मान लिया गया है, तथापि उसे भी स्पष्ट कर दिया गया है । आचार्यत्व का समुद्रेक होने पर 'समीक्षा' की जगह 'शिक्षा' लेने लगेगी । अतः 'मध्यस्थता' वाली वृत्ति ही मुझे प्रशस्त जान पड़ती है ।

सम्प्रति, यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि मध्यस्थ रह कर आलोच्य कृति की जो समीक्षा होती है, उसमें पूर्वागत प्रतिमानों की कोई उपयोगिता है या नहीं ? क्या कोई प्रतिमान शाश्वत न सही, तो अपेक्षाकृत शाश्वत चिरन्तन हो सकता है या नहीं ? इसी के साथ-साथ एक प्रश्न और भी जुड़ा हुआ है कि सैद्धांतिक समीक्षा समीक्षा है या नहीं ? आचार्यों के समस्त प्रयासों की, शासन की, शास्त्र की कोई उपयोगिता है या नहीं ?

जहाँ तक पूर्वागत प्रतिमानों या लक्षणों का सम्बन्ध है, कृति की मूल संवेदना, सौंदर्य, भाव या प्रभाव के विश्लेषण में अनायास उपयोगी प्रतीत हों तो वे उपयोगी हो भी सकते हैं । आनन्दवर्द्धन ने काव्य की 'नवता' को स्पष्ट करते हुए दृष्टांत प्रकृति जगत का दिया है—कहा है 'सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः' काव्य में जो कुछ नया आता है वह इतना नया नहीं होता कि पाठक को उसका पूर्व परिचय ही न हो । वृक्ष की पत्ती 'नई' है, का अर्थ यह नहीं कि पत्ती के जो लक्षण पूर्व निर्धारित हैं, वे इस पर लागू ही नहीं हो सकते । लागू हो सकते हैं, पर यह नहीं कहा जा सकता कि अनन्त वैचित्र्य सन्नलित सर्जना शक्ति की समस्त संभावनाएँ पूर्व-कार्यों की ही भाँति निश्चित हो गई । वास्तव में काव्योपकरण एक पूर्वानुभूत प्रभाव की समष्टि एकता के संदर्भ में होने से नये से लगते हैं । अतः पुराने लक्षणों या प्रतिमानों का उपयोग हो सकता है, पर उन्हीं में सारी 'नवता' प्रतिमित है, यह नहीं । इसीलिए समीक्षक के लिए प्राथमिक उपादेयता है उसकी अपनी निजी सूझ-बूझ की, तत्त्वार्थ-दर्शिनी बुद्धि की, शक्त भावयित्री प्रतिभा की, जिसके निर्देशन में पुराने प्रतिमान

उपयोगी भी हो सकते हैं, अनुपयोगी भी, साथ ही आलोच्य-कृति के सहारे नये भी गढ़े जा सकते हैं।

जहाँ तक सैद्धांतिक समीक्षा की बात है, स्पष्ट है कि वह अपने आप में समीक्षा नहीं है। आलोचना के संदर्भ में माध्यम का कार्य कर सकने में उसकी उपयोगिता है, वहाँ वह रचनात्मक प्रायोगिक समीक्षा का अंग है। अपने आप में उसकी उपयोगिता निसर्गलब्ध भावुकता को व्यवस्थित और पुष्ट बनाने के लिए, उसमें निखार लाने के लिए, है। समीक्षक की सूझ-बूझ को सक्षम करने में, विभिन्न परम्पराओं की विशेषताओं से अभिज्ञ बनाकर सक्रिय करने में सैद्धांतिक समीक्षा की उपयोगिता है।

रही अपेक्षाकृत शाश्वत या चिरन्तन प्रतिमान की बात। ध्वनित रस को भी आत्मसात् करने वाले ध्वनि सिद्धांत में मैं उसकी संभावना देखता हूँ। ध्वनिकार ने कहा है—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयोभवेत्॥

अर्थात् वाञ्छित चारुता कवि के द्वारा प्रयुक्त जिस उक्ति से भिन्न उक्ति द्वारा कथमपि प्रकाशित न हो सके, वही उक्ति 'ध्वनि' है—वही शब्द सटीक और सही शब्द है। कवि आत्मसंवेदना की अभिव्यक्ति के लिए उसी के निमित्त कभी संघर्ष करता है, कभी अनायास पा लेता है। इस प्रकार ध्वनि संबंधी उक्त धारणा काव्य के क्षेत्र में तब तक स्थिर प्रतिमान है जब तक वह अशकात्मक नहीं हो जाता।

इस प्रकार इस समस्त विचार-विवेचन से निष्कर्ष यह निकला कि :—

(क) समीक्षा भी रचनात्मक होती है।

(ख) रचनात्मकता के लिए तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि अपेक्षित है।

(ग) समीक्षक की मध्यस्थता का निर्वाह इसी दृष्टि से संभव है।

(घ) समीक्षा इस दृष्टि से भी सर्जना है कि समीक्षक अपना समग्र विश्लेषण मूल संवेदना ग्रहण के बाद आरम्भ करता है और पाठक में वैसा ही प्रभाव उत्पन्न हो, इस दृष्टि से उसका समस्त विश्लेषण एकोन्मुख-प्रभावोत्पादगामी होता है।

(ङ) समीक्षक के लिए उसकी सूझ-बूझ ही प्रमुख है, पूर्वागत प्रतिमान अनुगामी हो सकते हैं।

(च) सैद्धांतिक समीक्षा प्रायोगिक समीक्षा का अग बनकर ही समीक्षा है, उपादेय है। निसर्गजात सूझ-बूझ को निखार देने मे भी उसकी उपयोगिता है।

(छ) अपेक्षाकृत शाश्वत प्रतिमान की सभावना ध्वनि सिद्धांत मे निहित है।

[३]

पूर्ववर्ती निबध मे यह कहा गया है कि सर्जक की मूल संवेदना का (सहानुभूतिमूलक) साक्षात्कार पूर्वक सर्जनात्मक पुनराख्यान ही आलोचना है। इस स्थापना पर कई आपत्तियाँ उठाई जाती है। एक तो यह कि यदि 'मूल सवेदना' का पुनराख्यान एक आलोचक ने कर दिया तो फिर अन्य आलोचक को उस विषय मे कहना क्या रह गया? और शेष रह नही गया तो दूसरा आलोचक क्या कहेगा? पर व्यवहार मे देखा यह जाता है कि एक 'उर्वशी' पर अनेक दिग्गजों ने कलमें चलाई और चलाई जा रही है। दूसरी आपत्ति यह भी उठाई जाती है कि यदि कृति की मूलवर्तिनी सवेदना का पुनराख्यान एक बार होना ही उसकी आलोचना का अन्तिम रूप है तो आलोचना द्वारा पुनर्मूल्यांकन निरवकाश हो जायगा। तीसरी आपत्ति यह खडी की जाती है कि यदि आलोचना रचनात्मक या सर्जनात्मक है तो उसकी 'नवता' कहाँ है? कारण यह है कि 'सवेदना' सर्जक और आलोचक की एक ही है।

जहाँ तक पहली आपत्ति का सबध है 'मूल सवेदना' को पकड़ लेने पर भी उसके स्पष्टीकरण के अनेक पक्ष हो सकते हैं। एक पक्ष तो यह है कि मूल संवेदना का *अभिव्यंजक उपकरण* के संदर्भ मे *आनुरूप्य* का परीक्षण या विश्लेषण। इस परीक्षण मे आनुरूप्य और औचित्य का विश्लेषण न जाने कितनी दृष्टियो से हो सकता है और कितनी गहराई मे भी हो सकता है। अभिव्यंजक उपकरण अपने लयात्मक अथवा सागीतिक पक्ष से लेकर वर्ण, पदांश, पद, वाक्य की ध्वन्यात्मक झकृति पक्ष और यथायोग्य अर्थ चित्र पक्ष तक अंगी सौदर्य या प्रभाव के अभिव्यजन मे तारतमिकता के साथ संलग्न है। मूल संवेदना का साक्षात्कार कर लेने पर भी एक ही व्यक्ति अपनी ज्ञान की सीमाओ में इन सभी दृष्टियों से उक्त आनुरूप्य माप ले, व्याख्यात कर दे—यह संभव नहीं है। आज 'शैली विज्ञान' की बड़ी चर्चा है। अभिव्यजक उपकरणो की मूल सवेदना के एकाधिक बार व्याख्यात हो जाने के बाद भी इस दृष्टि सेवान नूतनता की संभावना है—पुन आलोचन की है। मूल संवेदना

के साक्षात्कार के बावजूद अभिव्यंजक उपकरण पक्ष से जहाँ नवनवोद्भूत दृष्टिभेद से आलोचन की संभावना शेष है वहीं मूल संवेदना के सामाजिक, मानसिक, प्राणिशास्त्रीय आदि न जाने कौन-कौन सी आविष्कृत और आविष्क्रियमाण दृष्टियाँ हो सकती है जिनके आलोक में मूल सवेदना के घटक उपादानों का विश्लेषण किया जा सकता है। इस प्रकार किसी भी पक्ष—मूल सवेदना के सघटक अथवा अभिव्यजक—से एक आलोचक द्वारा कुछ कह दिए जाने के बाद भी दृष्टिभेद और ज्ञानविस्तार के आनन्त्य से उस पर निरन्तर कुछ न कुछ कहा जा सकता है। अतः एक आलोचक द्वारा एक बार मूल सवेदना का उद्घाटन कर दिए जाने के बाद पुनः वह कृति आलोचना के लिए निरवकाश हो जायगी, यह सोचना ही निरर्थक है।

दूसरी आपत्ति यह उठाई जाती है कि यदि 'मूल संवेदना' का साक्षात्कार-पूर्वक सर्जनात्मक पुनराख्यान ही आलोचन है तो फिर पुनर्मूल्याकन की सावकाशता कहाँ रही ? वास्तव मे पुनर्मूल्यांकन का प्रश्न मूल्याकन की प्रक्रिया पूरी हो जाने के बाद उठता है। मूल्याकन का आशय कृति के उन गुणो के अकन से है जो अपने युग विशेष मे आकर्षण के बिन्दु बने हुये है। औसतन ग्राहक समाज मे रुचि के बदल जाने से, दृष्टि मे गुणात्मक परिवर्तन आ जाने से जब पूर्वांकित गुण आकर्षण के केन्द्र नही रह जाते और उस दृष्टि से उनकी उपादेयता समाप्त हो जाती है, तब उसका पुनर्मूल्याकन आवश्यक होता है—बदले हुये युग मे उसकी उपादेयता पुनः परीक्षित होती है। इस प्रकार मूल्याकन अथवा पुनर्मूल्याकन का संबंध कृति की 'उपादेयता' से है। आलोचना उपादेयता-अनुपादेयता से पृथक् हटकर 'जो है' उसके तटस्थ विश्लेषण से संबद्ध है। अतः 'आलोचना' से 'पुनर्मूल्यांकन' की निरवकाशता सिद्ध होती है—यह समझ ठीक नही है।

प्रश्न फिर भी किया जा सकता है कि तब क्या आलोचना से मूल्यांकन या पुनर्मूल्याकन का कोई सम्बन्ध नही है ? मैं तो समझता हूँ कि यदि कोई सबंध हो सकता है तो इतना ही कि आलोचक 'मूल सवेदना' के घटक और व्यजक का तटस्थ व्याख्यान कर देता है, जिसमे उपादेयता अर्थात् निर्णायक गुणो या विशेषताओ को भी पाया जा सकता है। रिचार्ड्स तो उस कृति को सर्वाधिक मूल्यवान् समझेगा जिससे सर्वाधिक संतुलन (मनोवेगो मे) लाने की शक्ति हो। बहरहाल, मूल्य वे गुण या विशेषताएँ ही है जो आकृष्ट करें, आकर्षक प्रभाव छोड़े, मनोवेगो मे संतुलन ला दें। इस प्रकार यदि आलोचन का लक्ष्य 'मूल संवेदना' का तटस्थ सर्जनात्मक व्याख्यान है—वह उपादेय हो या न हो तो—

मूल्याकन का लक्ष्य आकर्षण-स्रोत गुणो के निर्धारण या अनिर्धारण में है। आलोचना मूल्यांकन में सहायक अवश्य हो सकती है।

कहा जाता है कि मूल्याकित करने वाली औसत 'युगरुचि' या 'युगदृष्टि' मे गुणात्मक परिवर्तन उदित होने पर पुनर्मूल्याकन की बात उठती है। आचार्य शुक्ल ने सूर की विरह व्यंजना को मूल्याकित करते हुये उसे दो कौड़ी का ठहरा दिया। मध्यकाल की 'दृष्टि' या 'रुचि' अध्यात्म या सम्प्रदाय रंजित थी जिसके कारण सूर की विरह-व्यंजना तुलसी की विरह-व्यंजना से बहुत ऊँची मानी जाती थी। शुक्ल जी ने बदली हुई 'दृष्टि' या 'रुचि' से, जो बुद्धिवाद-रंजित थी, उसका पुनर्मूल्यांकन किया। मैंने पहले निबंध मे इस वृत्ति को 'आलोचन' से भिन्न कहा था।

तीसरा प्रश्न यह किया जाता है कि यदि कवि की 'मूल सवेदना' ही आलोचक का भी प्रस्थान-पाथेय है (अपनी एकरूपता में) तो आलोचना की सर्जनात्मकता या नवता कहाँ मानी जाय ? इस प्रश्न के समाधान मे दो उत्तर दिए जा सकते हैं। एक तो यह कि 'मूल संवेदना' ही आलोचक की व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण 'कुछ और' होकर गृहीत होती है, अतः आलोचना इसी 'कुछ और' के कारण सर्जनात्मक हो जाती है। जिस प्रकार सर्जक व्यक्ति के काव्योचित मानस पर लोक की टकराहट क्रियेटिव या सर्जक साहित्य का प्रसव करती है उसी प्रकार आलोचक व्यक्ति के आलोचनोचित मानस पर क्रियेटिव की टकराहट आलोचनात्मक साहित्य का प्रसव। अतः जिस प्रकार की व्यक्तिगत टकराहट से औरो की टकराहट की अपेक्षा वह 'नवता' पैदा करता है उसी प्रकार टकराहट से एक आलोचक भी अन्य की अपेक्षा 'नवता' पैदा करता है। कहा जा सकता है कि सर्जक टकराहट के प्रतिक्रियात्मक स्वर मे अपने व्यक्तित्व का प्रतिक्षेप करता है, जब कि आलोचक आलोच्य कृति की टकराहट से उत्पन्न प्रकृति को सर्जक की मूल सवेदना के प्रतिबिब रूप मे ग्रहण कर यथावत् व्यक्त करना चाहता है। तभी तो आलोचक की तटस्थ वृत्ति आलोचन मे उपादेय मानी जाती है। अतः दोनों की टकराहट-समुत्पन्न ध्वनियो मे व्यक्ति-प्रतिक्षेप होने और न होने के कारण उक्त विध 'नवता' ठीक-ठीक बन नही पाती। दूसरी बात यह भी है कि आलोचक के मानस पर आलोच्य कृति की टकराहट से उत्पन्न प्रतिक्रिया आलोचक-आलोचक रूप व्यक्ति-भेद से उत्पन्न होने के कारण 'नई' है ? दोनो ही विकल्पों के विषय में एक ही प्रश्न खडा होता है कि जो 'मूल संवेदना' आलोचक द्वारा गृहीत होती है, वह 'मात्रात्मक भेद' के कारण भिन्न है या 'गुणात्मक'। यदि मात्रात्मक भेद है तो 'मूल सवेदना' का रूप ऐसा नही

हो जाता कि वह सर्वथा भिन्न होने के कारण 'नई' कही जाय और यदि 'गुणात्मक' भेद हो जाता है तब वह 'मूल संवेदना' ही नहीं है, गुणात्मक भेद होने से कोई भिन्न चीज ही है। फिर उस बिन्दु से प्रस्थान करने पर वह व्याख्यान मूल कृति की आलोचना ही नहीं होगा।

इस प्रसंग मे साधारणीकरण का भी प्रश्न निहित है। 'व्यक्ति' के कारण जो बार-बार 'नवता' की बात उठाई जा रही है, क्या वह जन्मजात सामाजिक प्रकृति के काव्य के लिए आत्यंतिक रूप मे उचित है? भाषा का माध्यम पकड़ने के कारण काव्य सामाजिक है, समाज-संवेद्य है, पर-संवेद्य है। अतः उचित यह है कि कवि 'जिसका' वर्णन करे उसका बोध्य रूप उभयबोध (स्रष्टा-ग्राहक) साधारण हो। व्यक्तिगत स्तर पर 'वस्तु' अवश्य भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देगी, अतः प्रत्येक 'व्यक्ति-गृहीत' 'वस्तु' अपनी समग्रता मे भिन्न-भिन्न हो सकती है पर 'कवि-वर्णित-वस्तु' मे अभिन्नता या 'स्व-पर-बोध-साधारणता' होनी ही चाहिए। बात यह है कि 'वस्तु' व्यक्ति-गृहीत होकर भी विशेष अंश मे 'सामान्य' तो रहती है, अन्यथा व्यवहार निभाना असंभव हो जायगा। वेदान्तियों का 'दृष्टि-सृष्टिवाद' व्यवहार के लायक नहीं है। प्रत्येक 'वस्तु' मे व्यक्ति गृहीत होने पर भी 'व्यक्ति-रूप' के साथ 'व्याव-हारिक रूप' भी रहता है। कवि सामाजिक काव्य मे 'व्यावहारिक रूप' को रखना चाहता है और सहानुभूति-अर्जन-अर्जित प्रातिभ नेत्र उसी को पकड़ते भी हे। इस दृष्टि से आलोचना में 'नवता' का उन्मेष 'व्यक्ति'-ग्राह्यता-निमित्तक तो संभव नहीं है।

इस प्रसंग में आनुषंगिक रूप से एक प्रश्न और उठता है और वह है कि जहाँ एक ओर शुक्ल जी यह कहते हैं कि काव्य का निर्माण भी सामान्य भाव-भूमि पर होना चाहिए और काव्य का ग्रहण भी, वहीं दूसरी ओर पश्चिमी समीक्षकों की भाँति यह भी कहते हुए सुने जाते हैं कि काव्य का विषय 'व्यक्ति' होता है और शास्त्र का 'जाति'। क्रोचे ने भी ऐसी ही बात कही है। क्रोचे और शुक्ल जी ने ही नहीं, प्रसिद्ध भारतीय काव्यशास्त्री आनन्दवर्द्धन ने भी कहा है—वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते। बात इनके यहाँ भी काव्य मे 'नवता' व्यक्ति रूप से ही प्रतीत होने मे है। यदि काव्यगत वर्णित अर्थ 'सामान्य' या 'जाति' रूप से प्रतीत होते, तब तो फिर यही कहना पड़ता कि वाल्मीकि प्रणीत काव्य से भिन्न सभी परवर्ती काव्य उच्छिष्ट या बासी हो जायेंगे। बात यों है कि इन आचार्यों की दृष्टि से काव्य की अंतरात्मा रस है और उसकी संख्या नियत है। 'रसानु-

भूति में उपयोगी वे जिस रूप में अनुभूत होकर होते है—वह 'असाधारण' नही साधारण है, सामान्य है। व्यक्तिगत रूप मे भेदक विशेषताओ से शून्य होकर अपनी जातिरूपता में व्यंजक उपकरण परिमित हो जायेंगे और परिमित वस्तुएँ पूर्व वर्णित होने से कुछ नया रह ही नहीं जाता, फिर और परवर्ती कवियो की वर्णना मे 'नवता' क्या चीज है ? कहा गया है—

'अत्र केचिदाचक्षीरन्—यथा सामान्यात्मना वस्तूनि वाच्यतां प्रतिपद्यन्ते न विशेषात्मना तानि हि स्वयमनुभूतानां सुखादीनां तन्निमित्तानां च स्वरूपमन्यत्रारोपयद्भिः स्वपरानुभूतरूपसामान्यमात्राश्रयेणोपनिबध्यन्ते कविभिः। न हि तैरतीतमनागतं वर्तमानं च परचित्तादिस्वलक्षणं योगिभिरिव प्रत्यक्षीक्रियते; तच्चानुभाव्यनुभवसामान्यं सर्वप्रतिपत्तिसाधारणं परिमितत्वात् पुरातनानामेव गोचरीभूतम्, तस्या विषयस्यानुपपत्तेः। अतएव स प्रकारविशेषो यैरद्यतनैरभिनवत्वेन प्रतीयते तेषामभिमानमात्रमेव भणितिकृतं वैचित्र्यमात्रमत्रास्तीति।'

अर्थात् शब्दात्मक काव्य से वस्तु 'जाति' रूप से वाच्य होती है, 'विशेष' रूप मे नही। वे भी स्वयम् अनुभूत भावो और उनके निमित्तो का अन्यत्र आरोप करते हुए स्व-पर-संवेद्य सामान्य रूप का ही आश्रयण कवि करता है। वह योगी की भाँति अतीत, अनागत एव वर्तमान मे विद्यमान व्यक्तिगत विशेषताओं से युक्त प्रत्येक वर्ण्य पदार्थ का प्रत्यक्ष दर्शन नही करता। फलतः स्वपरानुभव सामान्य प्रतिपत्ता मात्र संवेद्य रूप को ही शब्दो मे बाँधता है। इस प्रकार होता यह है कि जाति रूप से प्रतीत होने के कारण जातियों के पारमित्य वश उनकी सीमा पुरातन कवियो के काव्यो मे ही समाप्त हो जाती है—आगे के लोगों के लिए बचा ही क्या है ? उन्हे नया कहने का अभिमान मात्र ही है—वस्तुत. वहाँ नया कुछ है नही। केवल उक्तिवैचित्र्य मात्र है।

पूर्व पक्ष की इस पीठिका पर आनंदवर्द्धन का उत्तर बड़ा ही क्रान्तिकारी है, जो साधारणीकरण सिद्धान्त के विरुद्ध जाता सा लगता है। उनका कहना है—'स्वभावोऽयं वाच्यानां चेतनानामचेतनाना च यदवस्थाभेददेशभेदकालभेदात् स्वालक्षण्य भेदाच्चानन्तता भवति।" "वाच्याना च काव्ये प्रतिभासमानाना यद्रूपं तत्तु ग्राह्य विशेषाभेदेनैव प्रतीयते"—अर्थात् शब्द की अभिधा शक्ति से जिन चेतन अथवा अचेतन रूप वाच्यार्थो की प्रतीति होती है, वे देश भेद, स्थान भेद तथा काल भेद से नही, अपितु व्यक्तिगत विशेषताओ के कारण अनन्त होते है।...काव्य में प्रतिभा समान वाच्य का रूप प्रत्यक्ष प्रमाण ग्राह्य है जो अपनी व्यक्तिगत विशेषताओ से संवलित होकर प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह कि 'नवता'

या 'सर्जनात्मकता' के निमित्त काव्य मे व्यक्तिगत विशेषताओ का प्रत्यय आवश्यक है। इस पक्ष मे तर्क ही नही, अनुभव भी साथ देता है। मान लीजिए दो काव्य शृंगार रस के है- एक मे 'क' आलम्बन है और दूसरे मे 'ख'। पर साधारणीकरण की 'सामान्यपरता' वाली बात ऐकांतिक और आत्यंतिक रूप मे मान ली जाय, तब तो दोनो काव्यो से प्रतीत 'शृंगार' मे अतर नही होना चाहिए। कारण, आलबनादि व्यक्तिगत विशेषताओ से संवलित होकर तो प्रतीत होते नही, 'सामान्य' रूप से ही होते है। अत. व्यंजक उपकरणगत भेदक विशेषताओ के विलयन से व्यंग्य प्रतीतिगत भी भेद का प्रत्यय किस प्रकार तर्कसगत होगा, जबकि अनुभव इसके विरुद्ध जाता है? आलम्बन भेद से भिन्न-भिन्न कृतियो का एक ही रस नया-नया आस्वाद देता है। ऐसा नही लगता कि 'क' आलम्बन-गर्भा कृति के आस्वाद मे 'ग' आलम्बन-गर्भा कृति का आस्वाद एक ही है, प्रत्युत इसके विपरीत ही प्रतीति जाती है। अतः इसी प्रतीति के अनुरोध से आनदवर्द्धन का समर्थन करते हुए अभिनव गुप्त कहते है कि आपत्तिगण शब्द की शक्ति चाहे 'सामान्य' में माने या 'जातिमात्' अथवा 'अपोह' मे, इन मतभेदो के बावजूद वाक्यार्थबोध मे 'विशेष' का सद्भाव स्वीकार करना ही पडेगा। चाहे 'अन्विताभिधानवाद' माना जाय अथवा 'अभिहितान्वयवाद' स्वीकार किया जाय, शाब्दबोध को 'अनुभवात्मक' कोटि मे परिगणित करने के निमित्त इस स्तर (वाक्यार्थबोध स्तर) पर 'विशेष' का समावेश करना या मानना ही होगा—अन्यथा 'तर्क' और 'युक्ति' मे अन्तर है। तर्क निर्लक्ष्य वाक्य योजना है और 'युक्ति' लक्ष्य सिद्धि के निमित्त है। युक्ति या उपाय भी 'उपेय' तक पहुचा देने के बाद 'हेय' मान लिए जाते है। तर्क से तो कुछ सिद्ध हो नही सकता, अनुभव की भी दुर्गति हो जायगी। एक ही रस या भाव की आलम्बनगत भेद से प्रतीति-भेद सर्वानुभव सिद्ध है, अतः सर्वानुभवसिद्ध का उपपत्ति के निमित्त वाक्यार्थबोध स्तरो मे भी प्रत्यक्ष बोध की भाँति 'विशेष' का सन्निवेश मानना ही पडेगा। अपरोक्ष तथा शाब्दबोध जैसी परोक्ष प्रतीतियों मे सिद्ध अंतर की रक्षा के निमित्त इतना अवश्य कहना पडेगा कि अपरोक्ष या प्रत्यक्षानुभूति का, 'विशेष' का स्रोत वह स्वयम् है, जबकि शाब्द-प्रतीति मे या समान 'विशेष' का स्रोत पूर्व प्रत्यक्ष गृहीत 'विशेष' है—अथवा उसके आधार पर उद्भूत उससे भिन्न फलतः 'नव' है। इसीलिए शाब्द प्रतीति के स्थलों मे आचार्य आनन्दवर्द्धन ने 'गृहीताविशेषाभेदेन' न कहकर 'ग्राह्यविशेषाभेदेन' कहना अधिक उचित समझा। अब तक कहने का सपिण्डित अर्थ यह हुआ कि 'प्रत्यक्ष' बोध स्थल की भाँति शाब्द स्थलो मे भी 'विशेष' का प्रत्यय होता है और यही 'विशेष'

नवता का स्रोत है। पद से पदार्थ की उपस्थिति चाहे 'सामान्यात्मा' हो या 'अपोह' अथवा 'विशेषात्मा' वाक्य से वाक्यार्थ की प्रतीति 'विशेष'गर्भ अवश्य होगी--इसमे तार्किकों और अनुभवियों दोनों का संवाद है, किसी का भी मतभेद नही। तब भी यह अवश्य अनुभवैकगम्य रह जाता है कि 'विशेष' किस मात्रा मे काव्यास्वाद के व्यंजक उपकरणो में साधारणीकरण के बावजूद रह जाता है। आचार्य शुक्ल ने तो 'व्यक्ति' को 'व्यक्ति' ही रहने दिया, साधारणीकरण तद्वत् धर्म का बना दिया और कह दिया कि बात समाप्त। 'भावना' (या 'भावकत्व') 'व्यक्ति' का भी कुछ करती अवश्य है। कहाँ तक करती है, कितना करती है, दो टूक कहना अनुभवाधृत होने से कठिन ही नहीं, असंभव भी है।

फ़िलहाल यह तय है कि 'नवता' का स्रोत 'विशेष' है। पर 'काव्य' के 'सर्जनात्मक' पक्ष की 'नवता' से आलोचक की आलोचना मे 'नवता' कैसे ? फलतः वह 'सर्जनात्मक' कैसे ? उत्तर मे यही कहना पड़ेगा कि जिस प्रकार लोकानुभव पर आधृत होती हुई भी काव्यानुभूति मे 'नवता' है वैसे ही 'काव्यानुभूति' पर आधृत होते हुए भी आलोचक की 'संवेदना' मे भी 'विशेष'-वश 'नवता' है ही। 'नवता' का एक स्रोत तो यह हुआ। इस स्रोत मे 'मूल संवेदना' के घटकों (भाव तथा विचार) का यथातथ्य रहना संभव है--उसमें ग्राहक का 'विशेष' उतना ही है जितना 'व्यक्ति' गृहीत होने से संभव है। यह 'विशेष' ऐसा नहीं है कि 'मूल संवेदना' मे कोई गुणात्मक अंतर आ जाय। शुक्ल जी ने 'सूर की विरह व्यंजना' का आलोचन की जगह 'मूल्यांकन' कर दिया। परिणाम यह हुआ कि 'मूल संवेदना' यथातथ्य न रह सकी और उसमें गुणात्मक अंतर आ गया।

'नवता' के अन्य स्रोत 'मूल संवेदना' के यथावत् रहने के बावजूद उसके अछूते पक्ष हैं जिनका उद्घाटन बाद के लोग करते रहते है और अपनी समीक्षा को सर्जनात्मक बनाए रखते हैं। अछूते पक्षो से मेरा अभिप्राय द्विमुख है। एक तो यह कि ज्ञात दृष्टियों (रचना समकालीन) से अछूता और दूसरा भविष्य में उद्भिन्न होने वाली 'दृष्टियाँ'। ये दृष्टियाँ 'संवेदन-घटक दृष्टि' से भिन्न हैं--उसकी व्याख्या के निमित्त। इस प्रकार आलोचना 'मूल संवेदना' का ही सर्जनात्मक पुनराख्यान है, इस स्थापना पर अब तक के किए गए आक्षेपों के ये समाधान हैं--भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन के आलोक मे।

● ●

१२५५५

दो | भाष्य और समीक्षा

कहा जाता है कि व्यवस्था जड़ होती है और सर्जनात्मकता गतिशील। काव्य जिस शक्ति का प्रसव है वह अपनी प्रकृति मे सर्जनात्मक है, इसीलिए काव्य को सृष्टि या रचना भी कहा जाता है, इसीलिए गतिशील माना जाता है। नवता गतिमयता में ही सम्भावित है और जहाँ नवता है वही रमणीयता है—सौन्दर्य है, आकर्षण है। फिर राजशेखर ने यह क्यों कहा—शास्त्रपूर्वकत्वात् काव्यानां, पूर्वशास्त्रेष्वभिनिविशेत ? क्या शास्त्र व्यवस्था नही है ? शास्त्र शासन के ही कारण तो शास्त्र है। शासन व्यवस्था नही तो और क्या है ? राजशेखर ने शास्त्र को भी परिभाषित कर दिया अतः उसने भी अपनी निश्चित सार्थकता मे गतिमयता की सम्भावना खो दी। इस प्रकार शास्त्र या शासन की परिधि स्थिर और जड हो जाने पर उसमे ही रखा जाने वाला काव्य अपने स्वरूप मे, नवता मे किस प्रकार स्थिर हो सकेगा ? इनका तो आदेश है—"गृहीत विद्योपविद्यः काव्यक्रियायै प्रयतेत"। इनकी तो धारणा है कि काव्य गतिमय जीवन का नही, चारो विद्याओ का सरस निःष्यद है।

काव्य कारण की दृष्टि से भी विचार करते हुए इन्होंने जिस शक्ति को अकेले काव्य हेतु के रूप में स्वीकार किया है उसके उद्‌भासन के लिए समाधि और अभ्यास—बाह्य और आन्तर—दोनों ही प्रकार के प्रयत्न स्वीकार किए हैं। अभ्यास के अन्तर्गत शास्त्रपरिशीलन भी आ सकता है। उन्होंने यह भी तो स्वीकार किया है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति से युक्त कवि ही (उत्कृष्ट कवि क्या) सच्चा कवि है। व्युत्पत्ति भी तो यायावर के मत से उचित और अनुचित का विवेक ही है, जो उचित और अनुचित के अभ्यास साध्य ज्ञान से ही सम्भव है। वे मानते है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनो समवेत रूप में ही उपादेय है। इनकी दृष्टि में सौन्दर्य के समुन्मेष मे जो स्थान रूप एवं लावण्य का है वही काव्य के चरम पाक में प्रतिभा और व्युत्पत्ति का है। इन्होंने तो यहाँ तक कि अन्यान्य आचार्यों से अपना मतभेद प्रकट करते हुए यह भी स्वीकार कर लिया कि प्रकृति मधुर द्राक्षा को भी चासनी की अपेक्षा होती है, क्योंकि एक ही लक्ष्य से

की गई दो क्रियाएँ दुगुना प्रभाव पैदा करती हैं। राजशेखर को वैसा उत्कर्ष श्रेयस्कर जान पड़ता है जो अनेकविध गुणों के एकत्र सन्निपात से ही सम्भव है। अतः कवित्व के लिए शक्ति के अतिरिक्त बुद्धि या विवेक (व्युत्पत्ति) और अभ्यास भी अपेक्षित है। इनकी सम्मिलित कारणता से काव्य में उत्कर्ष आता है। इसीलिए जहाँ कवित्व के लिए वे केवल शक्ति को कारण कहते हैं वहाँ समाधि और अभ्यास को उसके उद्भासन में पहले ही डाल देते हैं। उत्कर्ष के लिए और गुणों का भी सहावस्थान आवश्यक मानते हैं। निष्कर्ष यह है कि काव्य हेतु की दृष्टि से भी उन्होंने शास्त्राभ्यास का बंधन लगा रखा है जिससे उपर्युक्त विरोध की स्थिति और भी पुष्ट होती है।

समस्या या विरोध केवल निर्माण पक्ष में नहीं, ग्रहण अथवा ग्रहण पूर्वक भावन के पक्ष में भी है। राजशेखर ने प्रतिभा के दो भेद किये हैं—कारयित्री अथवा भावयित्री। पहले का आश्रय कारक है और दूसरे का भावक। भावक के लिए भावन आवश्यक है। नाट्यशास्त्रकार ने भावक की बात भाव के सैद्धान्तिक स्वरूप का (भावयन्ति इति भावाः) स्पष्टीकरण करते हुए की है। भावन अथवा भावकत्व का उल्लेख अपौरुषेय वेद वाक्यों में [जो विधायक है], भावना की स्वीकृति देने वाले मीमांसकों की परम्परा के अनुधावी भट्टनायक ने भी शब्दात्मक काव्य के सामर्थ्य के रूप में किया है। अभिनव गुप्त ने इस भावकत्व को काव्य के शब्द पक्ष में ही नहीं अपितु अर्थपक्ष में भी स्थापित किया है और अन्ततः उसे व्यञ्जना से एक रूप कर दिया है। इस व्यञ्जना की पर्यायवाची भावना से राजशेखर की भावकगत भावना दो बातों में भिन्न है—एक तो वह शब्दार्थात्मक अचेतन काव्य से हटकर चेतन द्रष्टा में स्थापित कर दी गयी और दूसरे व्यंजना के समुन्मेष में जहाँ ध्वनिवादियों ने अन्य विध वैशिष्ट्य के साथ प्रतिभा को कारण बताया, वहाँ राजशेखर ने प्रतिभा को ही भावक-गत भावना कहा और उसे भावयित्री संज्ञा प्रदान की। यह हुआ अंतर्भाष्य या समीक्षा जिसे अवान्तरार्थ विच्छेद भी कहा गया है। अब आइये प्रकृत विषय पर, भाष्य पर, मुख्य आक्षेप पर। तो भावन या ग्रहणपूर्वक विश्लेषण की दृष्टि से इन्होंने जो विचार प्रस्तुत किये हैं उसे भी उक्त विरोध का ही स्वरूप उभरता है और वह इस प्रकार—

राजेश्वर का कहना है कि भावक का कार्य है—गुण दोष का विवेक। उन्होंने अपने आशय की पुष्टि में स्वयं कहा है—

> **"कस्त्वं भोः कविरस्मि, काप्यभिनवा सूक्तिः सखे पठ्यताम्,**
> **त्यक्ता काव्यकथैव संप्रति मया, कस्मादिदं, श्रूयताम्।**

यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः,
सोऽस्मिन् भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्न निर्मत्सरः ॥[1]

इस आधार पर निश्चय यह हुआ कि भावक काव्य का गुण-दोष बतलाता है। गुण-दोष का वस्तुमुखी निर्णय प्रातिमानिक दृष्टि पर आधृत है। ऐसी दृष्टि का स्वयं निर्माण प्रतिमानों के अभ्यास से होगा और प्रतिमानों का बोध शास्त्र के परिशीलन से ही सम्भव है। इस प्रकार इन पूर्व निर्धारित प्रतिमानों के शासन मे रहने की आकांक्षा से लिखने वाले कवि की कृति किस प्रकार गतिशील हो सकेगी ? नयी और रमणीय बन सकेगी ? वह सर्जनात्मक शक्ति का प्रसव कैसा होगा ? जबकि ये मानते हैं—सा केवलं काव्ये हेतुः।

दूसरी समस्या काव्यमीमांसा जैसी प्राचीन काव्यशास्त्र की कृतियों की वर्तमान भारतीय काव्य-परम्परा के सन्दर्भ में उपयोगिता की भी है। क्या इन कृतियों की सार्थकता अपने ही समय की कृतियों की सीमा में थी या आज भी इसकी कोई चरितार्थता है ? आज ये कृतियाँ वर्तमान सन्दर्भों में उठी हुई काव्य-समस्याओं के समाधान में कोई आलोक प्रदान करती है या इनका अध्ययन केवल नाम मात्र की वृद्धि तक ही सीमित रह गया है ? व्यवस्था या शास्त्र के भार मे दबी फलतः कसमसाती आज की नई काव्य चेतना या सर्जनात्मक शक्ति पर्याप्त आक्रोश से परिपूर्ण है। अतः विचार यह भी करना है कि इन शास्त्रों में चर्चित प्रतिमानों की वर्तमान सन्दर्भ में कोई सम्भावना शेष है या नहीं ? नये भावकों का यह आक्षेप है कि भारतीय भावकता की धारा अवरुद्ध हो गई है। वह अपने पुरखों की रचनाओं के हाथ में लगे घी की गंध का प्रचार कर रही है।

जहाँ तक पहली समस्या का सम्बन्ध है, लोक और परलोक की स्वस्थ दिशा में कुछ लोग नैसर्गिक प्रेरणा वश चलते है और अधिकांश शास्त्र, समाज और शासन के विधि निषेध वश। निःसन्देह इन दोनों में प्रथम जितना श्लाघ्य है उतना दूसरा नहीं। लेकिन देशकाल भेद से निर्मित सामाजिक मान्यताओं, शासकीय मान्यताओं से अपरिचित रहने वाला व्यक्ति प्रेरणा प्रसूत सद्वृत्तियों का भी कार्यान्वयन समाज की अविरोधी दिशा मे नहीं कर सकता। अतः व्यक्तिगत सम्भावनाओं को समाज में रहकर चरितार्थ करने के लिए दोनों का

---

१. कविगत भावना भिन्न है और भावकगत भावना भिन्न है क्योंकि न केवल दोनों का स्वरूप ही भिन्न है, अपितु विषय भी भिन्न है—"एकः सूते कनकमुपलस्तत् परीक्षाक्षमोऽन्यः।

ही समन्वय आवश्यक है—प्रेरणा भी और जीवन्त परम्परा भी। उत्कर्ष तो समन्वय से ही साध्य है। ठीक इसी प्रकार का मत राजशेखर का भी है। काव्य के क्षेत्र में प्रेरणा का स्थानापन्न, शक्ति (कवित्वबीजभूतसंस्कार विशेष) तथा परम्परागत विधि निषेध का तो है ही शास्त्र। शक्ति या प्रेरणा का देश-कालोचित विकास समकालीन बौद्धिक मान्यताओ या व्यवस्थाओ के बीच से ही होता है। हाँ, व्यवस्था सर्जनात्मक विकास के अनुरूप जब तक रहेगी तब तक ग्राह्य है और जब वह विकास में अवरोधक लगने लगे तब त्याज्य है। यह परख सहज सूझ-बूझ या प्रतिभा सम्पन्न लोगों मे ही होती है, अतः वे लोग की सर्जनात्मक चेतना के विकास के अनुरूप व्यवस्था का निर्माण कर लेते है। सर्जना शक्ति स्वय उस सीमा मे नहीं बँधती, अतः वह उसे तोडकर फिर आगे बढती है। निष्कर्ष यह कि व्यवस्थाएँ और मान्यताएँ नई पुरानी होती रहती है, पर सर्जनात्मक चेतना अपने अनुरूप और विरूप इन आवरणो को ग्रहण करती तथा तोडती हुई बढती चली जाती है। इसीलिए राजशेखर प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनो को काव्य के उत्कर्ष मे निमित्त मानते है। राजशेखर का यह कहना कि "सकलविद्यस्थानैकायतनं पंचदश काव्य विद्यास्थानमिति यायावरीयः, तद्धिशास्त्राण्यनुधावन्ति" अर्थात् काव्य समस्त विद्यास्थानो का एक मात्र आयतन है क्योकि शास्त्र उसका अनुधावन करते है—इस सन्दर्भ मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। काव्य, शास्त्र अर्थात् परम्परागत जीवन्त व्यवस्था के बीच से होकर चले और शास्त्र काव्य अथवा लक्ष्य की सर्जनाशक्ति प्रसूत काव्यात्मक सृष्टि के अनुरूप निर्मित होता रहे। शास्त्र शासन ही नही, अनुशासन भी है। पहले सद्वृत्तियाँ या सर्जनात्मक शक्ति मूर्त होती है और पश्चात् उसी के अनुरूप विधान बनते है। इसीलिए हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन लिखा—वाग्भट्ट ने उसी का अनुसरण किया। निष्कर्ष यह कि सर्जनात्मक शक्ति व्यवस्था में बँधती नहीं है, व्यवस्था से होकर गुजरती है। जहाँ तक काव्य के निर्माण की शास्त्रपूर्वक होने की बात है या भावन मे पूर्वनिर्धारित प्रतिमानो के प्रयोग का सम्बन्ध है, यह सब सहजा प्रतिभा के लिए कम और उत्पाद्या के लिए अधिक है। कहा ही है—स्वभावशुद्धम् हि न संस्कारमपेक्षते। कवित्व या महाकवित्व के लिए नवता की शर्त भी राजशेखर ने स्वीकार की है—

शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किंचन नूतनम्।
उल्लिखेत च न प्राच्यं मन्यतां स महाकविः॥

'नूतन-दर्शन सरस्वती या सहजा प्रतिभा कराती है जो जन्मान्तर संस्कार से उत्पन्न है, इसीलिए काव्य पुरुष को इन्होंने सारस्वतेय कहा है। ऐसी प्रतिभा

से सम्पन्न महाकवि यदि सुप्त भी हो तो भी उसे सब कुछ दिखाई देता रहता है, उसमें यह क्षमता होती है कि त्र्यक्ष एवं सहस्राक्ष भी नहीं देख पाते, जो चर्म चक्षु महाकवि को सूझता रहता है। लगता है कि उसके मति-दर्पण मे सारा विश्व प्रतिबिंबित हो रहा हो। ऐसे महात्माओं के समक्ष शब्द एवं अर्थ अहमहमिकया दौडते रहते हैं। इस प्रकार की तमाम बाते जो नूतनार्थदर्शी, नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा से सम्पन्न महाकवि के लिए सुनी जाती है, राजशेखर की इन बातो से सहमति यह सिद्ध करती है कि उन्हे सहज शक्ति या प्रतिभा मे बड़ी आस्था है। इस प्रकार निश्चय ही किसी भी संस्कार की अपेक्षा न रखने वाली सहजा प्रतिभा निर्माण की दृष्टि से कवि के लिए अनुपम है पर यदि कहीं स्वस्थ परम्परा या अनुरूप व्यवस्था का भी योग हो जाए तो सोने मे सुहागा की स्थिति हो जाती है, और वह राजशेखर को मान्य है। काव्य निर्माण के सन्दर्भ मे बुद्धिमान शिष्य की बुद्धि निसर्गत: शास्त्र का अनुधावन करती है, उसे संस्कार की अपेक्षा नही है अर्थात् सहज शक्ति जिस रसे जानी, है व्यवस्था निसर्गत: उसमें आ जाती है। यायावर का मत है— "प्रतिभैव परिकर:" अर्थात् कवि की काव्ययात्रा मे केवल प्रतिभा ही परिकर है।

"न निसर्ग कवि:...... ...." इत्यादि मे भी वे कवि की निसर्ग शक्ति को महत्त्व देते प्रतीत होते है। ये सब बाते निश्चय ही सर्जनात्मक शक्ति को महत्ता देती हैं। शास्त्र निखार लाने में सहायक हो सकता है, इससे भी उन्हे ऐतराज नही है और सबसे बडी बात यह है कि—

"इयं सा काव्यमीमांसा काव्यव्युत्पत्तिकारणम्"

यह 'काव्यमीमासा' अव्युत्पन्न लोगों के लिए कुछ विधि निषेध की बातें बता रहा है, काव्य यात्रा के लिए शास्त्रज्ञान के अर्जन की बात कर रहा है— जिनके पास निसर्गत: सूझ-बूझ है उनके लिए यदि और भी उत्कर्ष काम्य हो तो शास्त्राभ्यास उनमे निखार ला सकता है। जो राजशेखर स्वभाव मधुर द्राक्षा मे भी चासनी का संस्कार चाहता है, वह (शक्ति या तज्जन्य) सहजा प्रतिभ के निखार के लिए यदि व्युत्पत्ति की आवश्यकता माने तो आश्चर्य क्या है? यही बात भावन पक्ष से भी कही जा सकती है। सहजा भावयित्री ही कवि के श्रम और अभिप्राय को समझकर लोक को समझा सकती है, दसों दिशाओ मे उसके निबंध का प्रसार कर सकती है, उसके व्यापारतरु को निष्फल होने से बचा सकती है—सफल कर सकती है। अन्ततः वह कवि का क्या-क्या लाभ नहीं कर सकती? पूर्व निर्धारित प्रतिमानों के आधार पर ही यदि भावना ने काव्य का स्वरूप एवं वैशिष्ट्य उद्घाटित किया तो वह स्वयं में क्या रही?

दोष गुण का विवेक स्वयं की सूझ-बूझ से भी सम्भव है—अतः काव्यमीमांसा के संदर्भ में उठायी गयी मौलिक आपत्तियाँ निरस्त हो जाती है। उनका मार्ग समन्वय का मार्ग है—अर्थात् सर्जनात्मक शक्ति की आपेक्षिक महत्ता उन्हे स्वीकार्य है, पर व्यवस्था भी उस विकास का अंग बनकर साथ दे तो निर्माण उत्कृष्ट होगा, अवरुद्ध नही।

रही दूसरी समस्या और वह यह कि इस या ऐसी प्राचीन कृतियों में जो प्रतिमान या प्रशासन घोषित किए गये है उनकी वर्तमान भारतीय काव्यधारा के सन्दर्भ मे किसी चरितार्थता की सम्भावना है या नही? मेरी तो धारणा है कि वह भी है। कतिपय प्रतिमान और विचार इतनी चिरंतन सम्भावनाओ से संवलित हैं कि उनके प्रकाशन की आवश्यकता है। समीक्षा या आलोचना के सन्दर्भ मे आज जितने प्रश्न उठ रहे है, काव्यमीमासागत भावक या भावयित्री प्रतिभा के विवेचन के सन्दर्भ मे उनमे से बहुतो का समाधान विद्यमान है, जैसे समीक्षा का प्रशस्त रूप दोष गुण का निर्णय है या मूल भावभूमि या मन्तव्य तथा प्रकाशन में नियोजित उपकरणो की तारितमिक अवस्थिति का अनुरूप उद्घाटन? अर्थात् निर्णयात्मक समीक्षा समीक्षा है या व्याख्यात्मक? समीक्षा स्वयं में एक सृष्टि या सर्जना है या नही? और सर्जनात्मक नही है तो क्या विजडित है? यदि समीक्षा सर्जना है तो काव्यात्मक सृष्टि के मूल में रहने वाली सर्जना और भावनात्मक समीक्षा के मूल में रहने वाली सर्जना में क्या अन्तर है? क्या कवि के भावन और भावक के भावन में अन्तर नही है? जिस भावभूमि पर काव्यतरु की प्रसृति हुई है, क्या वही भावभूमि भावनतरु के अंकुरण और प्रसार में अपेक्षित है या भिन्न? एक तो कैसे और भिन्न तो कहाँ? जिस प्रकार कवि का लक्ष्य पाठक को आस्वाद कराना है उसी प्रकार भावक का लक्ष्य सामान्य पाठक तथा भावन के माध्यम से मूलकृति का आस्वाद पहुँचाना है या नही? क्या भावक का व्यापार कृति को खंड-खंड विश्लेषित कर उसके संश्लिष्ट प्रभाव या सौन्दर्य की हत्या करना है? भावक पहले कवि से तादात्म्य कर उसकी मूल मनोभूमिका का साक्षात्कार करता है और फिर तटस्थ होकर सूझ-बूझ के साथ उसका मार्मिक व्याख्यान तथा विश्लेषण। क्या एक ही भावक में तादात्म्य और ताटस्थ दोनों ही सम्भव हैं? रचना की भावना में रचयिता की आनुवंशिकता और परिवेश, साथ ही मनोगुहा का अन्वेषण कहाँ तक उपादेय है? ये तमाम साम्प्रतिक प्रश्न हैं जिनके अनुरूप संकेत और सम्भावनाएँ राजशेखर की पंक्तियों में मिल सकती हैं।

● ●

तीन | समीक्षा और भारतीय काव्य-सिद्धान्त

समीक्षा मे ईक्षा का सम्यक्त्व निहित रहता है। ईक्षा स्रष्टा भी करता है अपनी सृष्टि के निर्माण से पूर्व और ईक्षा सहृदय भी करता है सृष्टि की। प्रस्तुत सन्दर्भ में ईक्षा का विचार सहृदय ग्राहक की ओर से किया जा रहा है अत ईक्षा केवल चाक्षुष व्यापार ही नहीं है, बुद्धिपूर्वक किया गया चाक्षुष व्यापार है। काव्य विश्लेषण के प्रसग मे ईक्षण व्यापार की परिसमाप्ति केवल बुद्धिपूर्वक किये गये चाक्षुष व्यापार तक ही नही अपितु बुद्धिपूर्वक किये गये चाक्षुष व्यापार की दोषगुणानुसन्धानात्मिका परिणति तक है। इस परिणति की दृष्टि से आरम्भ मे चाहे आलोच्य सृष्टि से प्राथमिक सम्पर्क प्राप्ति के निमित्त बाह्य ज्ञानेन्द्रियों को माध्यम बनना पड़े, पर अन्ततः यह प्रकान्त ईक्षणा विशुद्ध बौद्धिक व्यापार ही मननात्मक या आलोचनात्मक अथवा ऊहापोहात्मक व्यापार के रूप मे ही शेष रह जाता है। इस प्रक्रिया में ग्राहक पहले बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से एक समष्टि प्रभाव ग्रहण करता है, तदनन्तर इस समरस प्रभाव या आस्वाद के अभिव्यंजक उपकरणो के उस तारतमिक अवस्थान का समाधिपूर्वक साक्षात्कार करता है जो रचयिता के मानस मे आलोच्य सृष्टि के निर्माण के सन्दर्भ में हुआ था। यदि ये उपकरण वास्तविक प्रतिभा की प्रसूति हैं तो इनमे प्रातिभ प्रसवात्मक उपकरण आनन्दवर्द्धन के शब्दों मे यत्नन- प्रत्यभिज्ञेय हैं। निष्कर्ष यह कि ईक्षा उपर्युक्त प्रकार की अपरोक्षानुभूति है। समीक्षक इस दृष्टि से साक्षात्कृतधर्मा ऋषि या द्रष्टा है। पर इस प्रकार की ईक्षा की अन्तिम परिणति केवल उन प्रातिभ उपकरणो की तारतमिक अवस्थिति का साक्षात्कार नही अपितु साक्षात्कार-पूर्वक सशक्त वाचिक प्रकाशन में है।

ऊपर ईक्षा का जो विवेचन किया गया है उससे दो निष्कर्ष स्पष्ट है जो एक विकल्प को जन्म देते है। विकल्प यह है कि ईक्षा आलोच्य सृष्टि का बुद्धिपूर्वक दर्शन तत्पुरस्सर दोषगुणोद्घाटन है जिसके लिये पूर्व निर्धारित प्रतिमान स्थिर

कर दिये गये है अथवा ईक्षा स्रष्टा के मानस में काव्यसर्जनोचित उपकरणो के तारतामिक अवस्थान का साक्षात्कारपूर्वक वाचिक प्रकाशन तथा विविध उपकरणो का अन्यत: प्रत्यभिज्ञान और उनका निरूपण ? जिन भारतीय आचार्यों ने लक्षण ग्रन्थो के निर्माण के माध्यम से काव्य-सिद्धान्त अथवा काव्योचित प्रतिमानो के स्थापन में इतनी प्रातिभ शक्ति का विनियोग किया उनका आशय ईक्षण में सम्यक्त्व का आधान करने की दृष्टि से पूर्ववर्ती विकल्प पर कही हो सकता है। कारण, सहृदय समीक्षक यदि तटस्थ रूप से निर्धारित प्रतिमानो की सहायता कृति की आलोचना मे न ले सका तो ऐसी आलोचना मे वैयक्तिक प्रतिक्रियात्मकता की सम्भावना हो सकती है जिसमे अपेक्षित तटस्थता का अभाव हो सकता है और ऐसा होने से ईक्षा मे सम्यक्त्व का होना संदिग्ध हो सकता है। आलोचक विरुद्ध धर्माश्रयी है। उसमे कृति की अन्तरात्मा की प्रत्यभिज्ञा के निमित्त तादात्म्य की भावना तो अपेक्षित है ही, तादात्म्य द्वारा प्रत्यभिज्ञा के अनन्तर विश्लेषण के सन्दर्भ में तटस्थता की भी आवश्यकता है। यह तटस्थता पूर्व निर्धारित काव्य-सिद्धान्तों या प्रतिमानों के प्रयोग से ही सम्भव है, अन्यथा समीक्षक की वैयक्तिक एवं तदाचरित दोष गुणनिरूपण की सम्भावना हो सकती है।

दूसरा विकल्प भी कम महत्त्वपूर्ण नही है, बल्कि वर्तमान समीक्षा धारा में तो यह माना जाता है कि यदि कृति प्रतिभाप्रसूत है तो उसमे नवता अवश्य होगी। और नवता होगी तो पुराने लक्ष्यो से निकाले गये प्रतिमान उसके लिये पर्याप्त नहीं होंगे और उस पर उन्हे कसना उनके महत्व निरूपण की दृष्टि से अनुचित होगा। अत: सच्चे अर्थों में देखा जाय तो प्रत्येक प्रातिभ सृष्टि का प्रतिमान उसी में निहित है, दूसरे लक्ष्य मे निकृष्ट प्रतिमान दूसरे पर लागू कैसे किया जा सकता है ? इस प्रश्न से पूर्वनिर्धारित प्रतिमान किसी भी प्रातिभ सृष्टि की ईक्षा में सम्यक्त्व नही ला सकता है। फलत: समीक्षा पूर्वागत प्रतिमानों या काव्य-सिद्धान्तो के आधार पर गुणदोषोद्घाटन नहीं; अपितु प्रातिभ सृष्टि के मूल तन्तुओं की अन्ततः प्रत्यभिज्ञा और उनकी बारीकियों का वाचिक प्रकाशन के ही रूप में यही अधिक संगत है। यही कारण है कि इस नवालोक में पूर्ववर्ती विकल्प की समीक्षा को रूढ़ परम्परा विजड़ित, सम्भावनारहित, विश्वविद्यालयीन, अध्यापकीय और न जाने किन-किन आक्षेप्य शब्दो से स्मरण किया जाता है।

सचमुच प्रतिभा लोचनकार के शब्दों में अपूर्व वस्तु निर्माणक्षम प्रज्ञा, महिम भट्ट के निरूपण में 'साहि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमितिगीयते' तथा पण्डितराज

के रसगंगाधर में 'सा हि काव्यार्थानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः' के रूप में स्मृत की गई है। प्रतिभा काव्य में निरूपणीय जिस वस्तु का दर्शन करती है वह केवल इसी माने में अपूर्व है कि वह प्रत्यक्ष प्रमाण या बिम्बात्मक है। कारण, वस्तु या तो परोक्ष या सामान्य हो सकती है अथवा अपरोक्ष या अशेष विशेष सवलित। काव्यार्थात्मिक वस्तु इसी माने में अपूर्व है कि वह उक्त दोनों लोकप्रसिद्ध एवं पूर्वानुभूत रूपों से भिन्न है। यही उसकी नवता है। आनन्दवर्द्धन ने नवता का रहस्योद्घाटन करते हुये कहा है—"सर्वे नवा इवाभान्ति काव्ये रस परिग्रहात्"। काव्यवर्ण्य यदि सर्वथा अदृष्टपूर्व हो तो वह अजायबघर हो जायगा, अतः रहता तो पूर्वदृष्ट ही है पर कवि के मानस में समुच्छलित काव्योचित अनुभूति के सरस प्रवाह में आपाद मस्तक भींग कर निकलने के बाद लगता है जैसे इन्हे इस रूप में पहले कभी देखा ही न हो। ऐसे अपूर्व अथवा नव बिम्बार्थों का साक्षात्कार करने वाला प्रातिभ चक्षु सर्वमान्य रूप में प्रसिद्ध दो चर्मचक्षु तो नहीं है, वह कोई तृतीय ही है। काव्योचित अनुभूति एवं सामान्यानुभूति में अन्तर पण्डितराज की प्रतिभा-व्याख्या में निहित है। उनके मत से सामान्य अनुभूति और काव्यनिर्माणोपयोगी काव्यविहित पूर्ववर्ती अनुभूति दोनों में अन्तर यही है कि एक अनुरूप अभिव्यञ्जक माध्यम शब्दार्थ से हीन होती है और दूसरी सही शब्दों में ही उभरती है। वक्रोक्तिकार ने बहुत ठीक कहा है—अलंकृतस्यैव काव्यत्वम्, न तु काव्यस्यालंकारः। वस्तुतः समझाने के लिये अलंकृति एवं अलंकार्य का भेद होता है अन्यथा काव्य का स्वरूप अखण्ड है—वह केवल काव्य है और कुछ नहीं। निष्कर्ष यह कि नवता संचालित काव्यसृष्टि की आलोचना पूर्वागत लक्ष्यों पर आधारित प्रतिमानों पर परख कर गुणदोषोद्घाटन नहीं, वरन् उसके मूलवर्ती उपकरणों की तारतमिक स्थिति का समाधि या आकारपूर्वक यत्नतः प्रत्यभिज्ञान तथा उसका वाचिक प्रकाशन ही है।

समीक्षा की इस परवर्ती विकल्पना का समर्थन अभिनव गुप्त ने भी किया है और सर्वत्र रसात्मक प्रतिमान का प्रयोग करने वाले भट्टनायक को रसान्ध तक कह दिया है। उन्होंने कहा है कि किसी भी कृति की समीक्षा के लिये देखना यह आवश्यक है कि उसके संघटक उपकरणों में कवि प्रतिभा का संरम्भ या अभिनिवेश किस पर है। वही उद्रिक्त एवं केन्द्रीय तथा मुख्य है। उसी को महत्त्व समीक्षक को भी देना चाहिये। जहाँ काव्यप्रभावकारी तत्व अनुभव से कोई अन्य ही प्रतीत हो वहाँ अनौचित तथा पूर्वगृहीत प्रतिमान का प्रयोग अन्धता है—ऐसी ईक्षा में सम्यक्त्व नहीं होगा। दशरूपककार ने ठीक कहा है कि प्रतिमान असमर्थ आलोचकों के लिये कुछ दूर तक सहायक है। वास्तव में

तो समीक्षा की असिधार यात्रा में तात्कालिक निर्णय देने वाली स्वकीय भावयित्री प्रतिभा ही सर्वोपरि है। दशरूपककार ने नियमों का निर्देश करते हुये कहा तो सर्जकों के लिये है पर उसका उपयोग आलोचकों के सन्दर्भ में भी उपर्युक्त ढंग से हो सकता है। कदाचित् यही कारण है कि निर्णयात्मक समीक्षा की तुलना में व्याख्यात्मक समीक्षा आज अधिक संगत मानी जाती है। अस्तु।

समीक्षा के उपर्युक्त विवेचन के आलोक में जहाँ तक भारतीय काव्य सिद्धान्तों के प्रयोग और उपयोग का सम्बन्ध है उसका विचारित मुख्य पक्ष यही है कि समीक्षक को समीक्षा यात्रा में कविप्रतिभासरम्भगोचरीभूत तत्व का प्रातिभ आलोक में समर्थ साक्षात्कार करना चाहिये और फिर देखना चाहिये कि लक्ष्यीभूत सौन्दर्य या चमत्कार के समुद्घाटन में प्रयुक्त उपकरण कहाँ तक समर्थ है या नहीं है। भारतीय आचार्यों ने रस सिद्धान्त को सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण मानते हुए भी यह कहीं नहीं कहा है कि काव्य की महत्ता का उद्घाटन सर्वदा एवं सर्वत्र रसात्मक प्रतिमान की ही दृष्टि से किया जाना चाहिये। निर्माण के मूल में जो वृत्ति ही न होगी, प्रभाव ग्रहण की दृष्टि से काव्यवृक्ष की कलात्मक परिणति ही वह कहाँ तक हो सकेगी? इसलिये निर्माण के मूल में सक्रियवृत्ति का साक्षात्कार किये बिना समीक्षा यात्रा की राह में एक भी पग नहीं दिया जा सकता।

भारतीय काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो सामा-जिक को केन्द्र में रखकर प्रतिष्ठापित किया गया है। वह काव्य को न तो असा-माजिक या वैयक्तिक मानने के पक्ष में है और न तो आध्यात्मिक। कारण, आध्यात्मिक भी अन्ततः वैयक्तिक ही है। सामाजिक वही है जिसमें सामाजिकता के संस्कार हों, सामाजिकता सम्पन्न हृदय के हृदय का संवाद वर्ण्य विषय के सामाजिक होने से ही सम्भव हो सकेगा। यह सामाजिकता औचित्य का पर्याय ही है, इसीलिये आनन्दवर्द्धन ने कहा है—

> अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
> औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का कोई कारण नहीं और औचित्य का उपनिबन्ध रस की परा उपनिषत् है। रसात्मक सिद्धान्त में काव्यमूलक एवं काव्येतर मूल्य का प्रश्न नहीं उठता, वहाँ वे समरस हैं। जिन्हें कतिपय समीक्षक काव्येतर मूल्य समझते हैं वे वस्तुतः अभिव्यंजक उपकरणगत औचित्य है जो समस्त उपकरण को रसपर्यवसायी बनाने में पूर्ण योग देते हैं। इसीलिये अभि-

नवगुप्त ने प्रीति को परमफल कहते हुए व्युत्पत्ति की निरायास सस्थिति स्वीकार की है। इस प्रकार भारतीय काव्यचर्चा मे रस सिद्धान्त को सर्वातिशायी मानते हुए भी उसी को प्रतिमान मानकर किसी भी कृति की समीक्षा का आग्रह नही किया गया। यदि काव्य मनुष्य के लिये है तो वह अपनी सामाजिकता ही मे मनुष्य है—असामाजिकता मे यदि गिरता है तो केवल पशु है और उठता है तो वैयक्तिक साधक। हाँ वर्तमान जीवन मे सर्वजनसामान्यहिता वह मान्यताओं की अर्थी उठ रही है और वे है भी तो केवल मुखौटा। ऐसे जीवन का प्रतिफलन कहाँ तक सामाजिकता-गर्भ होगा ? फलतः उसमें रसात्मकता की सम्भावना कहाँ होगी ? पर ऐसी स्थितियाँ सक्रान्तिकालीन होती हैं। उनको स्थायी मानकर एक संगत सिद्धान्त का तिरस्कार भी नही किया जा सकता। लेकिन इन सबके बावजूद मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि समीक्षा में इस सिद्धान्त का ही प्रयोगरक खरे-खोटे का निर्णय करना चाहिये।

इसी सिद्धान्त के अतिरिक्त जितने भी अन्य भारतीय काव्यमत (अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य) है वे सबके सब व्याख्योपयोगी ही है। हाँ, एक यह पृथक् प्रश्न है कि क्या इन तत्वो या उपकरणो के द्वारा आधुनिक काव्य बोध की व्याख्या की जा सकती है ? क्या इन सिद्धान्तो मे ऐसी कोई सम्भावनाएँ निहित हैं या ये निःशेष हो चुके है ?

इसप्रसग मे एक बात ध्यान देने की यह है कि उक्त सभी मतो को सिद्धान्त-मत कहना उचित नही है। मेरा तो मत है कि काव्य-सिद्धान्त के रूप में केवल ध्वनिमत को लिया जा सकता है, जहाँ सभी इतर मत-गत तत्वों की एक अवयवी के अन्तर्गत सगति व्यवस्थित हो गई है। मैं यह भी नही कहना चाहता कि आधुनिक काव्यबोध, आधुनिक काव्यानुभूति अथवा आधुनिक काव्यसौन्दर्य का विश्लेषण-व्याख्यान केवल उक्त तत्वो के द्वारा ही हो सकता है, ऐसा कहना पूर्वोक्त भारतीय समीक्षा संबंधी धारणा की अवहेलना है। जो भी तत्व काव्यानुभूति को उभारने मे कवि द्वारा प्रयुक्त किये गये हो उनके विवेचन के द्वारा काव्य सृष्टि की समीक्षा की जा सकती है। हाँ, इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि जो लोग अलकार से केवल परिसणित वचनभंगिमा (उपमोत्प्रेक्षा आदि) ही समझते है वे अलकार की अन्तरात्मा नही समझते। भारतीय आचार्यों ने अलंकार को वाग्भंगिमा या वाग्विकल्प कहा है और उसे अनन्त समझा है। अलकार कहने का एक काव्योचित अन्दाज़ है, अभिप्रेत के प्रकाशन का एक सशक्त ढंग है। अतः समीक्षा के सन्दर्भ में कोई

कथन पद्धति की भंगिमा का विश्लेषण करता है तो मैं नहीं समझता कि उसे वैसा क्यों नहीं करना चाहिये। अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्व के रूप में अलंकार यदि नियोजित हो गये हैं तो काव्य-सौन्दर्य कितना निखर उठता है, यह दिखाना व्याख्या की दृष्टि से सर्वथा उपेक्षणीय है क्या? काव्य-सौन्दर्य के व्याख्यान में यदि वह नादयोजना, लय योजना, वर्णयोजना, रंगयोजना, चित्रयोजना, वाग्भंगिमा का विश्लेषण करता है—तो ठीक ही करता है। नियम विधान कुछ दूर तक ही समीक्षा में सहायक है। अन्त तक और पुष्कल रूप में अपनी सूझ-बूझ ही सहायक हो सकती है। यही बात रीतिवाद तथा वक्रतावाद के विषय में भी कही जा सकती है। रीति विशिष्ट पद रचना ही तो है। यह रचना का वैशिष्ट्य जो निर्माता को अभीष्ट, है उसका अनावरण उसकी सृष्टि के रहस्य को स्पष्ट ही करेगा। वक्रतावाद के विषय में तो कुन्तक का स्पष्ट कथन है—'स्वभावस्यौजस्येन परिपोषणमेव वक्रतायाः परं रहस्यम्।' सामान्यतः 'क्या साहित्यदर्पणकार जैसा पुराना विवेचक वक्रता को केवल अलंकार समझता है और आचार्य शुक्ल उसे वाग्वैचित्र्यवाद के नज़दीक रखना चाहते हैं? वास्तव में वक्रता वह कवि व्यापार है जो अपने मूल प्रस्थान में ही सम्मान्य तथा व्यवहारोपयोगी अनाकर्षक ढंग से पृथक् कर लेता है। वर्ण्य वस्तु के संबंध में उसकी धारणा है कि उसमें सहज निहित सौन्दर्य को ही प्रतिभा की कुदाली से उभारने की क्रिया ही कवि व्यापार है, वक्रता है। यह सारा प्रयत्न कुन्तक की दृष्टि में सौन्दर्यानुरोधी तथा रसानुरोधी ही हुआ करता है। कुन्तक ने स्पष्ट कहा है कि वह वक्रता ही है, कवि व्यापार ही है जो वर्णनीय पदार्थ स्वभाव को सुन्दर एवं सरस रूप में उभारकर, कुरेद कर ऊपर रख देता है। उत्कृष्ट स्वभाव वाले वर्णनीय पदार्थ में लीन सौन्दर्य को बिना किसी प्रकार की प्रौढोक्तिवश अथवा आलंकारिक लेप लगाये बिना उभार देना चाहिए। इसीलिए कुन्तक के यहाँ स्वभाव एवं रस वर्ण्य है—अलंकार्य हैं। काव्य का प्रस्थान आज उस मोड़ पर है जहाँ आदर्श और स्वच्छन्दता नहीं, 'यथार्थ' चित्रणीय हो गया है। यदि वक्रोक्ति तथा यथार्थ दोनों को वाद के रूप में लें तब तो मूलवर्तिनी दृष्टि का भेद अवश्य है, अन्यथा आगन्तुक आलेप से वस्तु के स्वभाव का चित्रण और परीक्षण दोनों ही साध्य है।

रसवादी समीक्षात्मक प्रतिमान एक सुखकर काव्याध्ययनजन्य प्रभाव तथा उसकी व्याख्या है। यदि किसी रचना के मूल में तथाविध सरस मनोदशा है, यदि कोई काव्योक्ति कवि हृदय का सरस समुच्छलन है—ग्राहक ने उसका

साक्षात्कार किया है तो रसवादी व्याख्या का सहारा ले सकता है। बाद में चाहे रसवादी ढाँचा जैसा और जितना विजडित हो गया हो, पर मूलतः इसकी बड़ी ही व्यापक धारणा है। आनन्दवर्धन ने कहा है "चित्तवृत्तय एव रसा:" अर्थात् काव्यवर्ण्य से प्रभावित चित्तवृत्तियाँ ही रस है। उन्होंने अपना आशय स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि काव्य मे कुछ न कुछ वर्णित होगा ही और जो कुछ भी वर्णित होगा उससे पाठक की मनोदशा तरंगायित होगी। कवि ऐसी वस्तु का वर्णन ही क्यों करेगा जिससे पाठक अप्रभावित रह जाय ? वास्तव में सब प्रकार का प्रभाव रस ही कहा जाय, यह बड़ा विचित्र लगता है। पर विश्रान्ति और रस को पर्याय मानने वाला साहित्यदार्शनिक और कह क्या सकता है ? आनन्द मात्र मन की एक विश्रान्त दशा है (आत्मा की एक विश्रान्त दशा है), वह अभावात्मक भी हो सकती है और भावात्मक भी। रसमयता, तन्मयीभाव, संवादभावात्मक विश्रान्ति दशा है। इसके लिये निर्माता एवं ग्राहक में जिस मात्रा तक संवाद होगा, दोनों के मानस में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भावात्मक स्थिति होगी उतनी ही तन्मयीभाव की स्थिति प्राप्त हो सकेगी। महिम भट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक में स्पष्ट कहा है—"अमत्त एव रत्यादय: प्रतिबिम्बकल्पा ......हृदयसंवादादास्वाद्यत्वमुपयन्त: सन्तो रसा इत्युच्यन्ते।" वास्तव मे ये वे चिन्तक हे जो विजय जन को सुकर ढग से व्युत्पन्न करना चाहते हैं और कविव्यापार को विभावादिसंयोजनात्मा ही स्वीकार करते है। अस्तु, इस सिद्धान्त को समाप्त करने से पूर्व उस मूल वाक्य को पुनः दुहरा दें। चाहता हूँ कि यदि ग्राहक को किसी कृति के मूल में इस दृष्टि एव वृत्ति का साक्षात्कार करना हो तभी उसकी व्याख्या मे, तारतमिक रूप से अवस्थित सौंदर्योपकरणों की व्याख्या उक्त सिद्धान्त की दृष्टि से की जाय।

किसी ने बहुत ठीक कहा था कि पशु से हमारी विशेषता यह है कि पशु जीवन निर्वाह के लिये जो कुछ पाता है उसे उसका मूल्य जान बूझकर अपनी ओर से देना नही पड़ता। उससे जबर्दस्ती वसूल लिया जाय—यह बात दूसरी है, पर मनुष्य के लिये ददातिप्रतिगृह्णाति का विधान है और वह ऋणपूर्वक स्वयं करता भी है। वह समाज से जो कुछ लेता है बदले मे साहित्य हो तो देता है। यह व्यापार सामाजिक ऋण का शोधन है। वह वर्ण्य की दोनों प्रकार—धर्षणीय तथा विछेद—की सरणियों से होता रहा है। कालिदास ने शाकुन्तल मे, कुमारसम्भव मे द्वितीय प्रकार का सहारा लिया है। आज साहित्यकार से अधिकांश प्रथम प्रकार ही दृष्टिगोचर हो रहा है—यह भी ऋण शोधन की मानवीय भावना से प्रेरित होकर नही, अपितु सामाजिक यन्त्रणा

से पिसकर केवल आत्म चीत्कार, आक्रोश, रुदन एवं व्यंग्य के रूप में। यह अवश्य हुआ है कि वर्ण्य की गहराई चाहे कम हुई हो पर अभिव्यक्ति की यथार्थपरक बारीकियाँ और विधाएँ शिरश्चालनात्मक ढंग की आई हैं। आज वर्ण्य से अधिक साहित्यिकता वर्णना में केन्द्रित हो गई है। आलोचना से प्रमाद लेखन पर बहस के व्याज से की गई सम्पादकीय टिप्पणी में यह तथ्य स्पष्ट ही स्वीकार किया गया है।

इन बदले हुए सन्दर्भों एवं प्रसंगों में भी काव्य-समीक्षा के लिये भारतीय ध्वनि-सिद्धान्त उतना ही उपादेय है जितना पहले था। इसकी पुष्टि नये साहित्य के पक्ष पर समीक्षकों की पंक्तियों को उद्धृत कर की जा सकती है और अन्यत्र मैंने की भी है। आज का समीक्षक भी इस तथ्य या सत्य से सहमत है कि कवि को न केवल वर्ण्य के धरातल पर ही अपितु वर्णना के स्तर पर भी आत्मसंघर्ष करना पड़ता है। उनकी बात छोड़ें जिन्हें प्रतिभा प्रकृति प्रदत्त वरदान है। कारण, वे तो अनायास किसी अजान प्रक्रिया से वर्ण्य के अनुरूप अनिर्वचनीय शब्दार्थ योजना कर ले जाते हैं। पर जिन्हें यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है उन्हें हर वर्ण्य के लिये सही शब्द की तलाश में आत्मसंघर्ष करना पड़ता है।

लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिये कि ध्वनि-सिद्धान्त केवल पद्धति या अभिव्यक्तिगत ही है। वस्तु, अलंकार तथा दोनों के आगे बढ़कर रस ध्वनि के रूप में वह वस्तुगत भी है। इसलिये यह प्रतिमान अथवा व्याख्या-पद्धति सांगोपांग तथा पूर्ण है। यह ध्वनि विशुद्ध सुखकर प्रभाव की दृष्टि से तो सर्वातिशायी है ही, अपने अभिव्यञ्जक उपकरणों में निहित औचित्य अथवा सामाजिकता के कारण अपनी सामाजिक उपादेयता से भी 'सु' है। इस प्रकार बदले हुए वर्तमान सन्दर्भों में भी भारतीय काव्य-सिद्धान्त की महत्ता तथा उपादेयता अक्षुण्ण है। मैं अन्य आविष्कृत सौन्दर्य उपकरणों का निषेध नहीं करता और न तो काव्य में वर्तमान किसी नवीन 'सु' का प्रत्याख्यान ही करता हूँ।

● ●

चार | पुरातन और अद्यतन आचार्यों की दृष्टि में काव्यानुभूति

काव्यानुभूति को ग्रहण करने की व्याख्या में आज विभिन्न दृष्टियाँ दिखाई पड रही हैं। प्राचीन धारा के भाववादी (पूर्वी और पश्चिमी) काव्यचिंतक रसानुभूति या सौंदर्यानुभूति के पर्याय रूप में प्रायः 'काव्यानुभूति' शब्द का प्रयोग किया करते हैं। विज्ञान के प्रभाव में पलनेवाली नव-चेतना ने जहाँ सभी प्राचीन मान्यताओं पर एकबारगी प्रश्नवाचक चिह्न लगाया है—वहाँ 'काव्यानुभूति' विषयक प्राचीन मान्यता भी अछूती नहीं रही है। विज्ञान के आलोक में उभरने वाली वस्तुमुखी-दृष्टि के काव्यचिंतकों में कुछ एक की धारणा यह है कि लोकानुभूति में ग्राहक 'मन' और ग्राह्य 'सामग्री' की जो दशा और स्थितियाँ होती हैं, उससे किसी माने में भिन्न शब्दानुभूति के क्षेत्र में न तो ग्राहक 'मन' की स्थिति होती है और न ग्राह्य 'काव्य-सामग्री' की, फलतः काव्यानुभूति भी लोकानुभूति से भिन्न नहीं है। यदि लोक-व्यवहार में लौकिक सामग्री ग्राहक के मानस पर सुखदुःखमयी प्रतिक्रिया डाल सकती है, तो काव्य-सामग्री भी सुखदुःखमयी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकती है। यदि लोकानुभूति क्षोभकारिणी हो सकती है, तो काव्यानुभूति भी क्षोभकर होगी ही।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उक्त धारणा में थोड़ा परिवर्तन करते हैं। वे मानते हैं कि काव्यानुभूति भी एक प्रकार की लौकिक अनुभूति ही है, परन्तु अन्य लोकानुभूतियों की भाँति काव्यानुभूति सुखदुःखमयी होती हुई भी क्षोभकारिणी नहीं होती। इसका कारण बताते हुए वे लोकानुभूति में सक्रिय 'मन' और 'ग्राह्य सामग्री' की अपेक्षा काव्यानुभूति में 'सक्रिय मन' और 'काव्य सामग्री' की कुछ विशेषतायें बताते हैं। काव्यानुभूति के लिए सक्रिय और ग्रहणशील मन 'स्व' एवम् 'पर' की रागद्वेषमयी भावना से, सांसारिक योग-क्षेम की भावना से—व्यक्तिगत लाभ और हानि की शंका से— सर्वथा मुक्त रहता है और काव्य-सामग्री में लौकिक सामग्री की अपेक्षा यह विशेषता होती है कि वह ग्राहक सहृदय मात्र में एक ही कोटि की भावात्मक प्रतिक्रिया अनिवार्यतः

से घिसकर केवल आत्म चीत्कार, आक्रोश, ऋण एवं व्यंग्य के रूप में। यह अवश्य हुआ है कि वर्ण्य की गहराई चाहे कम हुई हो पर अभिव्यक्ति की यथार्थपरक बारीकियाँ और विधाएँ शिरश्चालनात्मक ढंग की आई हैं। आज वर्ण्य से अधिक साहित्यिकता वर्णना में केन्द्रित हो गई है। आलोचन से प्रमाद लेखन पर बहस के व्याज से की गई सम्पादकीय टिप्पणी में यह तथ्य स्पष्ट ही स्वीकार किया गया है।

इन बदले हुए सन्दर्भों एवं प्रसंगों में भी काव्य-समीक्षा के लिये भारतीय ध्वनि-सिद्धान्त उतना ही उपादेय है जितना पहले था। इसकी पुष्टि नये साहित्य के पक्ष पर समीक्षकों की पंक्तियों को उद्धृत कर की जा सकती है और अन्यत्र मैंने की भी है। आज का समीक्षक भी इस तथ्य या सत्य से सहमत है कि कवि को न केवल वर्ण्य के धरातल पर ही अपितु वर्णना के स्तर पर भी आत्मसंघर्ष करना पडता है। उनकी बात छोड़े जिन्हे प्रतिभा प्रकृति प्रदत्त वरदान है। कारण, वे तो अनायास किसी अजान प्रक्रिया में वर्ण्य के अनुरूप अपरिवर्तनीय शब्दार्थ योजना कर ले जाते हैं। पर जिन्हें यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है उन्हे हर वर्ण्य के लिये सही शब्द की तलाश में आत्मसंघर्ष करना पडता है।

लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिये कि ध्वनि-सिद्धान्त केवल पद्धति या अभिव्यक्तिगत ही है। वस्तु, अलंकार तथा दोनों के आगे बढ़कर रस ध्वनि के रूप में वह वस्तुगत भी है। इसलिये यह प्रतिमान अथवा व्याख्या-पद्धति सांगोपांग तथा पूर्ण है। यह ध्वनि विशुद्ध सुखकर प्रभाव की दृष्टि से तो सर्वातिशायी है ही, अपने अभिव्यञ्जक उपकरणों में निहित औचित्य अथवा सामाजिकता के कारण अपनी सामाजिक उपादेयता में भी 'सु' है। इस प्रकार बदले हुए वर्तमान सन्दर्भों में भी भारतीय काव्य-सिद्धान्त की महत्ता तथा उपादेयता अक्षुण्ण है। मैं अन्य आविष्कृत सौन्दर्य उपकरणों का निषेध नहीं करता और न तो काव्य में वर्तमान किसी नवीन 'सु' का प्रत्याख्यान ही करता हूँ।

● ●

चार | पुरातन और अद्यतन आचार्यों की दृष्टि में काव्यानुभूति

काव्यानुभूति को ग्रहण करने की व्याख्या में आज विभिन्न दृष्टियाँ दिखाई पड रही है। प्राचीन धारा के भाववादी (पूर्वी और पश्चिमी) काव्यचिंतक रसानुभूति या सौंदर्यानुभूति के पर्याय रूप मे प्रायः 'काव्यानुभूति' शब्द का प्रयोग किया करते है। विज्ञान के प्रभाव मे पलनेवाली नव-चेतना ने जहाँ सभी प्राचीन मान्यताओ पर एकबारगी प्रश्नवाचक चिह्न लगाया है—वहाँ 'काव्यानुभूति' विषयक प्राचीन मान्यता भी अछूती नही रही है। विज्ञान के आलोक मे उभरने वाली वस्तुमुखी-दृष्टि के काव्यचिंतकों में कुछ एक की धारणा यह है कि लोकानुभूति मे ग्राहक 'मन' और ग्राह्य 'सामग्री' की जो दशा और स्थितियाँ होती है, उससे किसी माने मे भिन्न शब्दानुभूति के क्षेत्र मे न तो ग्राहक 'मन' की स्थिति होती है और न ग्राह्य 'काव्य-सामग्री' की, फलतः काव्यानुभूति भी लोकानुभूति से भिन्न नही है। यदि लोक-व्यवहार मे लौकिक सामग्री ग्राहक के मानस पर सुखदुःखमयी प्रतिक्रिया डाल सकती है, तो काव्य-सामग्री भी सुखदुःखमयी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकती है। यदि लोकानुभूति क्षोभकारिणी हो सकती है, तो काव्यानुभूति भी क्षोभकर होगी ही।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उक्त धारणा मे थोडा परिवर्तन करते है। वे मानते है कि काव्यानुभूति भी एक प्रकार की लौकिक अनुभूति ही है, परन्तु अन्य लोकानुभूतियो की भाँति काव्यानुभूति सुखदुःखमयी होती हुई भी क्षोभकारिणी नही होती। इसका कारण बताते हुए वे लोकानुभूति में सक्रिय 'मन' और 'ग्राह्य सामग्री' की अपेक्षा काव्यानुभूति मे 'सक्रिय मन' और 'काव्य सामग्री' की कुछ विशेषतायें बताते हैं। काव्यानुभूति के लिए सक्रिय और ग्रहणशील मन 'स्व' एवम् 'पर' की रागद्वेषमयी भावना से, सांसारिक योग-क्षेम की भावना से——व्यक्तिगत लाभ और हानि की शंका से— सर्वथा मुक्त रहता है और काव्य-सामग्री में लौकिक सामग्री की अपेक्षा यह विशेषता होती है कि वह ग्राहक सहृदय मात्र मे एक ही कोटि की भावात्मक प्रतिक्रिया अनिवार्यत.

ACHAREMPOREUX. VA. 72

पैदा करती है। प्राचीन भाववादी चिंतकों के यहाँ काव्यानुभूति 'चर्वणा-विश्रांत' मानी जाती है जबकि शुक्ल जी उसे 'सत्कर्म-विश्रांत' मानते हैं। वे मानते हैं कि काव्य का लक्ष्य या सार्थकता यह है कि वह मानव को पाशविक संकीर्णता से ऊपर उठाता जाय और मानवीय भावनाओं को उत्तेजित करता हुआ सत्कर्म की ओर सक्रिय कर दे। प्रगतिवादी भी काव्य का लक्ष्य मनोनुकूल भावनाओं को उत्तेजित मात्र कर देने में नहीं वरन् प्रगतिशील तत्वों की ओर सक्रिय कर देने में स्वीकार करते हैं। या वे कभी-कभी तो यह भी कह देते हैं कि भाववादी चिंतकों के 'रस' से उन वस्तुवादी चिंतकों को मतलब ही क्या है? काव्य में यह पक्ष उनका विश्लेष्य ही नहीं है।

पश्चिमी मनोवैज्ञानिक काव्यचिंतकों का सहारा लेकर कुछ नए आचार्यों ने काव्यानुभूति को अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना स्वीकार की है। इसका कारण बताते हुये कहा है कि एक तो काव्य-सामग्री सूक्ष्म बिंबात्मक होती है, दूसरे अव्यवस्थित संवेदनों में व्यवस्था लाने वाला काव्य का 'भावन व्यापार' है। इन कारणों से संवेदनों में संतुलन आ जाता है, फलतः काव्यानुभूति आनंदमयी हो जाती है।

भारतीय प्राचीन भाववादी चिंतकों ने तो काव्यानुभूति को मनोमय भूमिका पर प्रतिष्ठित कर दिया है।

उपर्युक्त सभी मत किसी न किसी प्रकार पूर्णतः या अंशतः आनंदमयता की बात करते हैं। आनंदमयता मनोरमण का ही दूसरा नाम है और मनोरमण का अभिप्राय है तल्लीन होना, व्यक्तित्व को क्षण भर के लिए भूल जाना, अपने और पराए के अंतर का विगलित हो जाना। काव्य-सामग्री द्वारा जिस भाव में सहृदय का मनोरमण होता है उस भाव को सहृदय मात्र में उत्पन्न करने की क्षमता उस काव्य-सामग्री में हुआ करती है। इस प्रकार काव्यानुभूति में जहाँ तक आनन्दमय अनुभूति का स्थान है दो बातें आवश्यक हैं, एक तो व्यक्तित्व का विलयन और दूसरे काव्य-सामग्री का सामान्य होना, सब के प्रति समान रूप से भावोत्तेजक होना।

एक अन्य आचार्य हैं, जिनका कहना है कि काव्य द्वारा कवि अपने अनुभूत 'रस' का प्रकाशन करता है। वह अपने वैयक्तिक अनुभूत सत्य को समष्टिग्राह्य बनाना चाहता है, फलतः काव्य में विविध प्रयोगों का सहारा लेता है। इस अनुकूल 'सत्य' को वह सहृदय पाठक तक प्रेषित करना चाहता है। इनकी दृष्टि में समस्या यह खड़ी होती है कि वस्तुसत्य को ग्रहण करने की दो ही

दृष्टियाँ संभव है : 'आब्जेक्टिव' या वस्तुमुखी या तटस्थ अथवा 'सब्जेक्टिव' या आत्म संस्कार प्रक्षिप्त । स्पष्ट है कि 'सत्य' को ग्रहण करने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि से प्रथम प्रकार की ही दृष्टि उपादेय है । यदि हमने अंतःसंस्कारों से दृष्टि को रंजित करके वस्तु का ग्रहण किया तो वस्तु दृष्टि राग की प्रतिच्छाया में सवलित होकर गृहीत होगी । इस स्थिति में वस्तु-सत्य अपने मूल रूप में गृहीत न हो सकेगा । इसलिये तटस्थ रहकर ही ग्राहक ऋषि जैसे कवि द्वारा प्रकाशित आत्मसत्य का ग्रहण कर सकता है । निष्कर्ष यह है कि इस आचार्य की दृष्टि से काव्यानुभूति कवि के व्यक्ति-सत्य का तटस्थ ग्राहक द्वारा किया जाने वाला ग्रहण है । इसका यह भी अभिप्राय है कि कवि के आत्म-सत्य या व्यक्ति-सत्य का ग्रहण ग्राहक अपने व्यक्तित्व की विवेक-शक्ति या बौद्धिक सजगता को खोकर नहीं कर सकता । इस प्रकार काव्य-अनुभूति की वेला में एक तरफ़ ग्राह्य 'व्यक्ति-सत्य' में कवि का व्यक्तित्व और दूसरी ओर ग्राहक-सहृदय का सजग व्यक्तित्व या विवेक-शक्ति दोनों का सह-अस्तित्व आवश्यक है । इस द्विविध व्यक्तियों के सह-अस्तित्व में ही होने वाली काव्यानुभूति 'सह-अनुभूति है । फलतः काव्यानुभूति के लिये न तो ग्राहक के व्यक्तित्व का विलयन ही कहना युक्तियुक्त है और न तो ग्राह्य-सामग्री की व्यक्तित्व-हीनता या सार्वभौमरूपता । इस प्रकार रसानुभूति के लिए जिन आधारों की अपेक्षा बताई जाती है वह प्रयोगवादी (नई) कविता के लिए अनावश्यक है । ऐसे काव्य की अनुभूति के लिए 'रसानुभूति' नहीं 'सहअनुभूति' शब्द का ही प्रयोग समुचित है ।

इस मत की समीक्षा करते हुए एक अन्य समीक्षक का कहना है कि सह-अनुभूति में भी तीव्रता आते ही विवेक और व्यक्ति चेतना का लोप हो जाता है । जहाँ नहीं हो पाता, वहाँ अनुभूति की क्षीणता अधिक होती है, रस चक्र में उसके लिये भी स्थान है । इसलिए रसानुभूति और सह-अनुभूति में भेद नहीं है—भेद का आभास मात्र है और सह-अनुभूति रसानुभूति से भिन्न नहीं, वरन् प्राय. उसकी पूर्व दशा होती है । यह तो पाठक कवि के साथ सह-अनुभूति ही करता है, फिर चूँकि कवि की अनुभूति प्रायः पाठक की अनुभूति से प्रबलतर होती है, अतः पाठक की अनुभूति का उसमें विलय हो जाता है ।

'सह-अनुभूति' संबंधी प्रस्तुत समीक्षण से मेरा मतभेद है । मतभेद का कारण यह है कि 'सह-अनुभूति' वाले चिंतक काव्यात्मक अभिव्यक्ति के मूल में 'व्यक्ति-गत संवेदन' अथवा 'बुद्धिवृत्ति' को उदग्र मानते है । वे मानते हैं कि युग का व्यंजित होने वाला व्यक्तित्व बौद्धिक है । यदि काव्य को वृक्ष-स्थानीय माना जाय

तो कविगत बुद्धि वृत्ति को बीज-स्थानीय मानना पड़ेगा। इस प्रकार यदि बीज बुद्धि रूप है तो ग्राहकगत काव्य-वृक्ष की फलात्मक परिणति भी 'बुद्धि' रूप ही होगी। इसलिये चिंतनगृहीत 'व्यक्ति सत्य' या 'युग सत्य' या 'सत्य' का ग्राहक सजग व्यक्ति व्यक्तित्व-विलयकारिणी भावना में न मग्न होकर उत्तेजित बौद्धिक वृत्ति का अनुभव करेगा। परन्तु काव्य के संदर्भ में अकाव्य से काव्य का व्यावर्तक कवि-गत 'बुद्धिवृत्ति' नहीं प्रत्युत 'भाववृत्ति' है। इस सामान्य मान्यता मे ही 'सह-अनुभूति' का संस्थापक अपना प्रस्थान भिन्न कर लेता है। ऐसी दशा में उसको 'सह-अनुभूति' से 'रसानुभूति' मे मात्रा का ही भेद मानना युक्तिसंगत नही है। जहाँ तक व्यक्ति-सवेदन के कविगत बीज-स्थानीय होने का सबंध है—उसका यदि काव्योचित परिष्कार किया जाय तो उसकी रसात्मक परिणति सहज सभव है। प्रगीत मात्र में जो वैयक्तिक अनुभूति (सब्जेक्टिविटी) अभिव्यंजित होती है वह लोकानुभूति मे नही प्रत्युत प्रेरणाकाल मे ही अभिव्यक्त होती है। 'प्रेरणा' का जो स्वरूप बताया गया है उसमें सार्वभौम तत्वो का समावेश होता है। ऐसे ही सार्वभौम तत्वो से समन्वित वैयक्तिक भाव या वैयक्तिक सवेदन काव्य-वृक्ष के रूप मे फैलकर कलात्मक परिणति 'रस' के रूप में ही करते हैं।



पाँच | पुरातन और अद्यतन साहित्य और साधारण प्रतिमान

प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य (काव्य) के मूल्यांकन के निमित्त जब शाश्वत प्रतिमान की बात पूछी जाती है तब कई जिज्ञासाएँ एक साथ खड़ी हो उठती है। पहली यह कि साहित्य या काव्य में प्राचीनता और अर्वाचीनता की पहचान अथवा भेदक रेखा क्या है? दूसरी यह कि परिवर्तनशील प्रकृति की सृष्टि मात्र में 'शाश्वत' की बात क्या संभव है? तीसरी यह कि क्या 'शाश्वत' से अभिप्राय 'कविता' और 'अकविता' अर्थात् काव्य और काव्येतर वाङ्मय के भेदक तत्व से तो नहीं है? चौथी यह कि क्या प्रतिमान प्राचीन और अर्वाचीन रुचि से परिचालित काव्य-सृष्टि के मूल्यांकन में मध्यमार्गी भी हो सकता है? इसी प्रकार की और जिज्ञासाएँ और समस्याएँ सम्भव हैं।

यों तो प्राचीनता और अर्वाचीनता दो ऐसे सापेक्ष शब्द हैं जो अविरल प्रवहमान काल के किसी भी खण्ड के लिए प्रयुक्त किये जा सकते हैं, परन्तु वर्तमान संदर्भ में प्राचीनता और अर्वाचीनता की भेदक रेखा मैं विज्ञान और वैज्ञानिक प्रभाव को मानता हूँ। धर्माध्यात्म से आक्रान्त मानस जिस जिस साहित्य का उत्स है, वह प्राचीन और विज्ञान की उपलब्धियों से प्रभावित मानस जिस साहित्य का प्रभूति-स्रोत है, वह आधुनिक। 'सत्य' की अभिव्यक्ति अथवा अभिव्यक्ति के माध्यम में सत्य की तलाश दोनों प्राचीन और आधुनिक का ही लक्ष्य है, पर दोनो की प्रक्रिया, माध्यम और उपकरण भिन्न हैं। 'प्राचीन' सत्य को इन्द्रिय और बुद्धि से परे मानता था—फलतः सुचिन्तित विचार पद्धति, आन्तरिक भावना और लोकातीत तत्त्वों को महत्व देता था जब कि आधुनिक सत्य को इन्द्रिय, बुद्धि और प्रयोगों के माध्यम से जानना चाहता है और तदर्थ समस्त प्राचीन मान्यताओं को वर्जित कर स्वयं नयी जमीन तोड़ता है—कल्पना दर्शन और भावना की जगह यथार्थ गैर-रोमान्टिक भावधारा को महत्त्व देता है। जहाँ प्राचीन 'भाव' से 'रूप' की ओर आता था, वहाँ अर्वाचीन 'रूप' से 'भाव' की ओर जा रहा है। जहाँ प्राचीन 'राग' के उत्तेजक मूल रूप और व्यापारों की योजना करना अपना कवि-कर्म समझता था, वहाँ आधुनिक

'राग' की अपेक्षा रागात्मक जटिल सम्बन्धों की अभिव्यक्ति पर बल देता है। प्राचीन और आधुनिक दोनों ही अनुभूति को काव्य का मूल उत्स मानते हुए भी आज यह स्वीकार कर रहे हैं कि प्राचीन अनुभूति की बनावट और बुनावट के उपादान और उपकरण सर्वथा परिवर्तित हो गए हैं। इस मूल परिवर्तन के सन्दर्भ में उभयविध साहित्य के लिये अपेक्षित प्रतिमानों की भिन्नरूपता वाली माँग सहज अपेक्षित लगती है।

प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन के लिये तात्कालिक चिन्तकों ने जीवन और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में अपने प्रतिमान निर्धारित कर लिये थे। आधुनिक चिन्तक अभी संक्रान्ति और प्रयोग काल में हैं---ऐसी स्थिति में है जहाँ उन्होंने समस्त पुरातन मान्यताओं की वर्जना तो कर दी है, पर सर्जना के नाम पर अभी स्पष्ट नहीं है। व्यक्तिवादिता के कोलाहल में कहीं कुछ आता भी है, तो वहाँ ऐकमत्य नहीं लक्षित होता। प्राचीन चिन्तक जीवन मूल्यों को औचित्य में डाल देते थे और औचित्य-गर्भ उपकरणों से प्रतिपाद्य लोकोत्तर आह्लाद (रस) को काव्य का सर्वोत्कृष्ट प्रतिमान मानते थे। आधुनिक चिन्तकों ने नये साहित्य के संदर्भ में प्रतिमान पर इधर जो कुछ सोचा-विचारा है, उससे एक ही प्रतिमान सामने आता है और वह है—यथार्थ की अनुभूति या अनुभूति की यथार्थता। आज के कवि-अकवि का लक्ष्य है—यथार्थ को बेनक़ाब और नग्न रूप में रखना, हो सके तो नक़ाब पर आक्रोश और नकाबधारियों पर व्यंग्य करना। ग्राहक की रुचि भी आज यही सोचती है। कलात्मक उपकरण भी अनुरूप-पद्धति से आविष्कृत किये जा रहे हैं। प्रयोगवाद तक शैली पक्ष ही आक्रामक था, आज तो वैचारिक पक्ष भी आक्रामक हो गया है। इस प्रकार मध्यकाल या प्राचीनकाल तथा आधुनिककाल के रचनाकारों की मनःस्थिति और तत्प्रसूत साहित्य के मूल्यांकन की रुचियाँ और प्रतिमान निश्चय ही भिन्न रहे हैं।

उक्त विभिन्न रुचियों में प्रसूत प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य को मूल्यांकित करने के लिये मध्यममार्ग जैसी तो कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती; हाँ, यह अवश्य है कि कविता और अकविता अथवा काव्य और काव्येतर का भेदक कोई तत्व अवश्य है जिसे हम शाश्वत अथवा अपेक्षाकृत स्थिर प्रतिमान के नाम से कह सकते है।

अनुभूति को काव्य का केन्द्रीय तत्व प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही मानते है और सामान्य (कवि-अकवि-उभयगत जीवनानुभूति) अनुभूति से कवि की

अनुभूति का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कवि की अनुभूति मुखर होती है और तद्भिन्न की सही शब्द के अभाव में गूँगी। वास्तव में जो काव्य के धरातल पर अनुभूति उभरती है—वह अपनी अनुभूति के अनुरूप सही शब्दों में ही उभरती है। इस बात को प्राचीन और अर्वाचीन चिंतक समान रूप से स्वीकार करते हैं। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन ने कहा है—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्व प्रकाशयन्।
शब्दो व्यंजकतां बिभ्रद्‌ध्वन्युक्तेर्विषयो भवेत्॥

ध्वन्यात्मक शब्द ही काव्य है और ध्वन्यात्मक शब्द वह है जिसके अतिरिक्त और किसी शब्द से अन्यथा कथमपि अभीष्ट चारुता उत्पन्न न हो सके। दूसरी ओर अकविता तथा अन्य कला सन्दर्भ के लेखक और सर्जक डॉ० श्याम परमार यह कहते है कि उनका चित्रकार चित्र बना लेने पर भी शीर्षक के लिये सही शब्द की तलाश करता रहता है और सही शब्द मिल जाने पर अभिव्यक्ति की दिशा मे राहत का अनुभव करता है। इस प्रकार प्राचीन और नवीन काव्य का प्रतिमान **सही शब्द का प्रयोग** मानते है। यह एक ऐसा शाश्वत अथवा अपेक्षाकृत सही प्रतिमान है जो कविता के साथ-साथ विद्यमान रहेगा।

● ●

छ | आलोचना के नये मान

हिन्दी साहित्य के संदर्भ में (अथवा हिन्दी की नयी कविता के संदर्भ में) जब हम आलोचना के नये मान पर विचार करते है तो एक बारगी अनेक प्रश्न उठ खड़े होते है। पहला यह कि 'मान' से अभिप्राय क्या है ? यह कि 'मान' में 'नया' और 'पुराना' विशेषण क्या डाल देता है ? यह कि 'नया' और 'पुराना' अपनी परिभाषिकता मे स्थिर भी हो पाते हैं या अपनी शाश्वत सापेक्षता में अपरिभाषेय ही ठहरते है ? क्या 'नया' और 'पुराना' से रहित 'मान' स्वतः भी अपने आप में कोई अर्थ रखता है ? इस रूप में वह शाश्वत है ? जगत् और ससार मे क्या कुछ शाश्वत होता भी है और नही तो क्या आपेक्षिक स्थायित्व भी उसे नही मिल सकता ?

'मान' या 'नया मान' या 'नये मान' का सम्बन्ध जब कविता से जोड़ा जाता है या खास नयी कविता के सदर्भ में 'नये मान' की बात उठाई जाती है तब भी अनेक प्रश्न सिर उठाते हैं। जैसे यह कि क्या कविता से अभिप्राय केवल पद्यबद्ध साहित्य से है ? यह कि कविता के मूल मे जब सर्जनात्मक शक्ति निहित रहती है तब 'नवता' या नयापन इसका विशेषण नही अपरिहार्य स्वरूप है और जब ऐसी स्थिति है तब कविता मे 'नया' विशेषण क्यो ? साथ ही दूसरा प्रश्न यह कि क्या नयी कविता में 'नया' विशेषण सर्जनात्मकता प्रसूत 'नवता' से भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त है ? क्या उसका कुछ विशेष पारिभाषिक अर्थ है ?

प्रश्नावलियो का तीसरा पर्दा जब अनावृत होता है तब पहली जिज्ञासा यह उठती है कि क्या उन लोगो का प्रश्न सही नही है जो 'नई कविता के प्रतिमान' की बात करते हैं ? अथवा उन लोगों के सशोधन का क्या अभिप्राय है जो 'कविता के नये प्रतिमान' जैसे प्रयोग को वर्तमान सदर्भ मे अधिक सार्थक समझते है ? क्या 'आलोचना के नये मान' शीर्षक से वे सब अभिप्राय ही ध्वनित हैं अथवा उनसे उक्त शीर्षकों से कुछ और भिन्न अभिप्राय भी ध्वनित होता है ? साथ ही 'आलोचना के नये मान' की बात जब उठाई जाती है तब

क्या यह विचारणीय नहीं है कि 'आलोचना के पुराने मान' क्या हैं ? क्या 'पुराने मान' या 'पुराने मानों' की सभी सभावनाएँ समाप्त हो गई है जो 'नये मान' की माँग की जा रही है ? अथवा 'पुराने मान' की यत्किचित् संभावनाओं के शेष रहने पर भी कविता के सदर्भ मे 'नये मान' की माँग बराबर रहती आई है ? क्या 'मान' का प्रयोग जिस किसी भी कविता नामधारी प्रमेय के के लिए होता है, कविता-धारा की जिस किसी भी प्रवृत्ति के लिए होता है अथवा केवल 'वयस्क कविता' अथवा उस काव्यधारा की प्रवृत्ति-विशेष के लिए होता है जिसकी सभावनाओ ने उपलब्धियो का रूप ग्रहण कर लिया है ?

दार्शनिकों ने बौद्धिक भूमिका पर इस रहस्यमय संसार को विविध रूपो में विभक्त कर दिया है—माता, मान और मेय । यदि बुद्धि से परे भी कोई धरातल है तो वहाँ किन्ही विभक्त धरातलों की चर्चा नही है । जिज्ञासाबुद्धि का सहज स्वभाव है और इसकी तृप्ति के लिए वह विभिन्नमानों की सृष्टि कर लिया करती है । पर क्या इन मानों के द्वारा वह समस्त प्रमेय को उसकी अतल गहराइयों तक जान पाती है ? अथवा यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक जान पाती है वहाँ तक ही किसी वस्तु को प्रमेय कहा जा सकता है ? एक बात और । जब सृष्टि के मूल में किसी अनन्त सर्जनात्मक शक्ति की सस्थिति मानी जाती है तब यह भी मानना पड़ेगा कि प्रत्येक वस्तु अपनी वैयक्तिकता में या तो अमेय है अथवा अपने लिए अथवा वैयक्तिक मान रखती है । जिस प्रकार वैधी सृष्टि के लिए उक्त बातें सही है उसी प्रकार काव्यात्मक सृष्टि के लिए भी । यहाँ भी सर्जनात्मिका प्रतिभाप्रसूत 'कविता' 'नवता' से संवलित होने के कारण जहाँ एक ओर प्रातिस्विक प्रतिमान रखती है वहाँ दूसरी ओर कविता के शब्दात्मक रूप की अपनी अभिधेयता मे एक सीमा रखने के कारण, अभिव्यग्य की दृष्टि से अपने व्यक्त आकार में सदैव अधूरी होने से, अव्यक्तता के साथ अमेय भी है । बात यह है कि शब्द सर्वसंवेद्यांश को तो यथाकथंचित प्रकट कर भी सकते है पर जितना कवि का अपना होता है उसकी 'व्यंजना' ही हो सकती है, सकेतित ही जा सकती है । अतः हर रचना अपनी अतल गहराइयो के साथ अमेय है, तथापि व्यवहार चूँकि अच्छे बुरे का विचार करके चलता है और वह मान-सापेक्ष है, अतः 'मान' की आवश्यकता और उसकी चर्चा हो जाती है ।

यह भी सही है कि परिवर्तनशील अतएव नवनवायमान जगत् में को चीज़ सतह पर स्थिर और शाश्वत नही है, अतः 'मान' भी, जो सृष्टि का अंग है, शाश्वत और स्थिर नही हो सकता । शाश्वत और स्थिर जो नही है,

जो परिवर्तनशील है उसका 'नया' और 'पुराना' होना सर्वथा सभव है। यहाँ एक समस्या और भी जन्म लेती है और वह यह है कि 'नया' और 'पुराना' 'मान' के विशेषण हैं कि नहीं ? 'नया' और 'पुराना' जैसे विशेषणो से रहित 'मान' विशेष्य का न शाश्वत सही, अपेक्षाकृत स्थायी ही सही, कोई अर्थ कविता के संदर्भ में सभव है या नही ?

वास्तव मे जिस प्रकार 'कविता' का 'नया' और 'पुराना', 'क्लैसिकल' या 'रोमैण्टिक' जैसे विशेषणों से शून्य होने पर भी कोई अर्थ होता है, उसी प्रकार 'मान' का भी अपना विशेषणशून्य रूप हो सकता है। वास्तव मे वस्तुगत—प्रमेय वस्तुगत—जब कोई अश उभार पर होता है, तब विशेषण के प्रयोग द्वारा वह विशेषता लक्षित की जाती है। पर जब सामरस्य या संतुलन की स्थिति आ जाती है तब विशेषणों के प्रयोग की अपेक्षा नही होती। कविता जब अपने भावावेग मे बाह्य उपकरणों के बाँध तोड़ फोड़कर दहक उठती है, तब 'रोमैण्टिक' विशेषण की सार्थकता मानी जाती है और जब बाह्य उपकरणो सामरस्य-विधान मे कुछ कहना शेष रह जाता है, भीतरी उफान उपेक्षित रह जाती है तब उसके बाह्य साज-सजाव को ध्यान मे रखकर 'क्लैसिकल' विशेषण का प्रयोग अर्थवान् होता है। पर एक अवस्था वह भी संभव है जब भीतरी मनोदशा समस्त बाह्य उपकरणो की सहज समंजस संघटना मे निरायास अभिव्यक्ति पा पाती है, तब उस कविता मे कौन सा विशेषण लगाया जाय ? क्या उसे केवल 'कविता' नही कहा जा सकता ?

इस प्रकार जिस तरह केवल 'कविता' संज्ञा का प्रयोग सार्थक है उसी प्रकार केवल 'मान' या 'प्रतिमान' शब्द का भी प्रयोग अर्थवान् है। ध्वन्यालोक-कार आनन्दवर्धन ने कदाचित् केवल 'मान' की बात कहते हुए ही लिखा है—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यंजकतां बिभ्रद्‌ध्वन्युक्तेर्विषयो भवेत् ॥

कविता वह शब्द है जिसे 'ध्वनि' कहते है और ध्वनि वह शब्द, अर्थ, अर्थ-व्यापार अथवा इन सबकी समष्टि है जिसमे भिन्न और किसी शब्द, अर्थ, व्यापार और इनकी समष्टि से अभीष्ट सौन्दर्य की व्यंजना न हो सके। अभिव्यक्ति का यही सफल रूप है। कविता अपने इस रूप में 'कविता' है और उक्त निकष अपने इस रूप मे विशुद्ध 'मान।' इस विशुद्ध मान का उल्लेख भिन्न देश और काल के साहित्यचिन्तको ने किया है। ऐसे ही समर्थ और ध्वन्यात्मक शब्द की आत्माभिव्यक्त्यर्थ खोज कविता कही गई है वास्तव मे जिस प्रकार कविता

एक सांस्कृतिक चेतना की समुचित मानसदर्पण पर टकराकर छिटकी हुई आकर्षक प्रभा है, उसी प्रकार आलोचना के मान भी स्वस्थ अन्तस् से सहज फूटी हुई वैचारिक विभा है। दोनों ही अपनी परम्परा की तह से सबको व्याप्त कर फूटनेवाली किरणें है। एक पश्चिमी समीक्षक लोठार लुत्से ने भी कहा है—'पाश्चात्य साहित्यालोचना मे यह दृष्टिकोण व्याप्त प्रतीत होता है कि (कविता मे) एक भी अक्षर न तो अतिरिक्त हो और न बेसुरा।' १९५६ मे अपनी मृत्यु से पूर्व गाटफ्रीडवान ने भी ठीक कहा था—'यदि अन्त मे मेरे चार-पाँच पद भी जीवित रहे, तो मेरा जीवन व्यर्थ न होगा।' स्पष्ट है कि ये चार-पाँच शब्द ध्वन्यालोककार के शब्द मे 'ध्वन्यात्मक' शब्द ही है, कविता के लिये प्रयुक्त सटीक शब्द है। नकेनवादियो ने भी 'प्रपद्यवाद' में कहा है कि हर एक चीज का एक सही नाम होता है। प्रतीकवादियो का अपने जीवन मे एक सटीक प्रतीक खोज लेना एक ध्वन्यात्मक शब्द ही खोज लेना है। और तो और, हिन्दी मे अपेक्षाकृत नव्यतम साहित्यक आन्दोलन 'अकविता' के पक्षधर भी अनायास इसी उक्त मान की बात कह गये है। उनकी धारणा है कि 'अकविता' शब्द क्रमशः हिन्दी मे उभरते हुए नये अन्दाज़ के लिए पारिभाषिक शब्द हो चला है (अकविता और कलासदर्भ)। इन्होंने अपने 'अतर्क्य विसंगतियों का सतुलित विक्षोभ' शीर्षक एक निबन्ध मे कहा—'मेरा एक दोस्त है। चित्रकार है। वह अपनी कृतियो के शीर्षकों के सम्बन्ध में सबसे अधिक सोचता है। चाहे शीर्षक लम्बी पंक्तियो मे हों, लेकिन हों एकदम पकडनेवाले—बोल्ड, अनगढ़ और बोलते हुए। उपयुक्त शीर्षक मिल जाने तक उसकी परेशानी खतम नही होती। प्रकट है, वह अपने चित्रों को लोक भाषा के निकट लाकर कुछ अधिक संप्रेषित करना चाहता है, लेकिन इतना अधिक भी नहीं कि दर्शकों के लिए कुछ शेष न रहे। अभिव्यक्ति के लिए अपने माध्यम का उपयोग करने के पश्चात् वह अपने अव्यक्त को अतिरिक्त व्यंजना द्वारा विस्तार देना चाहता है। शीर्षक की यह तलाश वस्तुतः उसके पक्ष में कविता की तलाश है। आधुनिक कविता की कठिनाइयाँ भी कुछ इसी तरह से अभिव्यक्तिसम्बन्धी संकट से बद्ध है।' (वही)। इस लम्बे उद्धरण की अंतिम कुछ पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं। लगता है, जो 'मान' सम्बन्धी काव्यचेतना किसी दिन आनन्दवर्द्धन के चिन्तन-फलक से टकराकर व्यक्त हुई थी, वही आज उक्त उद्धरणकार के चिन्तनफलक से भी। उक्त उद्धरण में उपयुक्त शब्द की तलाश कविता की तलाश है। यह उपयुक्त शब्द ही 'कविता' का 'मान' है। आधुनिक चिन्तक भी जब अर्थवान् शब्द के माध्यम से आवयविक अखंडता के निर्वाह की

बात करते है, तो 'ध्वनि' की ही बात करते है। जब अज्ञेय यह कहते है कि जहाँ सर्जनात्मक शक्ति होगी वहाँ सकीर्णता नही होगी, तब वे भी कुछ 'उपयुक्त' की ही बात करते है।

निष्कर्ष यह कि जिस प्रकार 'कविता' निर्विशेषण होती है, उसी प्रकार 'मान' भी निर्विशेषण हो सकता है। शाश्वत कहने मे हिचक हो भी, तब भी इस उक्त रूप को अपेक्षाकृत स्थिर और स्थायी कहने में कोई सकोच नही है। इस प्रसंग मे दूसरा प्रश्न यह है कि 'मान' मे 'नया' और 'पुराना' विशेषण क्या डाल देता है ? ये विशेषण अपनी आपेक्षिकता मे चिरन्तन हैं या संदर्भ-विशेष में तात्कालिक और पारिभाषिक भी। वास्तव मे दोनों ही बाते सही हैं। 'नया' और 'पुराना' अपनी आपेक्षिकता में चिरतन भी है और सामयिक अतएव पारिभाषिक भी। वर्तमान संदर्भ मे 'नया' और 'पुराना' विशेषण एक विशेष अर्थ 'कविता' और 'मान' के साथ जुड़कर देने लगा है।

वर्तमान संदर्भ मे 'नयी कविता' में 'नया' शब्द उसे 'पुराने' से एक विशेष अर्थ में भिन्न करता है। इसी नयी कविता के लिये 'नये मान' की बात उठ खड़ी हुई है। वास्तव में यह था 'विज्ञान' है जो 'नये' और 'पुराने' की रेखा खींच रहा है। प्राचीन भारतीय (समस्त विश्व) मानस धर्माध्यात्म की भावना से आक्रान्त था। परिणाम यह था कि वहाँ यथार्थ, वर्तमान, जगत् और व्यक्ति की तुलना मे आदर्श, भविष्य, परलोक, अदृष्ट और सामान्य का महत्व था। भारतीय दर्शक और कवि की दृष्टि एक परम्परागत बौद्धिक धारणा और आदर्श से अनुप्राणित थी—रंगी हुई थी। विज्ञानाक्रान्त भारतीय मानस यथार्थ, वस्तुनिष्ठ वर्तमान जगत्, दृष्ट व्यक्ति को महत्व देने लगा है। आज का द्रष्टा यह प्रयत्न करता है कि वह विज्ञान की उपलब्धियो मे अवगत हो। होता भी है। फलतः उसकी दृष्टि यथासंभव परम्परागत बौद्धिक धारणा तथा आदर्शों से मुक्त होती है – नये रागात्मक सम्बन्ध अर्जित करती है। जहाँ पुराने द्रष्टा का जीवन जीवन पर अधिक बल न दिये जाने के कारण बड़ा सीधा, सरल और भावजगत से सीधे संबद्ध होता था, भाव और व्यंजक व्यापार मे कोई अवरोध नही डालता था, दुहरा, खडित और जटिल रूप नही धारण करता था, वहाँ आज का जीवन बिल्कुल बदल गया है। आज का जीवन बौद्धिक जटिलताओ से आक्रान्त हो गया है। यही कारण है कि जहाँ पहले राग का महत्व था वहाँ आज की कविता मे रागात्मक सबन्धो का महत्व हो गया है। जहाँ पुरानी कविता मे 'भाव' से 'रूप' की ओर प्रयाण था वहाँ आज 'रूप' से 'भाव' की ओर जाना मुख्य हो गया है यद्यपि वहाँ साधारणी-

करण की समस्या है। आज वह सारी कविता पुरानी कही जाती है जहाँ तटस्थता नहीं, जहाँ ग़ैर-रोमाण्टिक भाव नहीं, जहाँ खुरदरा यथार्थ नहीं, जहाँ परम्परागत बौद्धिक धारणाओं से उन्मुक्ति नहीं, जहाँ अनारोपित और प्रामाणिक यथार्थ अनुभूति नहीं। छायावादी और प्रगतिवादी धाराओं तक ये स्थितियाँ नहीं थी। वहाँ रोमाण्टिक भावभूमि थी, विषयपरकता थी, आदर्श और परम्परागत बौद्धिक धारणाएँ थीं। फलतः 'नयों' ने इसका विरोध किया और ग़ैर-रोमाण्टिक भावभूमि की उपलब्धियों की ओर बढ़े। 'प्रयोगवाद' में अभिनव वैयक्तिक धड़कनों को, यथार्थ की प्रामाणिक अनुभूति को बाँधने का प्रयत्न होने लगा। कथ्य की अपेक्षा कथनभंगी या शिल्प का प्रयोग ही महत्वकर हो गया। शिल्प-प्रयोग का अतिरेक 'प्रपद्यवाद' से होता हुआ शिवचन्द्र शर्मा के 'नग्न भोगवाद' तक चला गया और अनेक प्रकार की बौद्धिक अथवा वैचक्षण्य की व्यंजक भंगिमाओं तक गया। १९४३-५० तक के इस प्रयास के बाद 'नयी कविता' (५०-५६) में कथ्य और कथन उभयविध पक्षों का संतुलन आने लगा। इस कालावधि के मुख्य स्तंभों में परवर्ती युवा कवियों ने, जो मध्यवर्गी चिंतक है, जो वर्तमान की विसंगतियों में निरन्तर तनाव का जीवन जी रहे हैं, आदर्शों के पाखण्डी मशीन में पिस रहे है, परम्परागत बौद्धिक धारणाओं का खोखलापन देख रहे हैं, जीवन के धड़ाकों की चोट को सह सकने के लिये जिनके पास कोई ज़मीन नहीं है, हर क्षण अन्याय के नग्न ताण्डव ने हर दृष्ट सत्ता से जिसका विश्वास उठा दिया है, समाज, धर्म, राजनीति—हर क्षेत्र की पण्डेबाज़ी से जो ऊब गया है, जो हर क्षण आत्महत्या के कगार से विवश होकर लौट आता है, जो हर क्षण आक्रोश से भरा है, व्यंग्य भी खुलकर करने में जिसे अवरोध है, उसने देखा कि 'नयी कविता' भी भावावेग, बौद्धिक धारणाओं और रहस्यवादी जैसी पुरानी-पुरानी प्रवृत्तियों का शव ढो रही है। इसलिये इस लेखन को 'प्रच्छन्नव्यनीतलेखन' कहा गया, छायावादियों से कहीं गहरे समझौते की बात लक्षित की गई और ज़माने के नये अंदाज़ को मुखर करने वाली कविता 'विच्छेद' के रास्ते 'खुरदरे यथार्थ' की लीक से नये आवेग में बढ़ी। 'नयी कविता' में रिस रिस कर बहने वाली आविष्ट भावधारा ने 'नवगीत' में तथा 'खुरदरे यथार्थ' की धारा अपने निराविल रूप में 'अकविता' तथा युवापीढ़ी के अन्यविध आक्रोशधर्मी कविता के द्वारा प्रकट हुई। इस प्रकार वर्तमान संदर्भ में 'नया' और 'पुराना' विशेषण 'कविता' में उभरने वाले युगोचित रंग को सामयिक और पारिभाषिक रूप में व्यक्त करता है। बीच-बीच में कतिपय प्रवृत्तियाँ

ओर के अध्यात्म से हटकर किसी शाश्वत ज्योति का ढक्कन खोलने में प्रवण लक्षित हुई है।

इसी संदर्भ में कभी किसी ने 'नयी कविता के प्रतिमान' की बात कही थी और कहा था कि जो 'अनुभूति' समान रूप से कविता की अन्तरात्मा रही है, 'नयी कविता' के उपयुक्त बन रहे भावमानस में उसकी बुनावट और बनावट ही भिन्न थी। दूसरे जहाँ कभी रसात्मकता की दृष्टि से विभावचित्रण कवि-कर्म का क्षेत्र था, वहाँ अब नये और जटिल रागात्मक सम्बन्ध कविकर्म क्षेत्र बन गया। जहाँ पहले अनुभूति की निर्विशेषता पर बल था, वहाँ वह सविशेष, द्वन्द्वात्मक, खण्डित, विसंगत एवं असमाहितमयी होने लगी थी। इसीलिये परम्परा से चले आते हुए प्रतिमानों का विरोध होने लगा। यह कह दिया गया कि नई कविता के सौन्दर्य के संघटक उपकरणों का या स्वयं सौन्दर्य का विश्लेषण अब पुराने संस्कारों, रुचियों, दृष्टियों और प्रतिमानों से नहीं हो सकता। जहाँ एक ओर पुराने प्रतिमानों का आँख मूँदकर निषेध किया जाने लगा, वहीं दूसरी ओर पुराने प्रतिमानों का प्रतिक्रिया में आँख बंद कर समर्थन भी होने लगा। वास्तव में 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने'—ज्ञान ही नहीं, संग्रह और त्याग के लिये पहचान भी होनी आवश्यक है।

पता नहीं किस बुद्धिमान ने यह बता दिया कि भारतीय आचार्यों ने सब प्रकार की कविता का एक मात्र प्रतिमान 'रस' माना है। अभिनवगुप्त और आनन्दवर्द्धन ने यह कहीं नहीं कहा कि चाहे जैसी भी कविता हो, चाहे उसका समुच्छलन किसी भी प्रकार की काव्योचित मनोदशा का हो, चाहे वहाँ कवि-प्रतिभा-संरंभगोचर तत्व कुछ भी हो, रसात्मक प्रतिमान को ही लागू किया जाना चाहिए। आनन्द और अभिनव ने यह कहा है कि पहले रचना का निर्मल अंतस् से इस गहराई और बारीकी के साथ ग्रहण होना चाहिए कि ग्राहक उस रचना में कविप्रतिभा-संरंभगोचर तत्व को पकड़ ले — यह निर्भ्रान्त रूप से पकड़ ले कि सौन्दर्य संघटक तत्वों में कौन प्रबल है, उनके नियोजन में कैसी तारतम्यिकता है और फिर सारे सूत्र उधाड़ कर रख दे, उस रचना का निकष उसी में निकाल कर रख दें। वास्तव में जिस प्रकार सही शब्दों का सन्नियोजन करने वाला कवि वा महाकवि दुर्लभ है, उससे अधिक दुर्लभ उनकी रचनाओं की समस्त नियोजनप्रक्रिया और सौन्दर्य का तटस्थ द्रष्टा भी दुर्लभ है। समीक्षक का कार्य तो इससे भी आगे बढ़कर सब कुछ कह देना है। हाँ, तो कहा जा रहा था कि भारतीय आचार्यों ने यह अवश्य कहा है कि रसात्मक प्रतिमान सर्वथा उत्तम और प्रशस्त प्रतिमान है, पर यह कहीं नहीं कहा है कि

सब जगह अंधा होकर उसे ही लागू करना चाहिए। यदि रसात्मकता के लिए समाहिति, सामंजस्य और सर्वाङ्गीणता अपेक्षित है, तो अज्ञेय के शब्दो मे यह मानना पड़ेगा कि वह स्थिति केवल सर्जनात्मक शक्तिप्रसूत एकाङ्गितावर्जित रचना मे ही होगी। अज्ञेय ने कहा है कि जहाँ सर्जनात्मिका शक्ति होती है, वहाँ एकाङ्गिता नही होती। निष्कर्ष यह है कि रसात्मक प्रतिमान प्रशस्त और उत्तम अवश्य है, पर उसे सर्वत्र प्राचीन कविता मे भी—नवीन तो नवीन ही है—लागू नही किया जा सकता। यद्यपि 'रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम्' कहने वाले अभिनव भी रस को काव्य की आत्मा मानते हैं, तथापि उसके व्यंजक उपकरणो की तारतमिकता तथा अन्यथाभाव से अनुभूयमान चमत्कार का या सौन्दर्य का निमित्त और भी कुछ हो सकता है। आत्मा (रस) अपनी समस्त सौन्दर्योचित संभावनाओं मे तभी व्यक्त होता है जब अनुरूप और सटीक व्यंजक उपकरणो की लपेट मे आता है। अन्यथा वह रह कर भी प्रकाशित नहीं होता। रसात्मक प्रतिमान की नयी व्याख्या आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने की, जहाँ अंशतः मनोविज्ञान और अंशतः उनकी निजी रुचियो ने शास्त्रीय परम्परासम्मत रसस्वरूप मे शुक्ल सम्मत रस स्वरूप को एक भिन्नरूपता ही प्रदान की। शुक्ल जी ने रसात्मकता को एक उदात्त मनोदशा माना और उसकी व्याप्ति व्यवहार जगत तक कर दी। संभव है, यह धारणा कि रसात्मक प्रतिमान पर कविता मात्र कसी जा सकती है, शुक्ल जी के प्रभाव से ज्यादा जोर पकड़ गई है। पक्ष मे बहुत सारे तर्क भी दिये जाते हैं और दिये जा सकते है। उसका यहाँ कोई प्रसंग नही है।

परवर्ती चिन्तकों ने 'नयी कविता के प्रतिमान' की जगह 'कविता के नये प्रतिमान' शीर्षक मे विचार करना कही उपयुक्त समझा है। श्री नागेश्वर लाल ने कहा है—'नयी कविता के प्रतिमानों की अपेक्षा कविता के प्रतिमानो' पर विचार करना अधिक अर्थपूर्ण है। यह जानी हुई कहानी है कि जब जब कविता बदलती है, उसके प्रतिमान भी बदलते है। पर यह नही कि नये प्रतिमान अभी-अभी बनी हुई कविता के लिये ही होते हैं। वस्तुत. वे कविता के समस्त रिक्थ के लिये होते हैं। उनके आधार पर नया युग अपनी कविता का तो मूल्यांकन करता ही है, पूर्वजो की कविता का भी फिर से मूल्यांकन करता है और इस तरह उसे नये संदर्भ मे गृहीत करता है।' इन शीर्षकों की जगह यदि 'आलोचना के नये मान' शीर्षक रख दें तो बिना किसी वक्तव्य के अभीष्ट अर्थ मिल जायगा। इसीलिए प्रस्तुत शीर्षक रखा गया है।

श्री नरेश जी के इस मतव्य से कि आलोचना के मानदण्ड काव्य के क्षेत्र से बाहर न आकर काव्य मे से ही निकलेगे (कविता और हिन्दी कविता पृ० ४१), कौन असहमत होगा ? और असहमत नही होगा तो 'नई कविता' की अर्जित विशेषताओ या उपलब्धियो को ही ध्यान में रखकर नये प्रतिमान निर्धारित किये जा सकेंगे। अर्जित अथवा सहजात अनेकानेक विशेषताओ मे सर्वप्रथम उल्लेख्य विशेषता है—**यथार्थ की अनुभूति की यथार्थता।** वर्तमान संदर्भ मे 'नये' और 'पुराने' के जिस विज्ञान को भेदक स्रोत के रूप मे पहले कहा जा चुका है, उसने आज के नये कवि मे परम्परागत बौद्धिक धारणाओं और आदर्शों से मुक्त **वस्तुमुखी यथार्थ को निजी चेतना के संदर्भ में अनुरूप कलात्मक उपकरणों के माध्यम** से अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। 'नई कविता' के आठवे अक मे श्री नागेश्वर लाल और प्रमोद सिन्हा दोनो ने '**यथार्थ अनुभव**' की प्रतिमानता समर्पित की है। इस सदर्भ मे आधुनिक कविता ने जिस मानक प्रतिमान की स्थापना की वह 'यथार्थ से सम्बन्धित है।' अर्थात् आधुनिक या नई कविता की विशेषताओं के भीतर से निकलने वाला प्रतिमान इतना व्यापक हो, कि वह नई कविता के साथ-साथ पूरी काव्यपरम्परा का पुनर्मूल्याकन कर सके।

'यथार्थ' एक ऐसा व्यापक अर्थ है जिसकी कुक्षि में नई कविता की तमाम विशेषताएँ निहित हैं। 'यथार्थ' मे अतीत और भविष्य की अपेक्षा वर्तमान पर और अन्तर की अपेक्षा बाह्य प्रत्यक्ष जगत् पर अपेक्षाकृत ध्यान अधिक केन्द्रित रहता है। 'यथार्थ' मे वस्तुमुखीनता होने के कारण परम्परागत बौद्धिक धारणाओ और आदर्शों मे इसे अनरंगा रखा जाता है, पर इसका अभिप्राय यह नही कि इस यथार्थ दर्शन के मूल में कोई बौद्धिक प्रबुद्धता नही होती। बौद्धिक प्रबुद्धता के अभाव मे यथार्थ की अनुभूति निरर्थक सवेदनाओ का पुज बनकर रह जायगी। यह बुद्धिगत प्रबुद्धता विज्ञान की उपलब्धियो पर आधारित है। विज्ञान की इन उपलब्धियों को आत्मसात् कर जिसने उसे जीवन दृष्टि नही बनाया, जगत् से सपर्क उस दृष्टि पर आधारित नही किया, नये रागात्मक सबंध अर्जित नही किये, वह कवि कहाँ तक नया है—कहना कठिन है। वैसे टूटे, पिचके, जमाने की अनुभूतियाँ निसर्गत. कही व्यक्त हो सकती है। अथवा उपर्युक्त प्रक्रिया नये मानव मे अनायास भी घटित हो सकती है।

'नयी कविता' मे जो भी प्रवृत्तियाँ आई हैं, सब प्रामाणिक यथार्थ ही है यह कहना कठिन और विवादास्पद है। सभव है उनमे बहुत सी ओढ़ी हुई हों, बहुत फैशन के नाम पर हो, और बहुत सी अनुकरण के नाम पर आ गई हो।

किसी भी चीज को मूल्यवान बनाती है निष्ठा अथवा ईमानदारी और यह आती है—प्रत्यक्ष अनुभव के तले से। वैज्ञानिक साधनो के कारण सारा संसार देश काल के व्यवधान को दूर कर नजदीक अवश्य आ गया है फलतः एक जगह की घटना या दुर्घटना का असर सर्वत्र पड़ेगा—यह अवश्य है कि उसकी तारतमिकता में अन्तर होगा ही। दो भीषण युद्धों की जिस भयावह मृत्यु की विभीषिका का साक्षात्कार और तज्जन्य अनुभूतियाँ सीधे उन युद्धलिप्सु लोगों ने की होगी, यह हमारे लिये कल्पना की ही वस्तु हो सकती है। हर क्षण मे सब कुछ भोग लेने की जितनी तीव्र अनुभूति उनमे घटित होगी, अपनी नश्वरता और लघुता का बोध जिस तीव्रता मे उसमे रहा होगा, हमारे लिए संभव नही है। इन परिस्थितियो मे उत्पन्न जीवनदृष्टि भी हमारे लिए सहज उधार ली हुई वस्तु है। अभिप्राय यह है कि ऐसी गैर-ईमानदार वृत्तियो से छनकर अनुभूत यथार्थ अपनी जिन विशेषताओं को लायगा वही महत्व का होगा।

हमारा देश लोकतान्त्रिक देश है, जो भौतिकता की प्रतिस्पर्द्धा मे बढते हुये संसार के बीच अर्थ और विज्ञान की प्रगति मे पिछड़ा हुआ है, फलतः हर स्तर पर अनिश्चय का अनुभव कर रहा है। उसकी आयति अथवा भविष्य पंगु है। अपनी सांस्कृतिक विरासत को सम्हाल कर चलने के लिए अपेक्षित जो मार्ग था, जिस बौद्धिक एहसास और आत्मिक बल की अपेक्षा थी, वह सब कुछ छोड चुका है। उसकी जातीय वृत्ति कुछ और है और वर्तमान जीवन प्रणाली कुछ और। इस प्रकार वह विसंगति तथा विडम्बना का जीवन जी रहा है, संदर्भहीन हो रहा है, शासन, समाज और अर्थहीन के पहियो मे पिस रहा है। सर्वत्र व्यवस्था की आशा और अव्यवस्था की उदग्र यथार्थ स्थिति कुंठा, आक्रोश, त्रास, अनास्था को भावना पैदा कर रही है। मध्यवर्गीय चिन्तक नया मानव इन अनुभूतियों के बीच से, यथार्थ के बीच से गुजर रहा है। **इस प्रकार इन सबको आत्मसात करने वाला 'यथार्थ' आज की कविता की अन्तरात्मा बन गया है।** साहित्य दस्तावेजी प्रवृत्ति की ओर बढ रहा है।

निष्ठापूर्वक अनुभूत यथार्थ की अभिव्यक्ति तभी मूल्यवान हो सकती है जब उसका 'अर्थ' होगा। व्यापक रूप में 'अर्थ' का तात्पर्य उस संदर्भ मे 'सर्जनात्मकता' ही है। यह सारा आक्रोश, कुंठा, सन्त्रास, अनास्था, घुटन, टूटन भी मूल्यवान हो सकते हैं, यदि इनके मूल में सर्जनात्मकता है। सर्जना की चिरन्तन प्रक्रिया मे ह्रास और विघटन भी उपादेय है। और अधिक दार्शनिक गहराई मे उतरकर देखें तो विघटन का एक अनिवार्य और अविच्छेद्य पक्ष है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे ईश्वर जो सतत 'पंचकृत्यकारी'

(सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह) कहा गया है, वहाँ भी यही अभिप्राय है। अस्तु, इस संदर्भ में इतना ही कहना है कि यदि जीवन की ज्वालामुखी में सहज उच्छलित यथार्थ अनुभूतियाँ सर्जनात्मकता के सन्दर्भ में सांस्कृतिक विकास की कड़ी बनकर अभिव्यक्त होती हैं तो वे भी मूल्यवान हैं। अन्यथा सभी नपुंसक फलतः निरर्थक और मूल्यहीन हैं।

ऊपर काव्य के अन्तःपक्ष अर्थात अनुभूति की यथार्थता की मूल्यवत्ता का उल्लेख चेतन स्तर पर सांस्कृतिक विकास की अनिवार्य शृंखला के संदर्भ में किया गया है। इस संदर्भ में मुझे श्री रमेशचन्द्र शाह की कतिपय पंक्तियाँ स्मरण में आती हैं, जिन्हें 'कविता के नये प्रतिमान' संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने कहा है—'एक ओर **एतद्देशीय ऐतिहासिक, सांस्कृतिक बोध की गहराई** तथा दूसरी ओर कवि की **ज्ञानसंवेदनात्मक चेतना** की वैश्विक प्रतिश्रुति—इन दो तत्वों के सार्थक, सुदीर्घ, सर्जनात्मक संघर्ष, संतुलन की साधना को हमारी कविता के अत्यन्त महत्वपूर्ण **प्रतिमान के रूप में पहचानना** परमावश्यक हो हो जाता है।' श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'धर्मयुग' में 'नयी कविता' पर लिखे गये अन्तिम चार निबन्धों में 'नयी कविता' की उपलब्धिस्वरूप विभिन्न कृतियों को आधार बनाकर यह निष्कर्ष निकाला है कि उक्त धारा की आलोच्य कृतियाँ राष्ट्रीय सांस्कृतिक गहराइयों की ओर उन्मुख हैं।

ऐतिहासिक सांस्कृतिक बोध की गहराइयाँ और ज्ञानसंवेदनात्मक वैश्विक प्रतिश्रुति के संदर्भ में जब 'यथार्थ' को नयी कविता की अन्तरात्मा के रूप में एक नये प्रतिमान की दृष्टि से चर्चित किया जाता है तब 'यथार्थ' का अर्थ केवल जैसा कि प्रमोद सिन्हा ने कहा है—'यथार्थ माने जो कुछ भी प्रत्यक्ष जगत् में अपनी सत्ता रखता है'—ठीक नहीं है। यथार्थ केवल व्यक्त या विज्ञान-स्वीकृत तथ्यों का ही वह (यथार्थ) मानव चेतना के सम्पूर्ण और समग्र स्वरूप का आकलन क्यों न करे? यूरप में जब कभी 'यथार्थ' वैज्ञानिकता की सीमित पगडण्डी पर पहुँचा है, तब-तब दूसरी दिशाओं के भी प्रयोग हुये हैं। साहित्य में किसी ख़ास 'दृष्टि' और 'वाद' की अपेक्षा अनुभव मात्र को महत्ता देनी चाहिये। ऊपर जिस समग्र मानवीय चेतना की बात कही गई है, वह 'वाद' और 'दृष्टि' विशेष के स्थान पर कवि के निजी अनुभव तथा उसकी अपनी साधना से सम्बन्धित है। निष्कर्ष यह कि 'आधुनिकता बोध' को उसकी राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना तथा अन्यविध अनुभवों से काटकर देखना और उतने को ही महत्वपूर्ण समझना साहित्य के क्षेत्र में संकीर्णता लाना है।

उपर्युक्त विशेषताओं से संवलित अनुभव—यथार्थ अनुभव—निश्चय ही नकारात्मक और ध्वंसमुखी न होकर रचनात्मक होगा।

काव्य के साथ साथ यथासंभव कथन-शैली का अविच्छेद्य संबंध है। 'कथ्य' से रंगीनी हटाने के साथ-साथ यथासंभव कथन-शैली से भी उसे हटना पड़ा। 'कथ्यगत' अविश्वसनीयता और अशुद्धियाँ कथ्य को हटाने के साथ-साथ शैलीगत भी उसे हटाना पड़ा। आभिजात्यवाद एवं स्वच्छंदतावाद के दौरान काव्यशैली में भी 'कल्पना' और तज्जन्य 'अतिशय' का सन्निवेश किये जाने पर अधिक बल दिया जाता था। अरस्तू ने भी Strange words पर अधिक बल देने की बात कही है। 'लोकोत्तरता' या 'अतिशय' को 'वर्णना' मे अत्यावश्यक माना जाता था और तभी 'वर्णना काव्यमुच्यते' कहा जाता था। नयी काव्यधारा मे भी कहा गया है कि **काव्य भाषा की संभावनाओं का अनुसंधान है, क्योंकि काव्य देखे हुये का स्थापत्य है और यह स्थापत्य भाषा में होता है।** डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी भाषिक सर्जनात्मकता की बात की है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि अर्थशून्य भाषा नहीं होती, अतः सर्जनात्मकता का सम्बन्ध केवल भाषा के शब्दपक्ष से ही नहीं है; फिर भी कथ्यपक्ष देखा हुआ अर्थात् अनुभव किया हुआ होता है फलतः संघर्ष करना पड़ता है—खोज करनी पड़ती है, अनुरूप अभिव्यक्ति देने के लिये अपेक्षित उपकरणो की। इसीलिये वह कभी-कभी महत्व पा जाता है। इस नव प्रस्थान में जिस प्रकार गैर-रोमाण्टिक भूमि में काव्योचित संभावनाओं को उभारने का प्रयत्न हुआ, उसी प्रकार वर्णन में 'अतिशय' या 'ऊहा' की सरणी छोड़कर स्वयं में शब्द-सामर्थ्य की खोज की गई। काव्य के अनुरूप शब्दनिष्ठ **ध्वनिमत्ता और अर्थवत्ता** की दिशा मे बहुत ही सफल प्रयोग हुये है। नये, ताजे और उपयुक्त प्रतीको की एक अच्छी राशि इस धारा ने दी है। अन्ततः जब यह तथ्य स्वीकार्य ही है कि शब्द अर्थ निरपेक्ष और अर्थ शब्द निरपेक्ष साहित्य मे नही रह सकता, साथ ही जब यह निश्चय है कि जहाँ प्रतिभा रहती है वहाँ एकांगिता नही रहती, तो वयस्क कविता के प्रतिमान का विचार कथ्य और कथनशैली के खानों में बाँटकर नही किया जा सकता। अतः सही और सार्थक प्रतिमान के रूप में तो ध्वनिकार की ही बात स्वीकार करनी पड़ेगी।

● ●

सात | वर्तमान साहित्य और आस्था

वर्तमान साहित्य वर्तमान चेतना की अभिव्यक्ति है और वर्तमान चेतना विज्ञान और वैज्ञानिक सदर्भ की उपज । विज्ञान सत्य की खोज मे वस्तुमुखी प्रयोग और परीक्षण मे प्राप्त तथ्यो की बौद्धिक सगति बिठाता है और व्यावहारिक वर्तमान चेतना उन्हे मानकर अपना जीवन यापन करती है, अपने विश्वास और धारणाएँ बदलती है—मान्यताएँ निर्मित करती है ।

विज्ञान धर्माध्यात्म प्रस्तुत मान्यताओ को अस्वीकार करता है, पर अतिम सत्य के प्रति जिज्ञासु रहता है । वर्तमान व्यावहारिक चेतना धर्माध्यात्म प्रसूत परपरागत मान्यताओ को तो अस्वीकार करती है, पर अतिम सत्य की तलाश मे उसकी इस प्रकृति का अनुधावन नही कर पाती, विपरीत इसके जितनी विज्ञान की विभिन्न क्षेत्रीय उपलब्धियाँ है उतने मे या यथासंभव उनसे परिचय प्राप्त कर उन्ही मान्यताओ या उनसे बनी परिधि मे गतिशील होने का अभिमान रखती है । परिणाम यह हो रहा है कि धर्माध्यात्म एव तत्प्रसूत मान्यताएँ जीवन के रंगमंच से हटती जा रही है और उन रिक्त स्थानो पर अर्थ और काम जमते जा रहे है ।

अर्थ ही काम या इच्छाओ की तृप्ति का मूल मान लिया गया है और अर्थ की प्राप्ति तथा संग्रह के निमित्त वणिकवृत्ति का चतुर्दिक समुद्रेक हो उठा है, वणिक वृत्ति उत्तरोत्तर जटिल बौद्धिक प्रक्रिया का सहारा ले रही है, फलत: यही राजनीति अथवा तथाकथित राजनीति का आकार ग्रहण कर रही है । यह तथाकथित राजनीति आज जीवन, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के फलक पर इस प्रकार छा गयी है कि राजनीति ही जीवन और जीवन ही राजनीति बन गया है । यही कारण है कि आज का साहित्य भी उस राजनीति से आक्रात हो उठा है, राजनीति बोलने लगा है । तथाकथित राजनीति सिद्धात नही, व्यक्तिगत स्वार्थ और सत्ता के संघर्ष मे इतनी अनिश्चित हो गयी है कि उसने समूचे वातावरण में अनिश्चय भर दिया है। जो जहाँ है वही वह अपने भविष्य के प्रति अनिश्चित और अस्थिर है ।

सहज प्रश्न

इस प्रकार जहाँ वर्तमान जीवन को परिचालित करने वाली तथाकथित राजनीति सैद्धांतिक दृष्टि से खोखली हो उठी है वहाँ किसकी किस पर आस्था ? जहाँ सिद्धांत और स्थिर जीवनदृष्टि ही नही वहाँ आस्था कैसे ? वह आस्था जिसमे स्थिति और स्थिरता का भाव निहित है, असभव है। लेकिन, दूसरी ओर आस्था जीवन और समाज की धुरी है। जिस जीवन और समाज से आस्था की अर्थी उठ जाय, उसका अस्तित्व निस्संदेह विनाशगामी है। इस परिस्थिति मे वर्तमान साहित्य और आस्था का प्रश्न बडा ही सहज, स्वाभाविक और सामयिक है।

आस्था के लिए यह आवश्यक है कि एक ओर आश्रय में स्थिर दृष्टि एवं तज्जन्य संस्कार हों और दूसरी ओर उसके प्रेरक मूल्यो का आचरित रूप। आश्रयगत चिंतन मे भी आस्था आस्था रह सकती है, पर बाह्य आचरित मूल्यों की स्थिति मे, उसके उद्रेक में आपेक्षिक सौंदर्य आ जाता है। वर्तमान साहित्य के नव-प्रस्थान मे जो रचनाएँ अथवा आलोचनाएँ आ चुकी हैं और आ रही है उनमें नयी कविता के पक्षधर समीक्षकों ने इस स्थापना का प्रतिवाद किया है कि नयी कविता या नये साहित्य में संशय, कुंठा, निराशा, ह्रास, त्रास एवं विसंगति के कारण अनास्था ही अनास्था है।

उन्होंने सप्रमाण स्थापना की है कि आज लघु मानव संत्रस्त एवं क्लेशकर परिस्थितियो को भोगता हुआ भी आस्था का दीप जलाये चल रहा है, परिणामत: मानव मे उदित आस्था जीवन, व्यक्तित्व और वर्तमान के प्रति है। प्रमाण मे अज्ञेय, भारती, भारतभूषण, विजयदेव नारायण, प्रयाग नारायण, दुष्यंत कुमार, गिरिजाकुमार माथुर तथा सर्वेश्वर आदि की अनेक पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती है और की गयी है। अज्ञेय जानते है कि 'बद्ध होकर है नही निर्वाह', तभी तो मदमाते, गर्वीले, स्नेहिल, ज्वलनशील, प्रकाशकारी एवं एकल दीप को पक्ति को देने की बात करते है। नये साहित्य में अहं का महत्व है पर आस्थावान सर्जकों मे उसका समाजगामी उन्नयन भी लक्षित होता है। लगता है कि अतर्गुहावासी मानव के असंस्कृत एवं अराजक अहं की अभिव्यक्ति पर स्वस्थ समीक्षकों की समीक्षा से आहत होकर या स्वयं सोच-समझकर नये सर्जकों ने उसके उन्नयन की दिशा में भी प्रयास किया।

दिग्भ्रांतकारी परिस्थितियो की रात्रि का एहसास करते हुए भी भारती का दृढ विश्वास है कि वे और उनकी तरह के अन्य लोग भी कमल, पंक और सूर्य

की तरह खिलेंगे, चलेंगे और उगेंगे। उन्हे यह भी विश्वास है कि रात ने जिन्हे भटका दिया है, भविष्य में वे सब साथ होगे। इन कवियो की इस सत्य मे आस्था है कि विध्वस के वक्ष पर सर्जना का लास्य होता है। इनमे अटूट विश्वास है कि वेदना और दुःख दूसरो को दु.ख नही दे सकते अर्थात् उनसे मानवीय सवे-दना उपज सकती है। उनकी दृढ धारण है कि वैशिष्ट्यहीन जीवन से मृत्यु का वरण श्रेयस्कर है, क्योकि मृत्यु के वरण से ही अमरता की उपलब्धि सभावित है, अमर मूल्यो के पाने की संभावना है। मुक्तिबोध मे किसी आस्था की लौ है जो उन्हे मिट्टी मे गड़कर भी जीने की चाह दे रही है। यद्यपि ये कवि यह भी देख रहे है कि यह वणिक् वृत्ति वाली सत्तालोलुप दुनियां गतात्मा त्वचा की सूखी ठाठर में घासपात, कूड़ा-कबाड़ सब कुछ भरकर, कौड़ियो की आँख लगा कर, सीपियों का कान बना हृदयहीन, धमनीहीन, स्नेहहीन काया मे वह सब कुछ रख देती है जिससे पयस्विनी एवं स्नेहिल माता के निकट शोषण माध्यम वत्स चेतनाहीन पूछ को एक ऐसी स्थिति मे उठा सके जिससे वात्सल्य, हृदय, आकर्षण एवं चेतना सबको उभार दिया जा सके और दुनियां इस मुर्दे के उपजाये स्नेह को निचोड़ कर जीवित रहे, जिंदा रहे।

युग चेतना का सबसे सशक्त एव सक्षम माध्यम है कविता। उसमें समसाम-यिक सत्य अपेक्षाकृत अधिक गहराई से उभरता है। ऊपर के वक्तव्य से यह नितात स्पष्ट है कि साहित्य के इस नवप्रस्थान मे जहाँ न छायावाद की गल-दश्रु भावुकता और लादी हुई आध्यात्मिक दार्शनिकता है और न प्रगतिवाद का सा समाज के प्रति समर्पित अस्तित्वहीन अह, फिर भी आस्था का स्वर कितना मुखर है। विवाद इस बात का नही है कि नयी कविता मे आस्था का तत्व है या नहीं, विवाद इस बात पर है कि लोग इस आस्था को नयी आस्था और उससे संपन्न मनुष्य को नया मनुष्य कहकर धर्माध्यात्म पर आधारित आस्था और मनुष्य से उन्हें सर्वथा भिन्न कर देना चाहते है।

मैं उनसे बिल्कुल सहमत हूँ जो यह मानते है कि विज्ञान ने मानव को अधर में लटका दिया है। मैं उनकी बात मानता हूँ जो यह कहते है कि विज्ञान के अन्वेषण से प्राप्त तथ्यो की जानकारी से मनुष्य की बुद्धि और शक्ति का परि-चय भले ही मिल जाय, किंतु जीवन के असहाय और अनिश्चित मूल्यो के विक-सित होने में पर्याप्त तीव्रता आयी है। मैं उन लोगो से भी सहमत हूँ जो यह मानते हैं कि समस्त वैज्ञानिक तथा यांत्रिक उन्नति के बावजूद हम किसी मान-वीय उद्देश्य या सतर्कता को खो पाने मे असमर्थ रहे है। ये मंतव्य नयी कविता

के ही पक्षधर समीक्षकों के है, तब यह कैसे मान लिया जाय कि स्थिर दृष्टि के प्रदान में संप्रति अक्षम विज्ञान और वैज्ञानिक प्रगति ने वर्तमान चेतना-संपन्न साहित्यकारों मे आस्था को जन्म दिया है और वह नयी है ?

मैं तो मानता हूँ कि इन आस्था के गायकों मे कहीं न कहीं स्थिर दृष्टि प्रदान करने वाले पुरातन संस्कार ही निहित है, जो इनसे भविष्य जीवन, व्यक्ति एवं समाज के प्रति आस्था के स्थिर तत्व निकलवा लेते है ।

आज की युवा पीढी ने पुनः उस सत्य को पहचाना है, जिसका झंडा उठाकर किसी दिन नवप्रस्थानवादी साहित्यकारो ने पुरानी मान्यताओं और उनसे बनी दृष्टि पर टिकी आस्था के विरुद्ध क़दम बढाया था और सामयिक उबाल शांत हो जाने के बाद फिर उन्हो मान्यताओ एवं तज्जन्य सस्कारों से समझौता कर लिया। आज ये नवप्रस्थान वाले सर्जक और उनके पक्षधर दोनों ही नवलेखन मे भारतीयता की अविच्छिन्न प्रवहमानता की बात करते है। डॉ० हरिचरण शर्मा ने कहा है—"मैंने ये उदाहरण जानबूझ कर दिये है, विशेषकर उन आचार्यों के लिए और बहुनकर उन जैसों के लिए भी जो अभी भी नही मानते कि नयी कविता का कोई सांस्कृतिक परिपार्श्व भी है या उसमें ऐसा भी कुछ है जो भारतीय परंपरा मे पड़ता हो।"

ये उदाहरण बहुत बडी मात्रा मे नयी कविता में देखे जा सकते हैं, इसलिए जो लोग नयी कविता या साहित्य के नवप्रस्थान को भारतीय काव्यधारा मे विच्छिन्न नही अविच्छिन्न मानकर चलते हैं उनकी दृष्टि से तो आस्था की बात समझ में आती है, पर जो विच्छिन्न और धर्माध्यात्म पर आधारित वर्तमान परिस्थितियों में भी उपादेय मान्यताओं से सर्वथा हटकर चलने की बात करते हैं, उनकी दृष्टि से आस्था की संगति कथमपि सभव नही है। नयी कविता मे या नवप्रस्थान में उबाल के शांत हो जाने पर जब वर्तमान संदर्भों मे उपादेय पुरातन सांस्कृतिक तत्वों के संस्कार आस्था के स्वर मे बोलने लगे, तब वे ही आचार्य वाजपेयी जो किसी दिन इस विच्छिन्न वृत्ति को देखकर झुंझला पडे थे, आश्वस्त हो गये। डॉ० शर्मा को यह सब उन आचार्यों को नहीं, उन उबले हुए लोगों को बताना चाहिए जो भारतीय सांस्कृतिक तत्वों की सामयिक उपादेयता में अनास्था रखकर विज्ञान और वैज्ञानिक प्रगति के चक्र मे पिसे जा रहे हैं।

नवप्रस्थान वाले स्थिर सर्जको का वही उबाल अब अप्रस्थान वाली युवा-पीढ़ी में है, फलतः वही झुंझलाहट नवप्रस्थान वालों के प्रति अप्रस्थान वालो की

भी है जो नवप्रस्थान वालों को पुरातन प्रस्थान वालों के प्रति कभी थी। अतः युवा लेखक नवलेखन की आस्था में पुरातन और क्रमागत संस्कारों का छद्म रूप देखता है तो ठीक ही देखता है और उसके विरुद्ध आवाज उठाता है तो ठीक ही उठाता है। इनसे अपना पार्थक्य स्थापित करने के लिए इस युवा पीढ़ी ने अप्रस्थान की शुरुआत की है। इस अप्रस्थान को युवा पीढ़ी अपने को नगण्य मानव कहती है।

वह युवा पीढ़ी जिसमें अतीत के संस्कार अंकुरित न हो सके, फलतः जिसका अतीत नहीं, जिसके हाथ में वर्तमान नहीं, जिसके भविष्य का निश्चय नहीं—जो अपने इर्दगिर्द सब तरफ़ सभी स्तरों पर सत्ता लोलुप तथाकथित अविभावकों का सर्वापहारी तांडव देखती है, उसमें न तो भीतरी आस्था के लिए स्थिर जीवन दृष्टि के अनुरूप संस्कार रह सके हैं और न ही बाहर के आचरित उत्तेजक आलंबन। यही कारण है कि इनमें व्यंग्य, आक्रोश, अराजकता और उनकी अभिव्यक्ति में उछृंखल तथा दिक्च्युत प्रयास है।

इतने पर भी यदि युवा पीढ़ी में कहीं फिर भी कुछ अनास्था की कौंध मिलती है तो मैं वहीं पुनः पुरातन प्रच्छन्न संस्कार देखता हूँ और यही कारण है कि जब-जब ऐसे स्वर युवा पीढ़ी की ताज़ी बौखलायी संतति देखती है तब पुनः उनसे अपने को पृथक् कर लेती है और विशुद्ध व्यंग्य, आक्रोश, झल्लाहट तथा असामाजिकता को शब्दों के जलते अंगारों में बाँध देती है। इसलिए वर्तमान साहित्य में जहाँ भी आस्था के स्वर है, वहाँ विज्ञान और वैज्ञानिक प्रगति के संदर्भ में उपजी चेतना नहीं वरन् इस संदर्भ के अनुरूप अपने को सँवारती हुई भारतीय सांस्कृतिक चेतना ही मुखर मानी जा सकती है।

विज्ञान अपनी शुद्ध प्रकृति में हमें संशयालु और जिज्ञासु तो बना सकता है पर वह स्थिर जीवन दृष्टि प्रदान कर सकने की दिशा में नहीं है जिससे आस्था की लौ फूटती है और जीवन तथा समाज लहलहा उठता है।

● ●

आठ | भावकत्व और कल्पना

भावकत्व को भावना का पर्याय मानकर विचार आरंभ किया जाय, तो बात बहुत पीछे से आरंभ करनी होगी। यह भट्ट नायक के नाम पर अथवा उनके आशय के नाम पर साहित्यशास्त्र के लक्षण-ग्रंथों में मिलता भी है—

अभिधा भावना चैव तद्भोगो कृतिरेव च।

यहाँ 'भावना' 'भावकत्व' का पर्याय ही है। भट्ट नायक इसी 'भावना' के कारण मीमांसक भी समझे जाते हैं। मीमांसा में वेद को अपौरुषेय माने जाने के कारण शब्द में ही 'भावना' माननी पड़ी थी। इसे शाब्दी और आर्थी कहा गया था। लगता है कि मीमांसा के इसी संस्कार से भट्टनायक ने काव्य को भी शब्दात्मक माना था और उसकी तीन शक्तियाँ कल्पित की थीं—अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व अथवा अभिधा, भावना और भोग। इस भावना का व्यापार बताया गया वह शब्द-सामर्थ्य जिसके बल से पदार्थों का इस रूप में अवस्थापन होता है जिससे वे हमारी वासना को उद्रिक्त कर सकें, उसकी रसात्मक परिणति कर सकें।

व्यञ्जना के पक्ष से विचार करते हुए अभिनवगुप्त ने उस भावना या भावकत्व को और कुछ नहीं बल्कि 'गुणालंकारपरिग्रहात्मक' बताया और कहा कि शब्द की इसी परिग्रहात्मक क्षमता का परिणाम है कि वह ग्राहक सादृश्य को रसाभिमुख कर देता है। साथ ही भावना को व्यञ्जना से एक रूप करते हुए उसे शब्द तथा अर्थ—उभयात्मक काव्य का सामर्थ्य बताया।

राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में भावक शब्द का प्रयोग अकस्मात् आलोचक अथवा सहृदय ग्राहक के रूप में मिलने लगता है। यहाँ भावकत्व भावक चेतन की क्षमता का पर्याय बना। इस रूप में वह सहृदय ग्राहक की काव्य-विषयक भावना से एकरूप कर दिया गया। संभव है, इसी प्रवाह में पण्डितराज जगन्नाथ ने 'भावना' का अर्थ 'पुनः पुनः अनुसन्धानात्मा' किया है।

वर्तमान युग में 'कल्पना' का साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में धड़ल्ले से प्रयोग हो रहा है और भावकत्व को उसके साथ भी जोड़ा जाने लगा है। आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' शीर्षक लेख में यह कहा है कि भावना या भावकत्व कल्पना का पर्याय है और वह दो प्रकार की होती है—ग्राहक तथा विधायक। लेकिन भावकत्व स्पष्ट ही भावक की क्षमता है और भावक तथा कवि एक नहीं, बल्कि काव्य के मुहाने और दहाने हैं—एक (कवि) से काव्य निकलता है और दूसरे में सार्थक होता है। एक पिता है दूसरा जामाता। एक उत्पादक है और दूसरा भोक्ता। अतः भावकत्व को ग्राहक कल्पना से ही एक-रूप किया जा सकता है—विधायक से नहीं।

उक्त विचारधारा से असहमति व्यक्त करते हुए कुछ लोगों का विचार है कि भावन कवि को भी करना पड़ता है और विधान ग्राहक को भी। कहा भी है "कविः भावयति, भावकश्च कविः"—कवि भावन करता है और भावक कवयन। कारण, कवि काव्य को बहिरंग रूप दे इसके पूर्व भावन शक्ति के ही बल से इन तमाम स्थितियों का भावन कर उनसे अपने को एकरस करता है। उसकी यह भावन-शक्ति ही उसकी तीसरी आँख है। इसी प्रकार ग्राहक भी इस माने में कवि है कि शब्द बोध के अनन्तर भावोत्तेजक या भाव दशा (अथवा कवि की लक्ष्य दशा) तक पहुँचा देने के लिए अपेक्षित रूप योजना—विश्वास ग्रहण—अपनी क्षमता से करनी ही पड़ती है, अन्यथा इस शक्ति की कमी होने से वह कवि की मूल संवेदना का साक्षात्कार नहीं कर सकता। शब्द और संवेदना के बीच रूप-निर्माण या बिंब-योजना अथवा अन्य मध्यवर्ती अर्थबोध रूपविधा भी कल्पनाशक्ति के बल से ही संभव है। इस प्रकार भावना या भाव-कत्व का ग्राहक और विधायक कल्पना से एकरूपता की जा सकती है, पर कवि में भावकत्व स्वीकार करके ही। बहरहाल भावकत्व भावक का ही धर्म है—भावक की ही विशेषता है। उसे सहृदय ग्राहक में तो मानना सहज और स्वाभाविक है ही, कवि में भी भावक की सत्ता मानकर वहाँ भी भावकत्व की विधायक कल्पना से एकरूप करना पड़ता है।

इस स्थिति में दूसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि भावन और विधान कहाँ तक एक और कहाँ तक भिन्न हैं? उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि भावक तो भावन करता ही है, कवि भी भावन करता है—विधान तो करता ही है। भावन और विधान दोनों एक तो नहीं हैं। कारण, राजशेखर कहता है और ठीक कहता है—"एकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः।"

भावक वह निकष है जो परीक्षा-क्षम है और कवि वह स्रोत है जो परीक्ष्य को पैदा करता है, अर्थात् ग्राहक कल्पना भिन्न है और विधायक भिन्न। भावकत्व

यदि किसी से एकरूप हो सकता है तो वह भावक की ग्राहक कल्पना से। यदि भावन करने के कारण वह भावकत्व कवि में भी माना जाता है तब भी यह प्रश्न जागरूक है कि भावना और विधान कवि में एक है या भिन्न ? कहा जा सकता है कि कवि भावनपूर्वक विधान करता है, अतः भावन विधान से भिन्न है। तब फिर समस्या खड़ी होती है कि इन दोनो की व्यापार-सीमा क्या है ? भावन-व्यापार कवि के अंतस् में सचित सस्कार को उभारता है—यह कच्चा माल है। विधायक कल्पना का कार्य इस कच्चे माल को आधार बनाकर काव्योचित रूप-योजना है। मूल सवेदन के अनुरूप उभरे हुए संस्कारो की सहायता से उनमें एकान्विति और काव्योचित रूप-निर्माण दोनों ही विधायक कल्पना का क्षेत्र है, अतः भावकत्व को विधायक कल्पना से एक करना पुनर्विचारणीय स्थिति है।

इस प्रकार भावकत्व ग्राहक में तो स्पष्ट है, क्योकि वह भावन कवि के काव्योचित अतस् मे निहित मूल संवेदना तथा अनुरूप प्रेपणक्षम रूप-योजना का पुनः साक्षात्कार है। यह भावन है। यहाँ नया विधान नही है, कवि तो भावन के अतिरिक्त विधान भी करता है। कल्पना तो ग्राहक एवं विधायक हो सकती है, पर भावकत्व और विधायक कल्पना कहाँ तक एक हैं—विचारणीय तथा चिन्त्य यह है। कतिपय चिन्तको ने भट्टनायक की भावना का अभिनवगुप्त द्वारा व्यञ्जना मे अन्तर्भावन देखकर व्यञ्जना और कल्पना को भी एक करना चाहा है। व्यञ्जना शब्द की अर्थग्राहिका शक्ति है, पर व्यञ्जना उन्ही के काम की है जिनमे प्रतिभा है। इसलिए व्यञ्जना तथा भावना को स्पष्ट करते हुए कतिपय समीक्षको ने उसे शब्द एव ग्राहक दोनों के सामर्थ्य का लेखा-जोखा लेने वाला माना है। इस प्रकार भावकत्व से कल्पना की तुलना काफ़ी रोचक और विचारोत्तेजक है।

● ●

नौ | नयी कृतियाँ : पुराना मूल्यांकन—पुरानी कृतियाँ : नया मूल्यांकन

प्रस्तुत शीर्षक में ऐसे अनिश्चयात्मक और अस्पष्ट शब्दों का प्रयोग किया गया है कि जब तक उन्हें परिभाषित और निश्चित न कर लिया जाय तब तक वैचारिक दिशा में गतिशील होना ही सम्भव नहीं है। 'पुरानी' और 'नई'—दोनों ही शब्द सापेक्षार्थक होने के कारण यदि एक ओर अनिश्चित है तो 'नया मूल्यांकन' अपने अनिर्णीत और असर्वसम्मत रूप में दूसरी ओर अस्पष्टार्थक है। सन्दर्भ को देखते हुए यह लगता है कि 'पुराना' और 'नया' की भेदक रेखा विज्ञान ने खींची है। विज्ञान के प्रवेश से पूर्व सारी भारतीय चेतना ही क्या, सार्वभौम चेतना धर्म के प्रभाव से आक्रान्त थी—फलतः व्यक्ति में 'विशिष्ट' का और उसके लिए प्राप्य में 'यथार्थ से परे' का महत्त्व था। ज्यों-ज्यों विज्ञान-सिद्ध ज्ञानालोक का प्रसार बढ़ता गया त्यों-त्यों अनेकानेक धार्मिक मान्यतायें खण्डित होती गई, श्रद्धा एवं विश्वास जैसे धर्म और अध्यात्म के पाँव लड़खड़ाते गये, सर्वत्र जिज्ञासा और प्रश्न के भाव उद्ग्रीव होते गए। भारतवर्ष की भी बौद्धिक चेतना अगड़ाई लेती हुई उठ बैठी। नव जागरण अथवा पुनरुत्थानवाद की बेला आई। इस स्थिति का स्पष्ट प्रभाव रीतिकाल के बीतते-बीतते 'हरिश्चन्द्र युग' से ही लक्षित होने लगा अर्थात् 'विशिष्ट' और 'अदृष्ट' के साथ-साथ 'सामान्य' और 'यथार्थ' की भी चर्चा काव्य होने लगी। द्विवेदी-युग में अपेक्षाकृत और अधिक बौद्धिक प्रखरता के साथ कविगण परम्परागत सामग्री को प्रस्तुत करने में सचेष्ट होने लगे। छायावादी साहित्यकारों ने अवश्य परम्परागत स्थूल धार्मिक मान्यताओं का वर्जन किया, पर आध्यात्मिक भूमिका और रोमानियत इनका भी प्रबल पाथेय रहा। इस युग के बीतते-बीतते विज्ञान ने मध्यवर्गीय संवेदनशील भारतीय साहित्यकारों को भावना, कल्पना, आदर्श, अध्यात्म और अदृष्ट से सर्वथा हटाकर एक मात्र 'सामान्यजन' (लोक) और 'यथार्थ' की ही ओर केन्द्रित कर दिया। इस प्रकार यह यथार्थ-केन्द्रित चेतना स्पष्टतः, यथार्थेतर-केन्द्रित चेतना से

भिन्न पड़ गई, फलतः नयी लगी। इस प्रकार की चेतना से सम्पन्न साहित्यकारों ने अदृष्टवादी परम्परागत चेतना को पुरातन की संज्ञा दी। निष्कर्ष यह है कि स्पष्ट ही विज्ञानसम्मत यथार्थमुखी काव्य-धारा की कृतियाँ 'नई कृतियाँ' कही गई और धर्माध्यात्मसम्मत काव्य-धारा अपेक्षाकृत पुरानी कही गई। छायावाद का अन्त अर्थात् लगभग १९३६ को ही काल-विभाजक रेखा माना गया। यों किसी भी देश की काव्य धारा अपनी अविच्छेद्य प्रवहमानता में कहीं विभक्त या खण्डित नहीं होती, पर देशकाल का बृहत व्यवधान कुछ ऐसे रंगों को उस धारा में उभार देता है कि आपाततः उनमें विभाग लक्षित होने लगता है। इस 'नये' और 'पुराने' के विभाग को ऐसा ही समझना चाहिए।

'नयी कृतियाँ' की परिधि में यदि आपको अभिमत हो तो एक विशिष्ट बौद्धिक धारणा से लिखी गई समाजवादी यथार्थपरक रचनाओं को भी बाहर रखा जा सकता है, क्योंकि अन्ततः वे रचनाएँ भी एक ढंग से आदर्शवादी हैं। कारण, वे रचनायें एक सुनिर्दिष्ट भविष्य को ध्यान में रखकर सप्रयोजन लिखी जाती हैं। इसी प्रकार नवस्वच्छन्दतावादी रचनायें भी अपनी रोमानियत के कारण इस वैयक्तिक 'यथार्थ के अनुभव' और 'अनुभव की यथार्थता' पर अपने आपको निष्ठापूर्वक केन्द्रित रखनेवाली 'नई कृतियों' से पृथक् रखी जा सकती हैं। यद्यपि 'प्रयोग' की वृत्ति इन तीनों धाराओं—सामाजिक यथार्थवादी धारा, मनोविज्ञानमुखी वैयक्तिक-यथार्थ की धारा तथा नवस्वच्छन्दतावादी धारा—में समान रूप से उपलब्ध है, तथापि जिनके कारण हम छायावादी या तत्पूर्ववर्ती काव्य-धारा को 'नई कृतियों' में समाविष्ट नहीं करते, वही बात शेष परवर्ती दो धाराओं में जब उपलब्ध है तो उन्हें किस प्रकार इस आलोच्य परिधि में लिया जा सकता है? 'बौद्धिक धारणा' का आत्यंतिक विच्छेद तो कभी भी सम्भव नहीं है, पर अपनी आपेक्षिकता में उससे मुक्त कहने का अभिप्राय इतना ही हो सकता है कि वह प्राप्त धारणाओं के बल पर निर्मित विवेक की सर्जनशील वृत्ति की विकासशील सम्भावना को रोकने वाली धारणा आरोपित न करे। जहाँ तक विज्ञानसम्मत यथार्थ की बात है, उसकी ओर कवियों की दृष्टि हरिश्चन्द्र-युग से ही विशेष रूप से एकाग्र होने लगी थी और उसकी अन्तिम परिणति इन 'नयी कृतियों' में दिखाई देती है। इस प्रकार वर्तमान आलोच्य संदर्भ में 'नयी-कृतियों' को इसी रूप में लिया जा सकता है। इसकी अपेक्षा में वे कृतियाँ 'पुरानी' कही जा सकती हैं जिनमें किसी न किसी प्रकार बौद्धिक धारणा यथार्थ को

अपनी समग्रता में उभरने से रोक लेती है और उरेहे जाने वाले जीवन को भावमयता तथा आदर्श से ढँककर प्रस्तुत करती हैं।

कृतियों के नये और पुराने रूप का स्पष्टीकरण कर लेने के अनन्तर मूल्यों के 'नये और पुराने' रूप की बात आती है। पुराने आचार्यों ने वाङ्‌मय के काव्येतर रूप से काव्य का व्यावर्तक और केन्द्रीय वैशिष्ट्य सर्जनात्मक अनुभूति या सौन्दर्यानुभूति को माना है और माना है कि व्यवस्था अथवा औचित्य उसके लिये नितान्त अपेक्षित तत्व है। वे काव्य को सामाजिक वस्तु मानते है और सामाजिक द्वारा ग्राह्य बताते है। सामाजिक रुचि का सामाजिक असामाजिक को सौन्दर्य का विघटक मानता है—फलतः उत्कृष्ट काव्य में व्यक्त रसात्मकता सहज ही मानवीय और सामाजिक मूल्यों से समन्वित हो जाती है। उनकी दृष्टि मे काव्य का कलात्मक मूल्य इस बात मे निहित है कि वहाँ वस्तु और कला अविच्छेद्य तथा सहज सम्बद्ध हो, समस्त उपकरण अपनी अच्युत और अपरिवर्तनीय क्षमता में तत्व के अनुरूप सहज प्रेरणा रूप स्वतः सन्नियोजित हो गये है। इस सन्दर्भ में यह भी स्पष्ट जान लेना चाहिए कि प्राचीन आचार्य यह कभी नही मानते है कि काव्य के मूल्य मे निहित कवि प्रतिभा सर्वदा रसात्मक आवेश में ही सक्रिय होती है। अभिप्राय यह है कि उत्कृष्ट काव्य का निकष रसात्मकता अवश्य है पर काव्य मात्र का नही। पुराने आचार्यों ने ऐसी भी रचनाओं को काव्य माना है जहाँ अन्य प्रकार की भी उथली सौन्दर्य वृत्ति कवि की प्रतिभा का संचालन करती है। पर साथ ही यह भी निश्चित है कि जिसे कवि कहना चाहिए उसके काव्य मे काव्योचित रसावेशवश अच्युत और अपरिवर्तनीय सक्षम उपकरणों से साध्य की सहज नियोजना हो ही जाती है।

जहाँ तक नये प्रतिमान और मूल्यों की बात है, अतिवादियों को छोड़ दे तो अतियों और विकृतियों से बचकर चलने वाले चिंतकों की यह धारणा है कि नई कृतियों के साथ न्याय करने वाले प्रतिमान अनेक सम्भव हो सकते हैं—वस्तुगत भी और कलागत भी। इतना तो स्पष्ट है कि इनमें संघर्ष, तनाव, व्यंग्य, असंतोष, नैराश्य, बौद्धिकता और मृत्यु का स्वर अधिक तीव्र है। सो इन स्वरों से समन्वित नई कृतियों का मूल्य इस बात में है कि वे 'परम्परा' और 'व्यक्ति' के संघर्ष को संतुलन और स्वस्थ विकास की दिशा में बढ़ावा कहाँ तक दे रही है? इसलिए रमेश चन्द्र भट्ट के शब्दों मे "एक ओर एतद्देशीय ऐतिहासिक-सांस्कृतिक बोध की गहराई तथा दूसरी ओर कवि की ज्ञानसंवेद-नात्मक चेतना की वैश्विक प्रतिश्रुति—इन दोनों तत्वों के सार्थक, सुदीर्घ,

सर्जनात्मक संघर्ष, सन्तुलन की साधना को हमारी कविता के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतिमान के रूप मे पहचानना परम आवश्यक हो जाता है।" (नई कविता, अंक ८, पृष्ठ २३०)। इसके साथ राजनीति और विज्ञान की तमाम निष्पत्तियो के आलोक मे आज का तरुण मानस अपने अस्तित्व-बोध को निष्कवच या अरक्षित देखकर सत्रस्त है। नई कृतियो में अभिव्यक्त यह संत्रास भी अपनी पृष्ठभूमि मे किसी मूल्यान्वेषण की वृत्ति को रखकर प्रतिमान बन सकता है। यथार्थ की अनुभव और अनुभव की यथार्थ के प्रति निष्ठा एक तीसरा प्रतिमान भी हो सकता है। इन वस्तु-पक्षीय प्रतिमानो के साथ-साथ कला-पक्षीय प्रतिमानो का जहाँ तक सम्बन्ध है, कहा जा सकता है कि आज का कवि अपनी युगीन और वैयक्तिक धड़कनो की बारीकियो को मूर्त करने मे बिम्ब-विधान से आगे जाकर लय और शब्द-संवेदन की सूक्ष्म विषेशताओ की ओर बढ रहा है। बिम्ब-विधान में दृश्य पक्ष पर ध्यान रहता है, पर श्रव्यता के लिए ध्वनिमत्ता का भी नियोजन आवश्यक है—ध्वनिमत्ता मे अभिप्राय एक ओर सगीतिकता से तो है ही दूसरी ओर परिवेश के अनुरूप कई शेड्स खोलने की शब्द की क्षमता से भी है। इसी प्रकार वयस्क कविता के राग और बोध की अपनी समग्रता और समरसता मे काव्योचित स्रोत बन जाना भी एक कलापक्षीय प्रतिमान कहा जा सकता है।

ऊपर जो 'नये और पुराने' प्रतिमानो की बात कही गई है उसे ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनमे युगीन विशेषताओ को छोड़कर उनकी भी तह में निहित रहने वाले सामान्य और सार्वभौम वैशिष्ट्य भी है। वास्तव में जब वयस्क काव्यधारा अपने प्रवाह में अविच्छिन्न रहती है—युगीन विशेषताओ से समन्वित रहा करती है, तब प्रतिमान भी अपनी सामान्यरूपता में शाश्वत होकर युगीन परिष्कार का निर्भीक ग्रहण और परित्याग कर सकता है। अज्ञेय[१], गिरिजा कुमार

---

१. "जहाँ सर्जनात्मक शक्ति है, वहाँ एकांगिता को सम्भावना कम है। पुष्ट सौन्दर्य बोध के साथ पुष्ट नैतिक बोध भी होता ही है।" (हिन्दी साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य)।

माथुर[१], मुक्तिबोध[२], जगदीश गुप्त[३], तथा पंत[४] सभी सहजता को महत्त्व देते हैं।

सारा संघर्ष मानव के सहज रूप को प्राप्त करने के लिए है। वही संघर्ष साहित्य में जब सहज ही प्रतिफलित होता है तब उसे ऊर्जा तथा दीप्ति देता है। मेरा तो यह प्रस्ताव है कि काव्य और उसके प्रतिमानों के मूल्यांकनार्थ नये और पुराने खेमों को विच्छिन्न करके नहीं देखना चाहिए, क्योंकि काव्य और आलोचना दोनों ही सांस्कृतिक प्रक्रिया हैं जो अपनी अविच्छिन्नता में निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं। अंततः 'नया' और 'पुराना' विशेषण ही है—ऊपरी कंचुक ही है, अन्तरात्मा या विशेष्य नहीं। वयस्क काव्य की कुछ शाश्वत शर्तें हैं जो देश-काल की परिधियों को तोड़ कर सदा सर्वत्र विद्यमान रह सकती है। यह अवश्य है कि युगीन धड़कनों और दृष्टियों का नया, पुराना कंचुक उस पर चढ़ता उतरता रहता है। आखिर विचारणीय यह है कि कालिदास, आनन्द वर्धन और गिरिजा कुमार माथुर तीनों वयस्क कवित्व में क्यों एक सा श्लाघ्य लगते है? कोई उनमे शाश्वत वस्तु, सबसे अच्छी लगने वाली कवित्व प्रयोजक वस्तु है जो गेटे, आनन्दवर्धन तथा गिरिजा कुमार माथुर तीनों को संकृत करती है। शाश्वत कहने में हिचक हो, अपेक्षाकृत स्थायी कह लीजिये। इस बात को सब स्वीकार करते हैं कि जहाँ मनुष्य अपने सहज यथार्थ को समग्रता में सहज ही उतार दे, वस्तु और आकार

---

१. "आवश्यक है कि भावपक्ष, बिंबपक्ष और नादपक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्टतया पहचाना जाय तथा यह स्वीकार किया जाय कि इनमें से कोई तत्त्व गौण नहीं है।" (नयी कविता : सीमाएँ और सम्भावनाएँ, पृष्ठ ११६)।

२. "संवेदनानुसारी शुद्ध चेतना का विकास कवि के लिये महत्त्वपूर्ण है।" (नई कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ २२)।

३. "अनुभूति और अभिव्यक्ति की सच्चाई पर आग्रह बहुत स्वाभाविक होता है। अनुभूति और अभिव्यक्ति की सच्चाई ही ऐसी नवीनतता को जन्म देती है, जिसे साहित्य में महत्त्वपूर्ण कहा जाता है।" (नई कविता १९६०-६१ का संयुक्तांक ५-६, पृष्ठ १७)।

४. "उसके (कविता के) शब्द ऐसे होने चाहिए ....जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें" (पल्लव की भूमिका, नवाँ संस्करण पृष्ठ ३०)

सहज ही अविच्छेद्य बन गए हों, उपकरण अपनी-अपनी अच्युति और समस्त क्षमता में अपरिवर्तनीय रूप से जुड़ गए हों—वह वयस्क काव्य है। वास्तव में प्रतिमान ऐसे ही काव्यों को केन्द्र में रखकर बनाया जा सकता है और उसीसे मूल्यांकन हो सकता है। पुराना और नया केवल युगीन रुचियों और दृष्टियों के अनुरूप उपकरणों का संयोजन है। वे सबके सब यदि मनुष्य के सहज रूप को सहज ढंग से पाने के लिए संघर्षरत है तो मूल्यवान है।

पुरानी कृतियों को यदि हम नये परिवेश के अनुरूप नये प्रतिमानों से मूल्यांकित करने की बात करते हैं तो हमें देखना होगा कि उनमें प्रगति का भी आत्मसंघर्ष अपनी यथार्थता में सामाजिक यथार्थ से साथ उभर कर मनुष्य के सहज रूप की ओर कहाँ तक बढ़ा है और पुनः इस बढ़ाव को बौद्धिक धारणाओं ने कब कहाँ आच्छन्न करके उसकी गति रोक दी ? फिर उस प्रवृत्ति ने कब-कब अपना सिर उठाया और कब-कब ढंक दी गई ? कलात्मक दृष्टि से आत्म-सत्य को व्यक्त करने के लिए अर्थ या चित्र और नाद के स्तर पर जहाँ जो नए प्रयत्न हुए है, उनका सचार पुरानी कविताओं में कहाँ तक हो सकता है ? उसी प्रकार जब हम पुरानी दृष्टि से नये साहित्य को देखते है तब देखते हैं या देखना चाहते है कि अपनी अर्जित सांस्कृतिक दृष्टि से नई कृतियों का सांस्कृतिक उत्थान मे अनुरूप योगदान कहाँ तक हो सका है ? यदि नई कृतियों या नए कृतिकारों ने संघर्ष के माध्यम से किसी सांस्कृतिक विध्यात्मक दिशा की ओर दृश्य योजना तथा ध्वनि योजना के धरातल पर वयस्कता प्रदर्शित की है तो वह पुरानी दृष्टि से भी मूल्यवान है। यह पुरानी दृष्टि इसलिए कही जा रही है कि इसमें पूर्व-निर्धारित सांस्कृतिक दृष्टि से मूल्यांकन की बात कही गई है। यद्यपि ज्ञानपूर्वक इस दृष्टि से नई कविता निर्मित नही हो रही है, तथापि अनजाने वह परम्परागत सांस्कृतिक चेतना उनकी कृतियों में सक्रिय हो गई है। कलात्मक दिशा मे व्यक्ति ने अपने को कहाँ तक सर्वभौम बनाने का प्रयत्न किया है ? आँसू और हास को युगीन आकारों द्वारा अपनी समग्र अनुरूप बौद्धिकता के साथ चित्रित कर कहाँ तक रसात्मक क्षमता उत्पन्न की है ? नाद-सौन्दर्य और अर्थगाभीर्य की योजना कहाँ तक सफल की है ? सर्वप्रथम पुरानी कविता और नया मूल्यांकन वाले पक्ष को ले। नया मूल्यकान नई पसन्द और रुचियों से होता है, यद्यपि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस युगीन रुचि और पसन्द के निर्मोक की तह मे काव्य की कुछ शाश्वत विशेषताएँ भी होती हैं जो वयस्क काव्य मे उभरती है। नई पसन्द काव्य में यथार्थ का अनुभव,

अनुभव की यथार्थता, जीवन का ताप, आत्म-सत्य की उपलब्धि के निमित्त किये गए संघर्ष की ज्वाला, समाज और व्यक्ति, परम्परा और प्रयोग के उभयमुखी खिंचाव मे पडी आत्मा की कशमकश, जीवत चित्र, ध्वनिमत्ता की बारीकियाँ, नये प्रयोगो और इन सबके द्वारा उभरने वाला ताजापन देखना चाहती है। वास्तव मे जब-जब हमारी सास्कृतिक चेतना नवागन्तुक सास्कृतिक चेतना से टकराई है, तब-तब समन्वय की खोज मे हमारी चेतना नया आकार ग्रहण करने के लिए तडप उठी है—संघर्ष की प्रक्रिया से गुजरी है। पूर्वागत आर्यो की यज्ञाग्नि ठंडी पड़ते देख औपनिषद जिज्ञासुओं मे आत्म-सत्य की उपलब्धि की अभूतपूर्व आग है। वे जाति-पाँति भूलकर सत्य के साक्षात्-कर्ता के समक्ष पहुँचकर अपनी आकुलता प्रगट करते है। यही तडप और सघर्ष रूढ़ि की धज्जियो को उडाकर अतिवादो से बचते हुए मध्यमा प्रतिपदा के लिए यत्नशील बौद्धों मे भी लक्षित है। शतियो से समरस या एकरस चली आती हुई भारतीय चेतना के समन्वयार्थ पुनः आत्मविस्तार के लिए इस्लामी प्रवाह ललकारता है। तब उस समय भी निर्भीक कबीर की वाणी यथार्थ का पर्दाफाश करती है। तुलसी का भी ध्यान वर्णाश्रमवादी धारा के अनुरूप भारतीय सास्कृतिक चेतना को प्रवाहित रखने मे लगा है। रीतिकालीन साहित्य में यह उत्ताप खो जाता है—आग ठण्डी पड जाती है। यह बात नही कि वहाँ शृंगार की धारा ठंडी है बल्कि यह बात है कि वहाँ उसकी भी आग ठण्डी है; अन्यथा विद्यापति का उत्तप्त और ताजापन लिए शृंगार आज की रूचि को भी आकृष्ट करेगा; घनानन्द और बोधा की तड़प आज के लिए भी मूल्यवान है। जिन-जिन कवियों मे शृंगार की आग ठण्डी नही है ऐसे बिहारी, मुबारक[1], मतिराम, देव एवं पद्माकर आदि कवियो के ताजे चित्रो का आज की पसन्द मे भी मूल्य है।

मूल्य उन पुरानी रचनाओ का भी है जहाँ लयवत्ता, नादसौन्दर्य और परिवर्तित परिवेश के अनुरूप उपलब्ध होने वाले ग्रन्थो मे विभिन्न शेड्स विद्यमान है। पुरानी कृतियो के वे अंश भी आज की पसन्द के अनुरूप मूल्य रखते है

१—"चूनरी विचित्र श्याम साजि कै मुबारक जू,
ढांकि नखसिखतें निपट सकुचाति है।
चाँद मैं लपेटि कै समेटि कै नखत मानों,
दिन को प्रमाण किये राति चली जाति है।"

—मुबारक।

जहाँ नये प्रयोग है। अभिप्राय यह है कि जब पुरानी कृतियों में आधुनिक रुचियों के अनुरूप विधान है, तो उसका मूल्य भी है।

जहाँ तक पुरानी पसन्द का सम्बन्ध है, उसकी पहली माँग यह है कि कविता पाठक को वैयक्तिक भूमि से ऊपर उठाकर रसमग्न कर दे और अनुसंगत सांस्कृतिक भावों को जगा कर मानवीय भूमि पर उठा ले जाय। इन बातों के साथ कलात्मक उपकरणों की 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' योजना है। पर सवाल यह खड़ा होता है कि पुराने संस्कार नई रुचियों से ओत-प्रोत रचनाओं पर लागू होंगे ? पुराने लोग 'सामान्य' की ओर जाते हैं, जबकि 'नये' व्यक्ति 'विशेष' की ओर। पुराने लोग 'रसानुभूति' की ओर उन्मुख रहते है, जबकि नये लोग 'सह अनुभूति' की ओर जाना चाहते हैं। पुराने फलतः व्यक्तित्व का विगलन और सामग्री का साधारण्य चाहते हैं, जबकि नये ताटस्थ्य का निर्वाह आवश्यक चाहते है। पुराने बौद्धिक धारणा और भावना की रंगीनी पर रीझते हैं, जबकि नये वस्तुमुखी मुक्त दृष्टि तथा बौद्धिकता और यथार्थ का स्वागत करते है। इस प्रकार नयो को तो रुचि पसन्द की कुछ चीजें पुरानी कृतियो में मिल जाती हैं, पर नई कृतियों मे पुराने क्या पायें ? वास्तव मे नये और पुराने को मिलाने की दो भूमिकाएँ हैं—एक तो युगीन रुचियाँ जहाँ 'नया और पुराना' का व्यवहार हो सकता है और दूसरी काव्य के लिये अपेक्षित शाश्वत या स्थायी तत्व जहाँ वैसा कुछ नही है। यदि प्रथम भूमि रुचिभेद के कारण अग्राह्य है तो दूसरी अभी उभर न सकने के कारण अप्राप्य है। नये कवि क्योंकि कलात्मक और सांस्कृतिक मूल्यो की खोज में ही हैं, अतः स्थायी प्रतिमान बन ही नही सके है। इसलिए 'नये' में 'पुरानो' को क्या मिलेगा ?

यद्यपि वैचारिक भूमिका पर ये सब बातें उठती हैं तथापि प्रायोगिक रूप मे रचनाओ को देखने से पुरानी पसन्द की चीजें भी उपलब्ध हो जाती है। वस्तुतः देखा जाय तो 'नयेपन' से कविता का कोई विरोध नही है। 'कविता' के लिए ही 'नयेपन' की आवश्यकता होती है अर्थात् 'नयापन' कविता को कविता होने के लिये अपेक्षित है। तीसरे आज नई प्रतिभाओ द्वारा जो प्रबन्ध आ रहे है, उनमे सांस्कृतिक मूल्यो के अनुसन्धान का संघर्ष है। 'आत्मजयी' की तड़प ऐसी ही है, 'चिन्ता' मे भी ऐसी ही चिन्ता व्यक्त की गई है। 'अंधायुग' का अगला क़दम 'कनुप्रिया' की ओर उठा है। अज्ञेय की नई कृतियो की परिणति 'आँगन के पार द्वार' मे है। इसीलिये 'नई कृतियों' का बौद्धिक संघर्ष सांस्कृतिक मूल्यों की ओर झुके रहने के कारण पुरानी रुचियो को पसन्द

पड़ता है । उनमें कलात्मक झंकृति भी मूल्यमयी है । नरेश कुमार का उदाहरण लें :—

उषस्—उदयाचल से किरन धेनुएँ
हाँक ला रहा वह प्रभात का ग्वाला ।
पूँछ उठाए चली आ रही
क्षितिज जंगलों से टोली ।
दिखा रहे पथ इसी भूमि का
सारस सुना सुना बोली ।
गिरता जल फेन मुखों से
नभ में बादल बन तिरता,
किरन धेनुओं का समूह,
यह आया अन्धकार चरता,
नभ की आम्र छाँह में बैठा,
बजा रहा बंशी रखवाला ।

× ×

"बह चुकी बहकी हवाएँ चैत की
कर गईं पूले हमारे खेत की ।
कोठरी में लौ जला कर दीप की
गिन रहा होगा महाजन सेंत की ।"—अज्ञेय

'नई कृतियों' में शाश्वत तत्त्व भी उभरे हैं । माथुर की कई रचनायें है जहाँ वस्तु और कला अपनी अविच्छेद्यता में एकरस हैं ।

इस प्रकार हम देखते है कि वयस्क कवित्व के मूल उत्स पर बैठे हुये नये और पुराने कवि तथा नये और पुराने आलोचक सामयिक उपकरणो और रुचियो के परिवर्तनशील निर्माण की तह मे निहित कतिपय सामान्य काव्योचित विशेषताओं को पाते है । इसी सत्य से युक्त होने के कारण हम काव्य-प्रक्रिया और आलोचना-प्रक्रिया को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया कह पाते है और अपनी अविच्छिन्न प्रवहमानता मे परीक्षित करते है । 'नया' और 'पुराना' ऊपरी निर्माण है जिसका सामाजिक महत्व अवश्य है पर दोनों के साथ एकरस लगा रहने वाला 'काव्य' किसी निहित एकरसता की ओर भी संकेत करता है—द्विवेदी जी के शब्दों मे जिसे हम 'महा एकता' कह सकते है । वयस्क कवि और आलोचक की दृष्टि सायास अथवा अनायास उससे सम्पृक्त रहकर सामयिक निर्माण को ग्रहण करती चली जाती है ।

● ●

दस | वर्तमान साहित्य में 'यथार्थ' के बदलते रूप

वर्तमान साहित्य में चित्रित हो रहे 'यथार्थ' की मूलवृत्ति है—'विसगति'। किसी भी राष्ट्र और समाज को सश्लिष्ट और सगत रखने में रीढ का काम करती है उस देश की स्वस्थ वैचारिक एकता और उसके प्रति पूर्ण निष्ठा। स्वस्थ विचार मैं उसे ही मानता हूँ जो हमें मनुष्य के रूप मे जीने दे। आज के किसी विशेष राष्ट्र और समाज मे ही नहीं, वरन् समूचे जीवन और जगत् मे वह स्वस्थ वैचारिक पीठिका जो मानव-हितैषियो के द्वारा प्रतिष्ठापित "की गई थी या की गई है"—रीढ की जगह मे हटकर स्वार्थ-पूर्ति, पाशविक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये ढाल या मुखौटा बन गई है। फलत सारा का सारा युग और जीवन लिजलिजा, लुज-पुज और अपग हो गया है। स्वस्थ विचारो और अमानवीय कार्य व्यापारो के बीच बढती हुई 'विसगति' आज के जीवन का खरा यथार्थ है। विज्ञान ने उस भारतीय वैचारिकता को, जिसके अनुसार समूचा यथार्थ-जीवन और जगत् तुच्छ एव नगण्य समझा जाता था, ध्वस्त कर दिया है। परिणाम यह हुआ कि विज्ञान के प्रभाव मे उभरता हुआ बुद्धिजीवी वर्ग अध्यात्म प्रतिष्ठापित 'अदृश्य' की जगह विज्ञानसम्मत 'दृश्य' या 'यथार्थ' को ही सब कुछ मानने लग गया है। जगत् और जीवन मे विचारो का यह बदलता हुआ सदर्भ आज साहित्यकार को भी सचेत करना है कि वह साहित्य की युग-चेतना और सामाजिक यथार्थ की ही अभिव्यक्ति का कलात्मक माध्यम स्वीकार करे। यथार्थ मे खुरदरे यथार्थ की ओर बढती हुई अद्यतन दृष्टि ने और आगे बढकर अब यह भी घोषणा कर दी है कि साहित्य 'हाथ की छटपटाहट' अथवा 'तात्कालिक प्रतिक्रिया की भाषा' है। साहित्य विषयक ये धारणाएँ आज उसका 'यथार्थ' से अविच्छेद्य सम्बन्ध जोड़ने लग गई हैं।

विज्ञान के बढते हुए प्रभाव ने अतीत की मान्यताओ को खोखला साबित कर दिया है और हिन्दी साहित्य मे इन खोखली मान्यताओ तथा और उनसे विच्छिन्न चल रही जिन्दगी के बीच उभरती हुई 'विसगति' की १९३६ के आस-पास

से ही निर्भीक अथवा विद्रोही व्यंजना होने लगी। गगनचारी छायावाद के प्रतिनिधि और समर्थ कवि निराला ने ही कहा—'विहग के वे पंख बदले।' उन्होंने 'कुल्ली भाट' में घोषणा की—"अधिक न सोचा। मालूम किया, जो कुछ पढ़ा है कुछ नहीं, जो कुछ किया है व्यर्थ है, जो कुछ सोचा है, स्वप्न है। कुल्ली धन्य है ··।" उन्होंने यह भी कहा कि वेदान्त की माया 'कायरों के चित्त की भाँति' है। "कौन तम के पार रे कह?" द्वारा 'अदृश्य' पर संदेह और निषेध प्रकट किया और अपने साहित्य में धरती के ज्वलंत यथार्थ को चित्रित करने लग गये। यही वह समय था जब प्रेमचन्द्र 'पूस की रात', 'कफन' और 'गोदान' के द्वारा 'आदर्श' के साथ 'यथार्थ' के सामंजस्य का मोह भंग कर रहे थे। जैनेन्द्र की 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' ने भी परम्परागत मान्यताओं की जड़ हिला दी। जैनेन्द्र का तो उद्घोष ही है कि उनका सारा लेखन अतीत की विजड़ित होती हुई मान्यताओं को हिला देने के लक्ष्य से ही है। दृश्य काव्य के क्षेत्र में भी इब्सन और शॉ का प्रभाव संक्रांत हो जाता है और अतीत के गड़े मुर्दों के उखाड़ने में संलग्न भावुकता, कल्पना तथा विचारों के विरोध में 'यथार्थ' का चित्रण आरम्भ हो जाता है। निष्कर्ष यह कि १९३६ से ३९ का यह वह समय था जब संवेदनशील लेखकों ने यथार्थ की इस 'विसंगति' को भलीभाँति दीक्षित कर लिया था और उसे चित्रित भी करने लगे थे। सन् १९३७ में 'विसंगति' शीर्षक से प्रभाकर माचवे ने एक कहानी ही लिखी थी, जिस पर उन्हें 'सिनिक' की उपाधि मिली थी।

विज्ञान के प्रभाव से बुद्धिवादी चिंतकों ने, जैसा कि ऊपर कहा गया है, अतीत की मान्यताओं को समय के निकष पर उसकी अनुपयोगिता में निःसार बताया। विज्ञान की बढ़ती हुई आविष्कृतियों ने रहे-सहे तत्वों को भी ध्वस्त कर दिया। वर्तमान संदर्भों के अनुरूप विज्ञानसम्मत जो विचारधारा मार्क्स ने प्रतिष्ठित की वह 'छायावाद' के अनन्तर 'प्रगतिवाद' के नाम से साहित्य में प्रतिष्ठित हो गयी। इस वाद के आलोक में साहित्य का लक्ष्य ही निर्धारित किया गया यथार्थ चित्रण। पर यथार्थ के विषय में उनका अपना दृष्टिकोण ही भिन्न है। उनका यथार्थ न तो फोटोग्राफिक ही है और न तो प्रकृतवादियों की भाँति नग्न ही—जिसका आभास उग्र, चतुरसेन शास्त्री तथा 'प्रसाद' के कंकाल में समीक्षकों ने देखा और दिखाया है। वस्तुतः उक्त लेखकों की रचनाओं में यथार्थ की नग्नता केवल शैलीगत ही है—दृष्टि इन सबकी आदर्शवादी है। इसीलिए मेरी दृष्टि में प्रकृतवादी यथार्थ वह 'आभास' ही है—प्रतिष्ठा नहीं। ने अपने यथार्थ को यथार्थ की

संज्ञा प्रदान की है। उनका मतव्य है कि जीवन और जगत् में लक्षित होने-वाली विसंगतियो और अन्तर्विरोधो को कलाकार लक्षित करे तथा सच्चाई और ईमानदारी के साथ उनका साहित्य मे चित्रण करे। रामविलास शर्मा, नागार्जुन, शिवमंगल सिह 'सुमन', रागेय राघव, केदारनाथ अग्रवाल आदि की साहित्यिक कृतियो मे इस यथार्थ का चित्रण मिलता है। यहाँ ज़ोला और फ्लावेयर की भाँति केवल गर्हित और अधकार का ही नही, प्रशस्त और विज्ञान-सम्मत प्रकाश की भावी संभावनाओ का भी अंकन होता है। यथार्थ प्रतिगामी एवं प्रगतिगामी शक्तियो के संघर्ष का चित्र है। लेकिन व्यावहारिक रूप मे इसकी रचनाएँ सिद्धान्त की लीक छोडकर काफ़ी इधर-उधर चली गई हैं। इसीलिए इस वाद के नाम पर लिखी गई रचनाएँ यदि एक तरफ़ प्रचार के धरातल पर निरा सपाट बन गई हैं तो दूसरी ओर श्रीकान्त वर्मा के शब्दों मे अतिशय रोमानी मनुष्य का भाववुकता पूर्णलेखन बन गया है।

प्रजातान्त्रिक जीवन प्रणाली मे आस्था रखने वाले बुद्धिजीवियो ने 'यथार्थ' की प्रगतिवादी धारणाओ एवं चित्रणों की मुख़ालफत की और साम्यवादी विचारधारा ने 'व्यक्ति'-हित मे विसगति देखी। इस धारा ने मनोविज्ञान की निष्पत्तियों को व्यक्तिगत यथार्थ चित्रण के लिए महत्वपूर्ण समझा। प्लाख-नोव का कहना है कि जब व्यक्ति 'अहं' को ही एक मात्र सत्य स्वीकार कर लेता है तब बाह्य जगत् या तो उसके लिए एकमद यथार्थ हो उठता है अथवा यदि यथार्थ हो भी तो उस सीमा तक जहाँ तक वह उसके अहं पर आधारित हो। 'शेखर . एक जीवनी' मे इस अन्तश्चेतनावादी और विद्रोही का यथार्थ चित्रण मिलता है। यहाँ प्रेमचन्द एवं जैनेन्द्र की भाँति व्यक्ति की समाज से या व्यक्ति से नही, वरन् व्यक्ति की स्वयं से एक तीखी ही सघर्ष-दिशा मिलती है। इसी अहवादिता के कारण बाह्य यथार्थ के प्रति विमुख होकर प्रयोगवादियो ने अपने अन्त:करण और उसमे उठने वाली भाव छवियो को ही एकमात्र यथार्थ समझा और चित्रित किया। वह यथार्थ से आगे बढकर अतियथार्थवादी चित्रणों तक गया। अपने अंतस् के अचेतन तल पर सर्जना के क्षण विशेष मे उत्पन्न और अनायास अभिव्यक्त छायाओं और छवियो को ही काव्य का सत्य या यथार्थ कहा। अज्ञेय की ही पंक्तिया हैं—

> "आओ बैठो क्षण भर तुम्हें निहारूँ
> झिझक न हो कि निरखना
> दबी वासना की विकृति है।"

—'हरी घास पर क्षणभर'।

यहाँ चेतना का प्रेमाकुलभाव नही, वरन् अचेतन की अव्यक्त शंकाओं की अभिव्यक्ति है।

समाजवादी यथार्थ के विपरीत अपनी धाराणा व्यक्त करते हुए आयेन्द्र शर्मा ने यथार्थ के दो रूप बताये है—लौकिक और साहित्यिक। फोटोग्राफ़िक एव समाचारपत्रीय लौकिक यथार्थ से साहित्यिक यथार्थ का वैशिष्ट्य अपनी अनुभूतिमयता के कारण है। उनकी दृष्टि मे वह सब कुछ यथार्थ चित्रण है जो पाठक को अनुभूति-मग्न कर दे। अनुभूतिगत तीव्रता से ही 'यथार्थ चित्रण' मे यह शक्ति उत्पन्न होती है। शर्मा जी का यह 'यथार्थ' नितान्त व्यापक है, जो उनकी परम्परागत आनदवादी मान्यताओं से समर्थित है।

'यथार्थ' के उपर्युक्त सभी रूप या तो वाद-ग्रस्त होने के कारण अतिवादी हैं या परम्परागत आनन्दवादी—आनन्दवादी दृष्टि से समर्थित होने के कारण नितान्त व्यापक—जिसमे स्वप्न, जाग्रत सब कुछ समा जाता है। प्रजातान्त्रिक जीवन-प्रणाली मे व्यक्ति-स्वातंत्र्य की माँग है और उसकी चेतना ने वाद-मुक्त यथार्थ का चित्रण किया है। अतिरिक्त भावुकता तथा आरोपित विचारधारा से यथासभव अपनी दृष्टि को तटस्थ रखकर उसने जीवन और जगत् को देखा है। तथाकथित मानवहितपरक विचारधाराओं और कर्म व्यापारो में इसने भी चतुर्दिक् विसंगति लक्षित की है। इस 'विसंगति' के धरातल से फूटने वाले नैराश्य, घुटन, कुण्ठा, विघटन आदि ह्रासोन्मुखी स्थितियो का उन्होने साक्षात्कार किया है और उसे वाणी दी है। यह भी सभव है कि साहित्यकारो मे से अनेक ने आरोपित किया हो, कई एक ने केवल चिंतन की भूमिका पर ही उसका साक्षात्कार किया हो। इन नई कविता के पक्षधर साहित्यकारो का 'यथार्थवाद' इसलिए न तो 'प्रयोग' और 'प्रपद्यवादियों' का यथार्थवाद है और न तो प्रगतिवादियो का ही सामाजिक यथार्थवाद। वास्तव मे ये ऐसे संक्रमण के बिंदु पर हैं जहाँ क्रमागत मान्यताएं तो छोड़ी जा रही है पर स्थानापन्न कोई विचारधारा नही है। परिणाम यह हुआ है कि एक तरफ़ परम्परागत विचारधारा की चेतना से मुक्त और दूसरी ओर चिन्तनजन्य 'विसगति' का गहराई से चित्रण करते समय अचेतन मे अध्ययन और परिवेश से प्रविष्ट विचारधाराओं का प्रभाव अनायास उभर आता है। यहाँ बाह्य परिवेश या भीतर से तज्जन्य सवेदनो की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है। एक समीक्षक का विचार है कि जिन नये कवियो में वैचारिक पक्ष का अस्तित्व है उनके यहाँ कविता मात्र अनुभव चित्रण ही नहीं, बल्कि वहअनुभूति और मनन शक्ति भी है जो

अनुभव के प्रति तीव्र और वैचारिक प्रतिक्रिया पैदा कर सके। ऐसे कवि कविता को यथार्थ के प्रति प्रौढ़ प्रतिक्रिया की मार्मिक अभिव्यक्ति मानते हैं। वैयक्तिक और बौद्धिक तटस्थता के कारण उनकी दृष्टि कहीं-कहीं व्यंग्यमयी भी हो गई है। इस प्रकार असैद्धातिक और वैचारिक यथार्थवादी दृष्टि नई कविता मे पाई जाती है, जो कभी व्यंग्य कभी वैचारिक और कभी भावुकतापूर्ण भी हो गई है। ऊपर इनकी दृष्टि को असैद्धांतिक और वैयक्तिक कहा गया है। उसमें वैयक्तिक से तो किसी का कोई वैमन्य नहीं होगा, पर 'असैद्धांतिक' शब्द भ्रामक हो सकता है। असैद्धांतिक से मेरा तात्पर्य विचारशून्यता से तो कतई नहीं है। कारण, जहाँ अज्ञेय और मुक्तिबोध हों, वहाँ विचारशून्यता हो और जिस साहित्य में बुद्धिरस की बात की जाती हो—विचार साहित्य हो, जिसने भावुकता के विरुद्ध प्रस्थान ही किया हो—उसमें बौद्धिकता न हो, यह संभव ही किस प्रकार है ? 'असाध्य वीणा', 'आँगन के पार द्वार', 'अँधेरे में' जैसी कविताएँ और उससे संवलित नई कविता विचारशून्य कैसे कही जा सकती है ? पर मेरे कहने का तात्पर्य यहाँ केवल इतना ही है कि प्रगतिवादी साहित्य की भाँति इसकी भी कोई एकमत सैद्धांतिक पृष्ठ-भूमि नहीं है। अज्ञेय ने तारसप्तक के छत्र में कवियों को एकत्र करते हुए स्वीकार ही किया है—सभी भिन्न-भिन्न राहों के अन्वेषी हैं, सबकी दृष्टि भिन्न है, साम्य है तो इतना ही कि शैलीगत प्रयोग की वृत्ति सब में है। अस्तु, कहा यह जा रहा था कि नयी कविता-युग की रचनाओं मे यथार्थोन्मुखी दृष्टि कभी व्यंगमयी, कभी वैचारिक और कभी भावुकतामयी हो जाती है। कभी-कभी यथार्थ का स्वस्थ पक्ष भी चित्रित हुआ लक्षित होता है। एक-एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायगी। व्यंग्य के लिए सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की पंक्तियाँ लें :—

> "क्या कमाल है मेरे दोस्त !
> काश कि तुमने इन साँपों के शरीर को
> तितलियों के परों से और मढ़ दिया होता,
> फिर तुम्हारी यह शान्ति
> असली शान्ति सी लगने लगती।
> क्या फौजी वर्दियों पर
> बुद्ध भिक्षुओं का गैरिक वसन
> नहीं ओढ़ा जा सकता था ?"

राष्ट्रसघ के माध्यम से या यो भी वार-बार निःशस्त्रीकरण एव युद्धविराम और शान्ति की बात करने वाले प्रलयपोषको से कवि का यह व्यगपूर्ण तीखा कथन है। दशनशील रूप को छिपाने के लिए साँपो को चाहिए कि वे तितली का रगीन पर मुखौटा के रूप मे और लगा लें, फिर लोगो को आश्वस्त रख कर दशन-कर्म निर्विघ्नतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है।

आज के एक दूसरे यथार्थ को वैचारिक गहराई दी है मुक्तिबोध ने। मुक्तिबोध यथार्थ के कवि है, पर उसे गहराई से पकडते है। 'यथार्थ' की सतह पर जो कुछ घटित होता है, उसके मूल कारणो की ओर वे जाते है। उनकी रचनाओं में आभ्यन्तर स्थितियो के विराट विश्व मिलते हैं। उनकी रचनाओ को रुक-रुक कर और सोच-सोच कर पढ़ना पडता है। 'ब्रह्मराक्षस' का ब्रह्मराक्षस है—अकाल काल-कवलित भारतीय चेतना जो सात्विक और मानवीय है। अन्तश्चेतन से—भारत की अन्तश्चेतन की गुहा से उसकी भयावह आवाज ऊपर आती है अर्थात् भारत अपनी समग्रता मे भीतर से चाहता है उदात्त वृत्तियो को उजागर करना, पर विश्व की निर्मम और स्वार्थान्ध-वृत्ति उस पर इस क़दर हावी है कि उसका साकार होना आज कठिन ही नहीं, असम्भव जान पड़ता है। एक सार्वभौम अनुभूत यथार्थ का अपनी वैचारिक गहराई के साथ यह सकारण कथन है।

श्रीकान्त प्रगतिवादी यथार्थ में ही नही, नई कविता के यथार्थ में भी भावुकता और अतिरजना देखते हैं। प्रेम के क्षेत्र मे यथार्थ की एक भावुकतापूर्ण रचना ले—

> **तुम्हारे साथ रहकर**
> **अक्सर मुझे ऐसा महसूस हुआ है**
> **कि दिशाएँ पास आ गई है,**
> **हर रास्ता छोटा हो गया है,**
> **दुनिया सिमट कर**
> **एक आंगन बन गई है।**
> **तुम्हारे साथ रहकर**
> **अकसर मुझे महसूस हुआ है**
> **कि हर बात का मतलब होता है**
> **यहाँ तक कि घास के हिलने का भी।**

यथार्थ ने 'शपथ' नही ले रखी है कि वह कड़वा, गन्दा, अवाछनीय एव बदबूदार ही होता है—वह मधुर और यत्र-तत्र उदात्त भी होता है।

क्या अज्ञेय का यह कथन भी यथार्थ के बाहर है—

"दुख सबको माँजता है
और
चाहे स्वयं सब को मुक्ति देना न जाने, किन्तु—
जिसको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।"

निष्कर्ष यह है कि नई कविता में एक ओर जीवन की तीखी कड़वाहट, विसगति, सत्रास, घुटन, अजनबीपन, ऊब, मायूसियत एवं स्वार्थान्धता की बदरूप तस्वीरें तो पेश की ही गई है—कैलाश वाजपेयी की 'सक्रांत', हरीश भादानी की 'सुलगते पिण्ड', श्रीकान्त वर्मा, स्वय अज्ञेय, मुक्तिबोध की रचनाएँ साक्षी है तो दूसरी ओर आस्था की अरुणिमा और मानवीय मूल्यो के प्रति अटूट विश्वास भी है। विज्ञान और बुद्धिवाद ने अतीत धर्माध्यात्म पर आश्रित मान्यताएँ अवश्य ध्वस्त कर दी है, पर वहाँ 'मानव' का महत्वगान हुआ है—उसके अस्तित्व की प्रतिष्ठा हुई है। वहाँ मृत्यु की विभीषिका भी है, पर मृत्यु को सत्य के साक्षात्कार का माध्यम भी (आत्मजयी) बनाया गया है। इसीलिए यहाँ तक का 'यथार्थ' उतना बदरूप और केवल बदरूप नही है जितना '६० के बाद के युवा लेखन मे। यहाँ तक तो जीवन और जीवन मूल्यों के साथ कलात्मक मूल्यो की भी बात होती रही, पर '६० के बाद की सर्वाधिक विसगति और भय मुद्रा इतनी बेनक़ाब हो चुकी है कि अब 'मोह' का सवाल ही नही है। यही कारण है कि साठोत्तरी कविता या युवा और युवतर लेखन मे 'विसगति' दर्शन के स्तर पर नहीं, वरन् जीवनानुभव के स्तर पर उतर आई है।

'६० के पूर्व के रचनाकार चिन्तन के धरातल पर भी विसंगति, सार्वभौम सत्रास को साक्षात्कृत करते थे, किन्तु आज की सार्वत्रिक (शिक्षा मदिर, अस्पताल, शासन यंत्र, व्यावसायिक क्षेत्र, कार्यालय, अनाथालय, राजनीति जगत् आदि जीवन के सभी क्षेत्र) विसंगति ने परिवेश मे वह तापमान उत्पन्न कर दिया है कि भीतर का क्षोभ और तज्जन्य आक्रोश 'हाथ की छटपटाहट' तथा 'तत्कालिक प्रतिक्रिया की 'भाषा' बन कर बाहर आ गया है। आज का भुक्तभोगी साहित्यकार राजनीति के पसरते हुए पंजे में इस प्रकार फॅस गया है कि 'नये कवियों' की भाँति चाहकर भी कतरा नही सकता। यह राजनीति प्रगतिवाद की राजनीति भी नही है। यह स्वार्थान्ध राजनीति

आज घर-घर मे घुस गई है, बाप-बेटे एव पति-पत्नी के बीच भी अकड गई है। सभी सब को संदेह से देखते है और भविष्य के प्रति अनाश्वस्त तथा त्रस्त है। १९६८ की शताब्दी में 'समकालीन कविता का संकट' पर विचार करते हुए 'अज्ञेय' ने कहा है—"अगर साहित्य जीवन के यथार्थ को ग्रहण करता है तो हमारे समकालीन जीवन का यथार्थ यह है कि वह दो एक पीढ़ी पहले की अपेक्षा राजनीति से बहुत अधिक आक्रांत है। यह भी सही है कि हमसे पहले का लेखक राजनैतिक जीवन की माँगो से कतराता आया है और अब वह ऐसा नहीं कर सकता। कवि राजनीति को भी · फिलहाल कवि भी राजनीति के दबाव का तीखा अनुभव कर रहा है। क्यो न करे?"

वर्तमान यथार्थ की जो अभिव्यक्ति आज युवा-लेखन में हो रही है—निश्चय ही वह पहले की तुलना में झल्लाहट का यथार्थ है और इसलिए मुक्तिबोध की तुलना मे सतही है। राजनीति से पहले की अपेक्षा कही अधिक आक्रांत आज का युवालेखन 'पटकथा' जैसी आज की लम्बी कविताओं मे वर्तमान यथार्थ का दस्तावेज ही तो प्रस्तुत करता है। इस संदर्भ की सपाट-बयानी में विजयबहादुर सिह और दिनकर सोनवलकर की रचनाएँ भी आज देखी जा सकती है। आज के जीवन की सच्ची रचना रचने में व्यस्त ईमान-दार और संभावनाओ के कवियो—सर्वश्री चन्द्रकात देवताले, कमलेश, विष्णु-चन्द्र शर्मा, रमेश गौड एवं लीलाधर जगूड़ी आदि—मे भी आज के तीखे यथार्थ का बोध देखा जा सकता है। निश्चय ही आज का साहित्य महान नही है, क्योंकि 'महान' का जन्म 'महान' से ही होता है। फिर भी सतही और बदरूप यथार्थ के चित्रण की एक उपलब्धि अवश्य है और वह है चित्रणगत बारीकी। डॉ० नामवर सिंह ने इसे यथार्थ चित्रण एव वस्तु अंकन की दिशा में विकास का चिह्न माना है।

आज का युवालेखक एक ओर जीवन और जगत् में व्यवस्था-गत विसंगति तथा तज्जन्य कुरूपताओं का साक्षात्कार करता है और दूसरी ओर अतीत, वर्तमान एवं भविष्य की इतिहास-शृंखला मे अनुपयोगी रहने से अपनी नग-ण्यता का बोध। इस परिवेशगत विसंगति और आत्मगत नगण्यता—दोनों के सम्मिलित बोध ने उसमें नानाविध व्यक्तियो और व्यापारो को मुखर किया है। साठोत्तरी पीढ़ी से उगे हुए विविध आंदोलनों में इनकी छायाएँ देखी जा सकती हैं। नगण्यताबोध के कारण जीवन और जगत् के नगण्य गली-कूचे वस्तु व्यक्ति भी साहित्य में अपनी नगण्य बारीकियो के साथ उतर आये है—यह

चाहे कविता हो या कहानी। यह अवश्य है कि कविता मे अनुभूति की सांद्रता और कहानी मे चित्रण की बारीकी दर्शनीय होती है। हरिशंकर परसाई तथा शरद जोशी के निबंधों तथा कहानियों में इन सबकी परछाईं मिलती है। नई कहानी और नई कविता में कथ्य और चेतना का अन्तर मिलता है, परन्तु साठोत्तरी कहानी और कविता में ब्यौरे का—रूप और शैली का—अंतर भले हो, पर कथ्य और चेतना का अन्तर नहीं है।

विसंगति और नगण्यता का सम्मिलित बोध मिलकर एक तरफ़ प्रगतिवादियों की भाँति नगण्य का सजीवता में समग्रता के साथ चित्रण करता जा रहा है तो दूसरी ओर लादे और निरर्थक से प्रतीत हो रहे 'विवेक' के धरातल की विविध विध नभाओं से भुनाकर अंतश्चेतनावादियों की भाँति मन की अंधेरी गुफाओं से उभरे बिंबों और प्रतीकों का सहारा लेकर आदिम और आज की सड़ी-गली दुर्व्यवस्था से अछूती आदिम मनोवृत्तियों को व्यक्त कर रहा है। यौन चित्रो का वस्तुगत और शैलीगत चित्रण इसी प्रतिक्रिया का परिणाम है—अनिवार्य अंग है। भूखी पीढ़ी के कवि सतीश जमाली तथा 'अकविता' के कवि जगदीश चतुर्वेदी की रचनाओं में यौन चित्रों का सायास उपस्थापित रूप है। समस्त संस्कारों से मुक्ति पाना अकविता की अनिवार्यता है। सतीश जमाली की कतिपय पंक्तियाँ देखें—

> पैरों को रखे खड़ा हूँ मैं
> धरती के भग पर
> टकरा रहा है सर
> आकाश के अंडकोष से
> आहिस्ता-आहिस्ता चबा रहा हूँ
> एक औरत की फूली जाँघ को
> जैसे हमारे मुहल्ले का युसुफ खाँ चबाता है
> गाय की छिली हुई टंगरियों को ......
> गांव में भोगता हूँ मोटी-मोटी भैंसों को
> और शहर में आवारा औरतों को।

आदमी की जबान से यथार्थ का जितना भी बदतर और नग्न रूप हो सकता है—इन तथाकथित मानोरोगियों के मुह से टपकता रहता है। युवा-जेनरेशन के एक अंश का यह चटखारा भरने वाला यथार्थ है। सेक्स के यथार्थ का चित्रण करने वाला एक वर्ग वह भी है जहाँ यह महसूस किया गया जाने

पड़ता है कि सेक्स का फ्रेम झूठा पड़ता जा रहा है। इससे तो कुछ आशा भी की जा सकती है।

विश्व के विभिन्न भूभागों में रूस, चीन और अमेरिका की उठापटक से संभावित अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर गिद्ध की तरह मंडराने वाली महाप्रलय की भयावह छाया भी यथार्थ युवालेखन में प्रतिबिंबित है। अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ की एक रचना है 'शान्तिदूत'—

> दो महाद्वीप सुलग रहे हैं, दक्षिणी गोलार्द्ध में उठ
> रही है लपटें,
> केवल सिर कटे धड़
> बिलखते शहर........
> ओ शांति !
> हवा में कौन-सा प्रपंच रचूं कि तुम्हे पा जाऊँ
> केवल सिरफरों के दिये हुए वक्तव्यों पर
> कैसे विश्वास का
> सुलग रहा है वियतनाम·
> तुर्की का आधा धड़
> कौन से मानवीय संदेश को उच्चारित करता जा
> रहा है यह लम्बा जुलूस ?

इस कोटि की अनिवार्य प्रतिक्रिया के लिए जिस विशालतम परिवेश में रहना चाहिए वह इन युवा और युवतरों के शीघ्र झनझना उठने वाले स्वभाव के अनुकूल कम ही संभव है। दूसरे 'ईश्वर' और 'मनुष्य' की मृत्यु घोषित कर दिए जाने के बाद अथाह अवकाश में निरवलंब तथा सर्वतोमुखी अनिश्चय की स्थितियों मे अकेला पडा हुआ मानव आज जिस भय एव सन्त्रास का अनुभव करता है, यह भी वर्तमान यथार्थ का एक पक्ष है। पर यह अधिक चिन्तक और संवेदनशील लोगो मे यत्र-तत्र दिखाई पड़ता है।

सबसे विश्वसनीय यथार्थ है उस परिवेश की प्रतिक्रिया से उत्पन्न व्यामोह की विडंबना उत्पन्न करने करने वाला लेखन जो राजनैतिक, सामाजिक तथा चारित्रिक मूल्यो के टूटने और सड़ने से उत्पन्न दुर्गन्ध द्वारा चरमरा रहा है। आज का सारा युवा लेखन ही इसका उदाहरण है।

इस प्रकार वर्तमान साहित्य मे यथार्थ की विसंगति का यही विभिन्न रूपाकारों—सामान्य यथार्थ, प्रकृतवादीय यथार्थ समाजवादी यथार्थ आलोच

नात्मक यथार्थ, अंतश्चेतनावादी यथार्थ, मुक्त यथार्थ, खुरदरा यथार्थ—में व्यक्त होता हुआ शिखरोन्मुखी रूप है। जैसे छायावाद में वेदना और पीड़ा का गीत गाते-गाते वही प्रिय बन गई थी, वैसे ही आज संगतिहीनता का गीत गाते-गाते वही प्रिय बन गई। राजकमल यही कहता-कहता चला गया। सौमित्र मोहन संगतिहीनता को ही अपनी अभिव्यक्ति की अनिवार्यता मानता है। अधिक तो नहीं, पर अपना वक्तव्य समाप्त करते-करते यह कह देना आवश्यक समझता हूँ कि यह विसंगति जो सचमुच जीवन के ज्वालामुखी से परिवेश के दबाववश फूट रही है, सर्जना के संदर्भ में संगति की अनिवार्य पृष्ठभूमि है। मेरा तो पूर्ण विश्वास है कि अन्धकार के बाद जैसे प्रकाश का आना नितांत अनिवार्य है उसी प्रकार विसंगति की पूर्णता के बाद पुनर्निर्माण के लिए संगति का आना अनिवार्य है।



ग्यारह | समीक्षा के बदलते प्रतिमान

प्रतिमान समीक्षा के सदर्भ मे तो संभव ही है, सभव है मूल्याकन और पुनर्मूल्याकन के सदर्भ मे भी। इन पक्तियों मे मैं 'समीक्षा' और 'मूल्यांकन' को भिन्नार्थक मान कर चल रहा हूँ—यद्यपि इस शीर्षक मे ऐसा कुछ नही है। लगता है कि शीर्षक दाता मूल्यांकन और समीक्षण को स्थूल दृष्टि से एक मानकर प्रतिमान पर विचार करने को कह रहा है। अस्तु।

समीक्षण समीक्ष्य कृति के मूल में निहित संवेदना का साक्षात्कारपूर्वक विश्लेपण-गर्भ सर्जनात्मक पुनराख्यान है। 'संवेदना' या 'सर्जनात्मक अनुभूति' का साक्षात्कार सर्जक से तादात्म्य के साथ और विश्लेषण ताटस्थ्य के साथ ही अपेक्षित है। समीक्षण मे तटस्थ विश्लेषण ही वह आवश्यक तत्व है जो उसे 'मूल्याकन' से पृथक् करता है। मूल्यांकन में पहले 'मूल्य' निर्धारित होता है और फिर कृति पर उसका सचार होता है, जब कि समीक्षण मे मूल्य की भाँति कोई प्रतिमान पूर्व-निर्धारित नही होता। साथ ही मूल्याकन एक निर्णय है जिसमें मूल्याकनकर्ता की रुचि का कही न कही जीवन और समाज के सदर्भ मे लगाव है। समीक्षण मे यह लगाव नही होना चाहिए। रिचार्ड्स और इलियट के मतव्य Criticism और Valuation के सदर्भ में देखे जा सकते है।[1] इलियट मानता है कि समीक्षण कृति का नि:सग विश्लेषण है, जिसे शल्य चिकित्सक की शल्य-क्रिया से उपमित किया जा सकता है। Value मानव जीवन का एक सुविचारणीय मूल्य है, जिसे ध्यान में रखकर मूल्याकन किया जाता है।

समीक्षण मूल सवेदन और उसके व्यंजक उपकरण के बीच आनुरूप्य का शक्त और नि:संग विश्लेपण है। कविता या कला है भी तो संवेदन का अनु-

1 It is farely certain that 'Interpretation is only legitimate when it is not interpretation at all, but merely putting the reader in possession of facts which he would otherwise have missed.' Selected Essays (1951)—BY T S. Eliot, page 31

रूप माध्यम के साथ अभिव्यक्त हो जाना। इसीलिए कला की प्रातिभ सृष्टि के विषय में कहा जाता है कि न तो वह अनूदित हो सकती है न ही आकार-प्रकार तथा माध्यम की दृष्टि से परिवर्तनशील। कला-चिन्तको ने ठीक कहा है कि निर्माण की दृष्टि से काव्य एक अखण्ड व्यापार है। यह तो विश्लेषण के लिए माध्य और माध्यम के रूप मे उसे द्विधा विभाजित कर लिया जाता है। कविता या कला का यह एक ऐसा प्रतिमान है जो उसके स्वरूप और अस्तित्व मे है-ऊपर से थोपा हुआ नहीं। 'सटीक माध्यम' एक स्थिर प्रतिमान है, जिस पर सभी प्रातिभ सृष्टियाँ समीक्षित हो सकती है। इस दृष्टि से कुछ लोगो का यह विचार है कि समीक्षण कला के इसी स्वायत्त प्रतिमान पर हो सकता है और मूल्याकन वस्तु पक्ष से। मैं समझता हूँ, यह अंतर ठीक नही है। वस्तु, वर्ण्य या संवेदन की प्रकृति का भी शल्यीकरण विभिन्न दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टियो के आलोक मे सभव है। तन्त्र की अपेक्षा वस्तुपर्क्षीय विश्लेषण के लिए अपेक्षित ये दृष्टियाँ परिवर्तनशील है और हो सकती है। अत. समीक्षण या तटस्थ विश्लेषण केवल तंत्र का ही हो सकता है, कथ्य या वस्तु का नही—मै ऐसा भी नही मानता।

तटस्थ विश्लेषण या समीक्षण के लिए इन अपेक्षाकृत स्थायी प्रतिमानो के अतिरिक्त एक और तरह से भी प्रतिमान विचारणीय है। बात यह है कि प्रातिभ कृतिमात्र भाषा का माध्यम ग्रहण कर बाहर आते ही सामाजिक हो जाती है। सामाजिक का सामान्य अर्थ है—सामाजिकता-सपन्न। पर अद्यतन सदर्भ को देखते हुए सामाजिक का अर्थ करना पड़ता है—समाज से सबध रखने वाला। समाज से सबंध अनुरूप भी हो सकता है और प्रतिरूप भी। आज सर्जना के क्षेत्र मे सामाजिक मूल्यो के अनुरोधी भी सक्रिय है और विरोधी भी। उनकी रचनाओ मे ये दोनो ही बातें उभरती है। वास्तव मे देखा जाय तो विरोध स्वस्थ सामाजिक मूल्यो का नही है। विरोध है उस सत्ता और शक्ति का जो उन मूल्यो का दुरूपयोग करती है, इसीलिए स्वस्थ मूल्य भी विघटित हो रहे है—ऐसी उक्तियाँ अपनी अभिधेयात्मकता मे सार्थक नही है, लक्षणा मे ही चरितार्थ है। अस्तु, तो कह यह रहा था कि रचना भाषा का माध्यम पकडकर बाहर आते ही सामाजिक हो जाती है। सामाजिकता विकर्षण मे नही, आकर्षण मे है और आकर्षण जहाँ होगा—सौंदर्य वहाँ होगा। सौंदर्य के लिए व्यवस्था अनिवार्य है। इस प्रकार प्रत्येक प्रातिभ सृष्टि मे सामाजिकता→आकर्षण→सौंदर्य→व्यवस्था का क्रम होगा ही। व्यवस्था रचना या रचनाकार का 'बौद्धिक' पक्ष है। व्यवस्था का नामान्तर प्रतिमान भी हो सकता

है। यह प्रतिमान कलागत है, वर्ण्यगत नहीं। विचार करने पर यह व्यवस्था भी तन्त्रगत आनुरूप्य ही है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। वर्ण्य विकर्षणात्मक हो सकता है पर उसकी अभिव्यक्ति प्रभावशाली ढंग की तो हो सकती है। अतः विकर्षणात्मक वर्ण्य वाली रचना में भी तन्त्रगत आकर्षण—सौंदर्य—की व्यवस्था हो सकती है। यह बात अलग है कि विकर्षण की प्रवृत्ति असामाजिक है, अतः वह सामाजिक काव्य में कहाँ तक ग्राह्य या अग्राह्य है। यहाँ तक तो 'समीक्षण' और प्रतिमान की बात हुई।

संप्रति, मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन की दृष्टि से भी प्रतिमान विचारणीय है, कृति या समीक्ष्यकृति गत 'तंत्र' और 'संवेदन' का वस्तुमुखी विश्लेषण 'समीक्षण' का क्षेत्र है और स्वयम् 'संवेदन' की जीवन और समाज के संदर्भ में उपयोगिता तथा अनुपयोगिता, ग्राह्यता अथवा अग्राह्यता की दृष्टि से 'मूल्यांकन' का क्षेत्र। शीर्षक में जिन बदलते प्रतिमानों की बात की जा रही है, वे मूल्यांकन के संदर्भ में अधिक विचारणीय हैं। मूल्यांकन व्यक्ति अपने संदर्भ में भी कर सकता है, पर यहाँ विशेष युगजीवन और समाज का संदर्भ ही संगत है। तन्त्रगत आकर्षण के अतिरिक्त कृति में जिस वस्तुगत आकर्षण की बात कही गई है उसका संबध सामाजिक समीक्षक की रुचि अथवा युगजीवन और समाज की औसत रुचि से है। इस औसत रुचि की मात्रात्मकता अपने विकास में जब गुणात्मक परिवर्तन पा लेती है, तब इससे बेमेल पड़ने वाली रचना असामाजिक घोषित कर दी जाती है। इसीलिए शक्त कलाकार अपनी रचना को कालजयी रूप तक जब पहुँचाना चाहता है तब 'अद्यतन' वर्ण्य को 'चिरन्तन' तथा 'सनातन' भावभूमियों की पीठिका प्रदान करता है। समय के इतना बदल जाने पर भी कालिदास की रचनाओं का अवमूल्यन नहीं हो सका।

इस प्रकार प्रतिमान वह भी है जो कविता की पहचान कराता है और प्रतिमान वह भी है जो मूल्यांकन के काम आता है। इन दोनों के साथ प्रतिमान वह भी है जिसकी चर्चा रीति-ग्रंथों या लक्षण-ग्रंथों में मिलती है। इन सब में तीसरा प्रतिमान सच पूछा जाय तो नवनिर्मित कृति के संदर्भ में प्रतिमान ही नहीं है। वह तो प्रतिभा-विहीन अंधे अभ्यासार्थियों के हाथ की बैसाखी है।

तीसरे प्रकार के प्रतिमान के विषय में जो मेरी धारणा है—उसका आशय स्पष्ट करना आवश्यक है। रीति-ग्रंथों या लक्षण-ग्रंथों में जिन प्रतिमानों का उल्लेख है या सौंदर्य के मापदंडों की चर्चा है, उसके विषय में दो संभावनाएँ

है—एक तो यह कि क्या ये निरपेक्ष रूप से आविष्कृत हैं या लक्ष्य अथवा प्रतिमेय रचनाओं की अपेक्षा से ? बौद्धिक या बुद्धि की परिधि में निरपेक्ष नाम की कोई वस्तु नहीं होती, फलत: उस प्रतिमान को पूर्ववर्ती प्रतिमेय की अपेक्षा में ही सृष्ट अथवा आविष्कृत मानना होगा। इस प्रकार प्रतिमेयान्तर-लब्ध-प्रतिमान का यदि मेयान्तर पर सचार किया जाय तो संभव ही नहीं, निश्चय भी है कि नव-सृष्ट प्रातिभ-कृति की तमाम काव्योचित संभावनाएँ और उपलब्धियाँ अनाकलित रह जायँगी। समस्त प्रातिभ सृष्टियाँ अपने में अभूतपूर्व होती हैं, फलत: उनमें अनाविष्कृत कलोचित भंगिमाएँ रहती हैं। उनका समाकलन उन्हीं रचनाओं में निहित प्रतिमानों से सभव है। ये प्रतिमान व्यष्टिभेद मे भिन्न-भिन्न होते है, पर अपनी सामान्यरूपता मे तन्त्रगत व्यवस्था के आकार मे सामान्य भी। इस प्रकार सैद्धांतिक ग्रंथो में निरूपित प्रतिमानो की इसी स्थिति को समझकर सैद्धांतिक प्रतिमानो की चर्चा करने वाले आचार्यों ने भी कह दिया है कि सर्जक और समीक्षक दोनो को कलोचित आकर्षण या सौंदर्य को मूर्त करने में अपेक्षित व्यवस्था या प्रतिमान का अविष्कार या उपयोग अपनी सूझबूझ से करना चाहिए—चली आती हुई लकीरों के आधार पर नहीं। कुछ ऐसे सैद्धांतिक प्रतिमान भी हैं जो रचना-प्रक्रिया की तन्त्रगत सामान्यरूपता की प्रकृति के अनुरूप है, अत: उनका उपयोग तंत्रगत नि:संग विश्लेषण मे किया भी जा सकता है। अपने रूढ़ रूपो और उपरूपों की तह में निहित अलकार, भाव, ध्वनि, वक्रता और औचित्य ऐसे ही तंत्रगत सामान्य प्रतिमान हैं। अत: अभिव्यक्ति की प्रभावशीलता के विश्लेषण में इनका और इन जैसो का उपयोग किया जाता है।

उपर्युक्त त्रिविध प्रतिमानो मे से प्रथम की बात तो हो चुकी है संप्रति, अवशिष्ट दो की बात शेष है। दूसरा प्रतिमान वह है जिससे 'कविता' की पहचान होती है। कविता मात्र जिस सर्वानुगत सामान्य ढाँचे से पहचानी जाती है, वह है—सर्जनात्मक अनुभूति का सटीक शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होना। आनन्दवर्द्धन ने इसी की प्रत्यभिज्ञा 'ध्वनि' के रूप मे की थी और कुंतक ने 'वक्रोक्ति' रूप में। स्वच्छदतावादी समीक्षक कवि पंत ने 'चित्रभाषा' के रूप मे उसी को पहचाना था, प्रयोगवादी उसी 'सटीक' की खोज मे थे और नकेनवादी ने दृक्वाक्पदीया प्रणाली के रूप मे 'सही नाम' की ओर संकेत उसी आशय से किया था। आज 'अकविता' का पक्षधर श्याम परमार भी कला की सार्थकता 'सही शीर्षक' ढूंढ निकालने मे करता है। निकट अतीत में प्रकाशित आवेग के 'समकालीन कविता की पहचान' शीर्षक विशेषांक मे

ऋतुराज ने अपनी ही कविता की समीक्षा करते हुये प्रतिमान की बात की है और सार्त्र का साक्ष्य देते हुये कहा है—'कविता को इसी आधार पर जाँचना अधिक ठीक रहेगा—क्या इसकी आन्तरिक बुनावट भाषा या इमेजरी इसमे घटित एक्शन को प्रभावशाली ढंग से ला पाती है या नही ? वस्तु स्थिति और उसके प्रति ईमानदार रुख इसमे है या नही । 'स्पष्ट है' इस प्रतिमान मे भी वही हजार वर्ष से भी पुरानी कही गई बात स्वत: स्फूर्त ढग से दुहराई गई है । यह प्रतिमान ऐसा प्रतिमान है जिसके आधार पर 'कविता' सदा पहचानी जाती रही है ।

तीसरा अवशिष्ट प्रतिमान है मूल्याकन का । मेरी धारणा यह है कि मूल्य का सम्बन्ध 'वस्तु' मे ही जोडा जाना चाहिये । कला या तन्त्र पक्ष से 'कविता' का सबसे बडा मूल्य यही है कि वह 'कविता' हो और कुछ नही । कविता अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति की सम्पूर्णता मे जीवन और समाज की दृष्टि से उपयोगी या अनुपयोगी भी हो सकती है । भारतीय क्लैसिकल चिन्तन का वस्तुपक्षीय मूल्यवान प्रतिमान रसात्मक था—सारे चिन्तन मे जोड़ घटाव के बाद अवशिष्ट स्थिर एव उत्कृष्ट जीवन मूल्य के रूप मे । बात यह है कि धर्म तथा अध्यात्म से नियंत्रित विश्वमानस के सन्दर्भ मे 'भारतीय' मानस आत्मोपलब्धि को सबसे बडा मूल्य मानता था, उससे बड़ा कोई मूल्य नही था और 'आत्मा' के लिये 'रसो वै स:' की श्रुति रही है । काव्य मे रसोपलब्धि को सबसे बडा मूल्य माना गया । जीवन और समाज का सन्दर्भ होने के ही कारण औचित्य, जो सामाजिकता का पर्याय है, रस सामग्री की जान मानी गई । तन्त्र पक्ष से वह औचित्य क्षेमेन्द्र के शब्दो मे 'आनुरूप्य विधान' मात्र था ।

'विज्ञान' के प्रभाव ने समस्त विश्व मानस को जाने अनजाने प्रभावित किया और धर्म तथा अध्यात्ममूलक तमाम मान्यताओ को निरस्त और शिथिल किया । हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ मे वस्तु पक्षीय मूल्याकन की ओर से सोचते हुये उल्लेखनीय मोड़ देने वाले आचार्य है—रामचन्द्र शुक्ल । इनका स्पष्ट उद्‌घोष है कि साहित्य या काव्य के क्षेत्र से अध्यात्म शब्द को निकाल कर बाहर फेंक देना चाहिये । 'विश्व साहित्य' की भूमिका से स्पष्ट है कि शुक्ल जी विज्ञान की विभिन्न शाखाओ से सृष्टि के सम्बन्ध में विकासवादी सिद्धान्त से और कुल मिलाकर 'बुद्धिवाद' से कितना प्रभावित थे । उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि काव्य का सम्बन्ध मनोमय कोष से है, उसमे ऊपर नही । मन का सम्बन्ध मनोमय कोष से है, मनोवेग या भावनाओं से है, अत: रसात्मक

प्रतिमान को स्वीकार तो किया शुक्ल जी ने भी परन्तु उसका वह स्वरूप नही रहा जो शास्त्रीय युग मे था।

इनका रसात्मक प्रतिमान मनोविज्ञान तथा निजी लोकमांगलिक दृष्टि पर प्रतिष्ठित था—अध्यात्म और तन्मूलक दार्शनिक मान्यताओ पर नही। इसमे द्विवेदीयुगीन वृत्ति-परिष्कार-परक नैतिकता का स्वर मुखर है। शुक्ल जी की दृष्टि मे प्रत्यक्ष चक्षुगोचर तथा मनोगोचर 'लोक' से न बडी कोई सत्ता है और न उसकी व्यवस्था और स्थिति के लिए अपेक्षित मूल्यो से बडा कोई मूल्य। मानव जीवन का चूडान्त उत्कर्ष उनकी दृष्टि मे व्यक्ति सत्ता का लोक सत्ता मे विलयन ही था—और शुक्ल जी की दृष्टि मे यही रसात्मक मानस दशा थी। इसी मूल्यांकन प्रतिमान पर शुक्ल जी ने सभी पुराने तथा नए साहित्य को कसा। फलतः कतिपय परम्परागत मान्यताएँ उलट गई और कतिपय नई स्थापित हुई। परम्परा के साहित्यकाश के सूर और उडुगन सूरदास और केशव का अवमूल्यन हुआ और जायसी, तुलसी, घनानन्द तथा पंत का संवर्धन।

शुक्ल जी के इस प्रतिमान-परिष्कार के संदर्भ में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि सूर की विरह-व्यंजना को तुलसी की विरह-व्यंजना की अपेक्षा हलका और उपहासास्पद निरूपित करने वाले शुक्ल जी समीक्षक-धर्म निबाह रहे हैं या युग-धर्म ? समीक्षक मूलसंवेदना का साक्षात्कार करता है और पाठक को तथ्यो से अवगत कराता है—मूल कृति की आकृति में अपनी ओर से आँख-कान लगाकर उसकी प्रत्यभिज्ञा मे बाधक नही बनता। वह संवेदना के घटक अवयवों—भाव तथा विचार दोनो—को आनन्दवर्द्धन के शब्दों में "बुद्धौतत्वार्थ दर्शिन्याम्" (न कि "नवनवोन्मेषशालिन्याम्) उभार लेता है और ज्यो का त्यो रख देता है। शुक्ल जी ने वल्लभाचार्य की दृष्टि को हटाकर लोकमागलिक दृष्टि को जोड दिया है, फलतः गोपियो का साम्प्रदायिक पलकान्तर-वियोग उन्हें उपहासास्पद और हलका लग रहा है।

छायावादी समीक्षको और कवियो ने शुक्ल जी के नीति-गर्भ मूल्यांकनोपयोगी रसात्मक प्रतिमान को अस्वीकार कर दिया और अध्यात्म तथा रहस्य की पीठिका पर प्रतिष्ठित होने वाले निरपेक्ष सौंदर्य तथा आनन्द को काव्य के सर्वोच्च मूल्य के रूप में पुनः प्रतिष्ठित किया। वस्तुतः देखा जाय तो आरम्भ मे इस धारा के शक्त समीक्षकों ने परम्परागत समस्त प्रतिमानो को सर्जनात्मक प्रतिभा की माप के लिए अपर्याप्त ठहराया पर ज्यों-ज्यो उनमें थिराहट आती

गई और जीवन, समाज और परम्परा का संदर्भ गहराता गया, रसात्मक तथा ध्वन्यात्मक प्रतिमानो का छायावादी रचनाओ के संदर्भ मे भी उनकी संभावनाओं में यथोचित परिष्कार के साथ ग्रहण किया। शुक्ल जी ने रसात्मक मनोदशा को, सात्विक मनोदशा को अपने आप मे कोई मूल्यवान या सार्थक बात न मानकर मानवोचित कर्त्तव्य प्रेरक के रूप मे मूल्यवान कहा था। रसात्मकता उनकी दृष्टि मे साधन थी, साध्य नही। उन्होने काव्य की परिसमाप्ति चर्वणविश्राति में नही, कर्त्तव्य विश्राति मे मानी थी। रसात्मक प्रतिमान की अध्यात्ममूलक दार्शनिकता को अपदस्थ कर बुद्धि और विज्ञान का सहारा लिया था। मनोमय और विज्ञानमय कोशो के बीच ही कारयित्री तथा भावयित्री की क्रिया को सीमित कर दिया था। इसके साथ ही रसात्मकता के लिए अपेक्षित विभावचित्रण और संदर्भ-कल्पना को महत्त्व दिया था। छायावादी कवि और चिन्तको की विशेषता यह थी कि उनमे नवजागरण की राष्ट्रीय चेतना नितान्त तीव्र और प्रखर होने के साथ-साथ भारत के साथ भावात्मक भूमिका पर समग्र रूप मे जुडी थी, वे भारत के आध्यामिक व्यक्तित्त्व को अपनी प्रकृति वश छोड़ नही सकते थे। अतः मध्यकाल की रूढ़ियो के जाल को चीरते हुए उनकी दृष्टि अतीत के जीवन मूल्यो की ओर गई। अपने समय के संदर्भ मे इन लोगों ने उन मूल्यो की संभावनाओ का साक्षात्कार किया और उनके साथ अध्यात्ममूलक मूल्यो को पुनरुज्जीवित किया। आप चाहे तो इसे उग्र राष्ट्रीयतावाद कह सकते है।

इस संदर्भ में इन छायावादी कवियो और चिंतको ने भी आत्मोपलब्धि को पुनः मूल्यवान घोषित किया और रसात्मकता या आत्मा के धरातल पर निरपेक्ष सौंदर्य तथा आनंद को जीवन का सर्वोच्च मूल्य बताया और उसकी दार्शनिक पुष्टि भी की। 'कर्त्तव्य-विश्रांति' की जगह चर्वणा-विश्राति को इन लोगो ने पुनः प्रतिष्ठित किया। जहाँ शुक्ल जी ने अपनी वस्तुमुखी और लोकमंगलमुखी दृष्टि से काव्य में विभाव-चित्रण और तदर्थ कल्पना को महत्त्व दिया था, वहाँ छायावादियो ने अपनी प्रकृति के अनुरूप भाव-व्यंजन, आत्माभिव्यजन के संदर्भ मे कल्पनाप्रसूत सौदर्य छवियों को महत्त्व दिया। ये ही मूल्य कवित्व के निकष बने। भाव के धरातल पर शुक्ल जी ने भी प्रेम और करुणा को बीज-भाव कहा था और मानवीय कर्तव्य के संदर्भ में उन्हें सर्वाधिक मूल्यवान कहा था। इन दोनो मे से अन्यतर प्रेरित भावनाएँ सदा ही मूल्यवान मानी गईं। छायावादी काव्य में भी प्रेम और करुणा का गान हुआ। करुणा को मानवता के सिर की रोली कहा गया। पर जो तरल भावमय व्यक्तित्व की

वक्र एवम् ध्वन्यात्मक व्यंजन-भूमिका छायावाद मे है, वह द्विवेदीयुगीन रचना में कहाँ ?

प्रगतिवादी धारा के मूल्याकनोपयोगी प्रतिमान के रूप मे यहाँ भी रसात्मक प्रतिमान का कम यशोगान नही हुआ। वह यहाँ भी ग्राह्य हुआ पर कतिपय नियंत्रणो के साथ। शुक्ली जी सम्मत रसात्मक प्रतिमान के साथ (कुछ बातो को छोड़कर) प्रगतिवाद के संदर्भ में गृहीत रसात्मकता को जोड़कर देखा जा सकता है। प्रगतिवादी समीक्षक डॉ० रामविलास शर्मा का कहना है कि रसात्मक प्रतिमान उनके बड़े काम का है, पर उसे केवल कुछ खानो मे बाँटकर रखना उचित नही है। दूसरे यह साहित्य और उसकी वैचारिक पीठिका लोक को ही महत्व देती है, लोकातीत आत्मा को नही। इसीलिए इस साहित्य का भी लक्ष्य मनोवेग को उत्तेजित कर समाज की शक्ति को निगतिशील तत्वो के धर्षण तथा प्रगतिशील तत्वो के कार्यान्वियन मे है। अतः इनकी रसात्मकता का संबध समुचे समाज से नही प्रत्युत समाज की प्रगतिशील सभावनाओ से सबधित सर्वहारा वर्ग के ही सामूहिक भाव से हो पाता है। पूर्ववर्ती प्रतिमानो की अपेक्षा इस धारा ने अपना मूल्यवादी स्वर इतना उदग्र और उद्ग्रीव कर दिया कि सौन्दर्य और उपयोगिता पर्यायवाची ही मान लिए गए। सभव है, इस धारा की रचनाओ मे कलात्मक निखार की सभावनाएँ इसीलिए पूर्णतः उभर न पाई हों।

प्रगतिवाद के साथ-साथ इसीलिए उसकी विचारधारा से सहमत होते हुए भी कलात्मक तंत्रपक्ष से असंन्तुष्ट रचनाकारों ने अपना तत्रगत प्रस्थान ही अलग कर लिया। विज्ञान के प्रभाव में 'सत्यान्वेणी' चिंतक भी 'भावुकतातिरेक' तथा बद्धमूल 'दृष्टि विशेष' को सत्य की प्राप्ति मे अवरोधक घोषित करते हुए 'प्रयोग' का प्रस्थान ढूढने लगे। इन लोगों ने विभिन्न रूपो मे बदलकर फिर भी अस्तित्वकामी रसात्मक प्रतिमान को युग और व्यक्ति की मानसिक बनावट तथा बुनावट के परिप्रेक्ष्य मे अपर्याप्त ही नही, असंभव भी कहा। शुक्ल जी को अपने पूर्वज के रूप में प्रगतिवादियों ने ही नहीं, 'प्रयोग' और नईकविता के विचारको ने भी रेखांकित किया। इन लोगो का कहना है कि रसात्मक अनुभूति के लिए व्यक्तित्व का विलयन शर्त है और सत्यान्वेषी के लिए उसका बनाए रखना आवश्यक है। सहअनुभूति की बात इसी रस-विरोधी स्वर मे डॉ० जगदीश गुप्त ने की थी। सजग व्यक्तित्व ही सत्यान्वेषी हो सकता है। 'सत्य' पर परदा डालने वाली समस्त परम्परागत धारणाएँ इनके लिए अमान्य

थी—जमी हुई सारी दृष्टियाँ उपेक्षणीय थी। इन लोगो ने विज्ञान-प्रसूत मान्यताओ के आलोक मे लोक से संबंध बनाने की पहल की और सबध को काव्याभिव्यक्ति के लिए रागात्मक भी। इनके यहाँ सब कुछ अभी 'प्रयोग' मे ही है, अतः जहाँ जीवन का लक्ष्य ही और उसका दर्शन ही अनिश्चित है, 'प्रयोग'-काल मे है, वहाँ 'मूल्य' की बात क्या की जाय? वहाँ सबसे बडा मूल्य यही है कि भोगे हुए सत्य को ईमानदारी के साथ सटीक शब्दों मे व्यक्त किया जाय। इस प्रकार इन्होने अनुभूत सत्य को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया, वह 'सत्य' साधारण से असाधारण होकर पुनः साधारण बनना चाहता है और तदर्थ रचयिता माँजे हुए माध्यम को ही अपनाता है या महत्त्व देता है। वस्तुगत मूल्य की अनिश्चित स्थिति मे तंत्रगत मूल्य जो समीक्षण का प्रतिमान है (मूल्यांकन का नही) वही अपनाया जा रहा है। आप चाहे तो इसे 'मूल्याकन' नही भी कह सकते हैं। कह सकते है कि अभी यह धारा मूल्यो की तलाश में है। ऋतुराज वाली बात पहले कही ही जा चुकी है। भारतीय चिन्तक इस तन्त्रगत प्रतिमान को ध्वनिवाद का ही प्रमुख पुनरुत्थान कहना चाहेगा। नागार्जुन, अज्ञेय, मुक्तिबोध तथा शमशेर—सभी 'व्यक्ति सत्य' की अभिव्यक्ति के लिए शब्दो को माँजने और संघर्ष की बात करते है। वस्तुगत मूल्यांकनोपयोगी प्रतिमान की बात उसी धारा के लिए की जानी चाहिए जो उपलब्धि बन गई हो। जिस धारा का लक्ष्य ही अनिर्धारित है, इसके लिए उपलब्धि की बात किस प्रकार की जाय? जो धारा अभी परिपक्व होने की प्रक्रिया मे है—जिसकी लबाई, चौडाई, ऊँचाई तथा गहराई अभी तय नही हो पाई है, उसके लिए प्रतिमान की बात क्या की जाय?

नई चेतना परम्परागत मूल्यों से विद्रोह कर के पृथक् हुई थी। यह थिराहट आने पर जब वह पुनः अपने को इलियट की भाँति 'परम्परा' और 'परम्परागत मूल्यो' से जोड़ने की ओर मुड गई तब उसकी संतति ने उससे पुनः विद्रोह किया और अपना अलग प्रस्थान लाना चाहा—उसे परम्परा से सर्वतोमुखी विच्छिन्न करने के लक्ष्य मे 'अ-प्रस्थान' कहना चाहा। वास्तव मे प्राक् स्वातन्त्र्य-काल में स्वातन्त्र्य-लाभ लक्ष्य था और उसके लिए त्याग आदि सामाजिक तथा राष्ट्रीय मूल्य व्यवहार में जीवित थे। स्वातन्त्र्य-लाभ के अनन्तर 'शक्ति' एवं 'सत्ता' के केन्द्रो ने अपने को 'सामाजिकता' की ओर से 'व्यक्ति' की ओर, त्याग की ओर से 'माँग' की ओर केंद्रित करना आरभ किया। परिणाम यह हुआ कि 'सामाजिकता' से 'व्यक्ति' की ओर केन्द्रण का एक दुर्निवार प्रवाह ही चल

पड़ा। समाज के संधारक मूल्य या तो नकाब बन कर वाणी तक ही सीमित रह गए या प्रतिक्रिया मे थूके थुत्कारे जाने लगे। परम्परागत मूल्य जीवन से हटने लगे और नए मूल्यो के आविर्भाव का द्वार ही बन्द हो गया। 'व्यक्ति' से 'समाज' की ओर प्रस्थान मे ही संघटन-सश्लेष तथा आकर्षण है और 'समाज' से 'व्यक्ति' की ओर आने मे विघटन, विश्लेष तथा विकर्षण। आज आमने-सामने जो दो दल है, उनमे से एक सत्ताधर और शक्तिधर है तथा दूसरा उनके स्वार्थो की चक्की मे पिसने वाला मानस। इस मानस से जो भोगा हुआ सत्य निकलेगा, वह प्रतिक्रिया का ही होगा। यही कारण है कि आज कविता 'हाथो की छटपटाहट' कही जाने लगी है। इस स्थिति मे आस्था के गीत कम और अनास्था के गीत ज्यादा गाए जाने लगे हैं। आस्था और भावना का गायक 'अनास्था' और 'विद्रोह' के गायक से विरोधी शिविर मे आता जा रहा है। सवाल आस्था और भावना के संदर्भ मे रचना करने वाले के लिए मूल्य का नहीं है। सवाल अनास्था और विद्रोह की कविता के लिए वस्तुगत मूल्याकनोपयोगी प्रतिमान की है। सत्ता और शक्ति की नकाबधर चक्की मे पिसते और खौलते हुए युवारक्त ने प्रतिक्रियागर्भ रचनाओ मे समाज की विद्रूपता और विघटन के प्रति कही व्यंग्य और कही आक्रोश व्यक्त किए, कहीं विसंगति और दरारें विनिर्दिष्ट की। विद्रोह और निषेध ही इनके नारे बने। सो इस कथ्य का मूल्य अपनी ईमानदार व्यजना मे इतना ही है कि वह जमे और जड़कल्प मूल्यो को वेग के साथ या तो पुनः जीवन से जोड़ने की ओर समाज को उन्मुख करे अथवा नए मूल्य की पीठिका बने। सृष्टि अपने ध्वंस में रचना का एक पक्ष ही व्यक्त करती है। शर्त इतनी ही है कि यदि इस ध्वंसात्मक वृत्ति का लक्ष्य रचना हो, तो रचना की दृष्टि से किया गया संहार भी बड़ा ही मूल्यवान् है। नई चेतना के काव्य का मूल्याकन संप्रति इसी दृष्टि से हो सकता है कि रचना की सच्ची आग उससे लिखवा रही है या सस्ते यश की दलवादी भूख ?

● ●

बारह | समीक्षण और मूल्यांकन

कोई कोई पण्डितमन्य पूर्व सूरियो के साक्ष्य पर और कोई स्वयम् के बल पर समीक्षण तथा मूल्यांकन दोनों को एक समझते है। मेरा विचार इनसे भिन्न है। मैं यह मानता हूँ कि समीक्षण का संबंध प्रस्तुत सदर्भ मे रचनात्मक कृति से है। समीक्षण के लिए जिस तरह की प्रतिभा अथवा बौद्धिक क्षमता की आवश्कता होती है—आनन्दवर्द्धन के शब्दो मे वह 'तत्त्वार्थदर्शिनी' है, जो पहले से है। आलोचक उसी के तात्विक ग्रहण मे क्षम है। रचना में पहले से दो ही सामग्री है—**संवेदन** और तद्नुरूप प्रकाशनक्षम उपकरण। सवेदन मे भी दो अवयव हैं—**भाव** तथा **विचार**। उपकरण में इनकी प्रकाशक सामग्री है। समीक्षक रचयिता के साथ तादात्म्यापन्न होता हुआ सर्वप्रथम इसी 'संवेदन' का ग्रहण करता है और फलत. तत्वार्थदर्शी कहा जाता है। तत्पश्चात् वह यह देखता है कि 'संवेदन' और 'माध्यम सामग्री'—दोनो के बीच प्रेषणीयता के धरातल पर **'अपरिवृत्तिसह आनुरूप्य'** है या नही ? **अपरिवृत्तिसह आनुरूप्य** से हमारा तात्पर्य यह है कि प्रकाश्य॰ सवेदन और प्रकाशक सामग्री ऐसे अविच्छेद्य रूप मे समरस हो कि इनमे से किसी को भी रंचमात्र पर्याय प्रयोग से स्थानान्तरित न किया जा सके। इसीलिए वयस्क रचना के निकष रूप मे प्राय: मर्मज्ञ जन कहा करते हैं कि उसका 'अनुवाद' नही हो सकता। इस आनुरूप्य परीक्षण मे समीक्षक को 'तटस्थ' भी होना पड़ता है। आनुरूप्य परीक्षण के द्वारा समीक्षक अभिव्यक्ति की क्षमता और कमजोरी का भी इजहार करता जाता है। इस क्षमता और कमजोरी का इजहार करने के लिए यदि हमने क्रमागत प्रतिमान का सहारा लिया, पूर्वलब्ध प्रतिमेय से प्राप्त प्रतिमान का प्रयोग किया तो संभव है कि आलोच्य वयस्क कृति की कलोचित संभावनाओं का अनाकलन कर जाय। कारण, प्रत्येक रचनात्मक वयस्क कृति का प्रतिमान प्रातिभ-सृष्टि होने के कारण उसके अपने सर्ग से निकलता है। प्रतिमान रचनात्मक कृति मे निहित व्यवस्था या कलागत बुद्धिपक्ष का ही नामान्तर है। समीक्षक अपना क्षेत्र इसी कलागत बुद्धि पक्ष या व्यवस्था के परीक्षण तक सीमित रखता है।

वह कहता है कि कवि या रचयिता की रचना सामाजिक है। कारण, वह भाषा के सहारे 'व्यक्ति' से निकल 'समाज' के साथ अपना सम्बन्ध करती है, असाधारण से 'साधारण' बनना चाहती है। सामाजिक बनने की आकांक्षा रखने वाला 'विकर्षण' या 'विघटन'-कारी तत्वों को नहीं, विपरीत इसके 'आकर्षण' या 'संघटन'-कारी तत्वों को अपनाता है। आकर्षण जहाँ होगा, सौंदर्य वहाँ होगा और सौंदर्य जहाँ होगा, व्यवस्था वहाँ होगी। 'व्यवस्था' यदि **अपरिवृत्तसह आनुरूप्य** से सम्पन्न है तो वही उस कृति का शक्त प्रतिमान है। प्रतिमेयान्तर लब्ध प्रतिमान मेयान्तर के लिए अनुपयोगी और अपर्याप्त है—शर्त यह है कि वह आलोच्य कृति 'वयस्क' हो।

अब सवाल यह है कि 'सौंदर्य' केवल 'अभिव्यक्ति' में है या 'संवेदन' मे भी ? सवेदन' में यदि सौंदर्य हो भी अपनी सामाजिकता से तथापि दूसरा प्रश्न यह है कि व्यावहारिक और कलात्मक सौंदर्य में कोई अंतर है या नहीं ? रिचार्ड्स का विचार है कि सौंदर्य जैसी कोई वृत्ति है ही नहीं—यह तो एक आरोपित धर्म और संज्ञा है। जीवन में सुन्दर या आनन्दकर नाम की वस्तु एक ही है—और वह है वस्तुत. **मानव-वृत्तियों का व्यवस्थितीकरण**। वह चाहे व्यवहार हो या काव्य, इसी स्थिति को हम सुन्दर अथवा आनंद कहते हैं—इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। अभिव्यक्ति भी सुन्दर है तो इसीलिए और सवेदन घटक अवयव भी सुन्दर हैं तो इसीलिए। मूल प्रतिमान है—वृत्तियों में सामंजस्य। जो **संवेदन या सामग्री** जितनी मात्रा में यह कार्य कर सके, वह उतनी ही मूल्यवान् है। कृति के समीक्षण का अभिप्राय इस प्रकार यही मूल्यांकन है—फलतः समीक्षण और मूल्यांकन मे कोई अंतर नहीं। रिचार्ड्स इतना अवश्य मानता है कि कलाकृतियाँ इस तनाव के युग में वृत्तिसामंजस्य का मूल्यवान् स्रोत हैं, जिसके कारण मनुष्य का व्यक्तित्व विघटित होने से बच जाता है। रिचार्ड्स की यह स्थापना मनोविज्ञान की विशेष निष्पत्तियों के आलोक मे निर्धारित कला सृष्टि की रचना-प्रक्रिया से सम्बद्ध है। उसकी मान्यता ही है कि कलाकृति एक भावात्मक परिणति है—स्थिति विशेष के मानस की प्रसूति है। यह स्थिति विशेष और कुछ नहीं, वृत्तियों का सामंजस्य ही है। इसीलिए उसके शब्दों में 'अर्थ' का 'अर्थ' वह नहीं है जो वस्तुवादियों के यहाँ है। उसके यहाँ 'अर्थ' का 'अर्थ' है—भाव विशेष। उसकी अभिव्यक्ति में प्रयुक्त 'अर्थ' वस्तुवादी और व्यावहारिक दृष्टि से 'सत्य' या 'मिथ्या' होने की अपेक्षा नहीं रखते।

रिचार्ड्स की इन मान्यताओं के विषय में अब और अधिक कुछ कहने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि उसने जिन मनोवैज्ञानिक निष्पत्तियों पर अपनी मान्यताएँ खड़ी कर रखी थीं, वे परवर्ती निष्पत्तियों के आलोक में अमान्य हो चुकी हैं। स्वयम् मनोविज्ञान की अन्यान्य निष्पत्तियाँ विज्ञान की अन्य शाखाओं के आलोक में असंगत या विरुद्ध पड़ जाती हैं। अतः रिचार्ड्स की दुहाई देकर जो लोग समीक्षण तथा मूल्यांकन को एक कहना चाहते हैं, वे स्वतः सोचें कि उनका यह कहना कहाँ तक ठीक है।

बात जो भी कहेगा, वह किसी न किसी दृष्टि से या अपेक्षाबुद्धि से कहेगा और अपेक्षा अपने आप में अंतिम या निरपेक्ष से स्वभावतः विरुद्ध है। इसलिए मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ वह भी अंतिम नहीं हो सकता, यह ठीक है; तथापि अब तक जो कुछ अपेक्षाकृत सही जान पड़ता है, वह तो कह ही सकता हूँ।

इस संदर्भ में मूल प्रश्न यह है कि संवेदन घटक अवयवों के सौंदर्य-असौंदर्य की अपेक्षा न करके भी क्या अभिव्यक्ति या अभिव्यक्ति-सामग्री 'सुन्दर' हो सकती है? मैं तो मानता हूँ कि सौंदर्य का सर्वाधिक शक्त प्रतिमान है संवाद—रचयिता और पाठक का मानस संवाद। पुरातन भारतीय आचार्यों ने इसे 'तन्मयीभवन' के नाम से भी कहा है। पाठक के मनोमुकुर का विशदीकरण इसी संवाद से होता है। रचयिता अपनी नवतामयी प्रतिभा के बल पर जिस कुछ और ही **'आदर्श या यथार्थ'** की स्वकीय अनुभूति (या संवेदन) को शक्त अभिव्यक्ति दे देता है, वह स्वयं में चाहे मूल्यवान् हो या नहीं पर शक्त अभिव्यक्ति के कारण अपनी 'नवता' में संवादात्मक प्रतीति के बल पर आकर्षक और आह्लादक हो जायगी। यह मानवीय स्वभाव में है कि वह आत्मविस्तार में सौंदर्य और आह्लाद पाता है। संवाद इसी आत्मविस्तार का माध्यम है। इस आत्मविस्तार को मनोविस्तार भी कहा जा सकता है। इस प्रकार मैं तो यह समझता हूँ कि कला की अपनी विशेषता—असाधारण विशेषता हूँ तो **अभिव्यक्ति** में ही है। कारण, यह कलात्मक अभिव्यक्ति ही है जो आह्लाद या सौंदर्यपर्यवसायी 'संवाद' दशा तक ग्राहक को पहुँचाती है। भट्ट नायक की काव्य-सामग्रीगत भावकता और अभिनव गुप्त की व्यञ्जकता यही तो है।

मूल्यवत्ता और कलात्मक सौंदर्य में मैं अंतर मानता हूँ। मूल्यवत्ता जीवन और समाज के संदर्भ में उपयोगिता का ही नामान्तर है। कलात्मक सौंदर्य जीवन और समाज के संदर्भ में अनुपयोगी भी हो सकता है—फलतः मूल्यवान् नहीं हो सकता। वर्ण्य या संवेदनगत सौंदर्य शक्त अभिव्यक्ति के कारण अनुरूप

संवाद उत्पादनवश है—जबकि उसकी मूल्यावत्ता जीवन और समाज के संदर्भ की उपयोगिता पर है। दूसरी बात यह भी है कि काव्य का वर्ण्य कुछ भी हो सकता है, पर उपयोगी या अनुपयोगी सब कुछ नहीं हो सकता। रहा यह कि उपयोगिता की दृष्टि से ही काव्य लिखा जाना चाहिए—ऐसा निर्णय मेरी दृष्टि मे नि.सदेह कला-जगत् की स्वायत्तता पर व्यवहार-जगत् का आक्रमण है।

एक बात अवश्य इस संदर्भ में विचारणीय है और वह यह कि काव्य में सब कुछ—सुकृति तथा विकृति—वर्ण्य है। सुकृति तो सामाजिक होने से उचित और उपयोगी होगी ही, रही यथार्थ की भोगी हुई विकृतियों का ईमानदार अभिव्यजन, उसकी कोई सीमा है कला के स्वायत्तता-विचार के संदर्भ में या नहीं ? मै यह मानता हूँ कि यदि कवि उन विकृतियो पर रचनात्मक प्रवृति के कारण अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है और उन्हे उरेहता है, तो वे भी उपयोगी है। आखिर, आज का अप्रतिबद्ध युवा मानस भी विकृतियों पर क्यो झुझलाता है ? इसीलिए न कि उसके मनोगत आदर्शमय सस्कारों से वह सर्वथा बेमेल जान पडता है। झुझलाहट मात्र बेमेलपन पर ही होती है। रहा यह कि जहां संस्कार ही न हो, वहाँ तो विघटनकारी वृत्तियो का अनियत्रित और अराजक समुच्छलन ही उसे समझना चाहिए। वहाँ की अभिव्यक्ति मे भी संयम और व्यवस्था का अभाव होगा। जिसकी आस्था-निष्ठा सर्जनात्मक सवेदन से हट गई, उसकी अभिव्यक्ति से होगी ही—इसकी क्या गारटी ? फिर जो सब तरफ अप्रतिबद्धता की ही बात करता हो, उसका तो कोई ठिकाना ही नही।

फिर कला की स्वायत्तता भी निःसीम नही है। रचयिता की रचनात्मक प्रवृत्ति उसकी सीमा है। इसी पीठिका पर कलात्मक सृष्टि का उद्भव ग्राह्य है। अभिव्यक्ति की परिपूर्णता ही कला या काव्य मान भी लिया जाय तब भी उसे कला या काव्य तभी कहना समुचित होगा जब उसकी मनोमयी पीठिका रचनात्मक हो। कारण, अभिव्यग्य से हटकर भी यदि अभिव्यक्ति की बात करे तब भी उसे रचना का परिणत रूप होने से रचनात्मक तो कहा ही जायगा। दूसरे यह कि रचना-प्रक्रिया के चिन्तको ने निर्माण के धरातल पर तत्वतः अभिव्यक्ति और अभिव्यग्य को वैसे ही अविच्छेद्य माना है जैसे शब्द और अर्थ को। अतः जो लोग अभिव्यक्ति को ही कला कहते है उनकी दृष्टि से भी 'अभिव्यग्य' अपनी अरचनात्मकता मे ग्राह्य नही है। अतः 'समीक्षण' मे केवल अभिव्यक्ति और अभिव्यग्य की अपरिवृत्तिसह

आनुरूप्य ही विवेच्य है। समीक्षण की यही सीमा है। मूल्यांकन इससे भिन्न वस्तु है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'मूल्य' जीवन और समाज के संदर्भ मे वस्तुगत उपयोगिता का नामान्तर है। व्यावहारिक जगत् मे अभिव्यक्ति नही अभिव्यंग्य योगक्षेमवह होता है। अतः अभिव्यक्ति की नही, अभिव्यंग्य या वस्तु का ही मूल्य होता है। व्यवहार मे अभिव्यक्ति भी मूल्यवान् हो सकती है—बशर्ते कि उसी के कारण योगक्षेम निष्पन्न हुआ हो, भले ही वह अभिव्यंग्य के सदर्भ में अपरिवृत्तिशील आनुरूप्यावह हो या न हो। विपरीत इसके कला-जगत् में अभिव्यक्ति का कलात्मक महत्व तभी है जब वह रचनात्मक मनोवृत्ति की पीठिका पर उभरे हुए अभिव्यंग्य के संदर्भ मे अपरिवृत्तिसह आनुरूप्य हो। व्यावहारिक जगत् मे मूल्य का सबंध अभिव्यक्ति और अभिव्यंग्य दोनों से हो सकता है–यदि वे जीवन और समाज के संदर्भ मे योगक्षेमकर हों। इस प्रकार कृति की मूल्यवत्ता का निर्द्धारण शुद्ध रूप मे व्यावहारिक जगत् के मानों से ही हो सकेगा। इस प्रकार मूल्यांकन व्यवहारसिद्ध, मानसापेक्ष है और समीक्षण भावक की तत्वार्थदर्शिनी बुद्धि द्वारा गृहीत सवेदन और व्यंजक उपकरण के अपरिवृत्तिसह आनुरूप्य विश्लेषण तक ही सीमित है। पहला निर्णयात्मक है जबकि दूसरा निर्णय की सामग्री दे सकता है, पर स्वयम् निर्णयात्मक नही है। मूल्यांकन जो है उसका ही होता है, समीक्षण आनुरूप्य-परीक्षण के सदर्भ में जो कमी है उसकी ओर भी संकेत कर सकता है। समीक्षणार्थ अपेक्षित प्रतिमान समीक्ष्य कृति से ही लिया जा सकता है और वह भावक की अपनी प्रातिभ क्षमता से जबकि मूल्यांकन मूल्यार्ह वस्तु से भिन्न जीवन और समाज मे पूर्व सिद्ध प्रतिमान की अपेक्षा करता है। अतः मेरी धारणा तो यही है कि समीक्षण और मूल्यांकन भिन्न है—एक नही।

यहाँ एक दूसरा प्रश्न यह भी खडा किया जा सकता है कि समीक्षण बुद्धि-साध्य है और बुद्धि है अध्यवसायात्मिका अर्थात् विश्लेषण के द्वारा किसी निष्कर्ष तक पहुँचना ही उसका मूल रूप है। बुद्धि का कार्य ही है विश्लेषण द्वारा निष्कर्ष तक पहुँचना। यह निष्कर्ष ही निर्णय है। इस पद्धति से सोचने पर यह मानना ही होगा कि बुद्धि साध्य समीक्षण का निर्णयपर्यवसायी होना आवश्यक और अनिवार्य है। निर्णय खरे और खोटे के रूप मे ही करना पड़ेगा और ऐसा किसी अन्य की अपेक्षा मे ही संभव है। दो या अनेक की अपेक्षा मे आने वाला निर्णय किसी प्रतिमान की अपेक्षा करेगा। प्रतिमान

आलोच्य-गत प्रतिमान या व्यवस्था से भिन्न न होगा, तो खरा या खोटा कहा जायगा किस इतर प्रतिमान की अपेक्षा मे ? पर प्रतिमेयान्तरलब्ध प्रतिमान का प्रक्रान्त प्रमेयान्तर पर संचार न्यायोचित नही है। इस प्रकार यदि निर्णय और मूल्यांकन एक भी हो तो भी समीक्षा का निर्णयपर्यवसायी होना उचित नही है। अभिप्राय यह कि समीक्षण विश्लेषण मात्र है। निर्णयात्मक बनते ही उसकी वस्तुमुखी प्रकृति व्याहत होने लगती है। एक तो हमेशा निर्णय या निष्कर्ष और मूल्यांकन पर्याय होते भी नही और हो भी तो भी समीक्षण का तात्पर्यवसायी होना उक्त प्रक्रिया से संगत नही है। अंततः निष्कर्ष यह है कि समीक्षण और मूल्याकन न तो पर्याय ही हैं और न ही समीक्षण का मूल्यांकन-पर्यवसायी होना आवश्यक और अनिवार्य है।



तेरह | काव्य की आत्मा का प्रश्न और रस की स्थिति

भारतीय चिन्तकों की यह सरणि सी हो गई है कि सार तत्व के विवेचनसंदर्भ में वे शरीर और आत्मा का रूपक पकड़ लेते है। काव्य के संदर्भ में आत्मा का अभिप्राय उस सार तत्त्व से है जिसके सद्भाव से कवित्व का समुदय और असद्भाव से अनुदय हुआ करता है। औरो का तो पता नही, नाट्यशास्त्रकार ने जब यह कहा—"इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीर परिकीर्तितम्", तब निश्चय ही वे नाट्य मे आत्मा की स्थिति मानते थे, बात करते थे। नाट्य का इतिवृत्त यदि शरीर है, तो रस निश्चय ही शरीरी या आत्मा के रूप मे स्वीकृत किया गया है।

नाट्य के क्षेत्र मे ही नही, श्रव्य काव्य के क्षेत्र मे भी गणेश त्र्यबक देशपांडे ने अपनी यह स्थापना दी है कि भारतीय काव्यशास्त्रियो ने एक स्वर से रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। स्थापना के पक्ष में उन्होंने प्रचुर तर्क दिए है (जिज्ञासु वह देखे)—पर मैं इससे सहमत नही हूँ। कारण बहुत से दिए जा सकते है, पर यहाँ सबका उल्लेख सभव नही। एक बात यह अवश्य है कि जब आचार्यगण स्पष्ट कहते है—"अलकार एव काव्ये प्रधानम्", "रीतिरात्मा काव्यस्य", "काव्यस्यात्मा ध्वनि.", "काव्यस्यात्मा स एवार्थ:", "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्"—तब मुख्यार्थबाध के अभाव मे इन्हें लाक्षणिक कैसे मान लिया जाय? रीतिवादी यदि "ओज: कान्तिमती गौडीया" को अतत्वभूत रीति-अनात्म तत्त्व कहता है, तो 'दीप्तरसत्व कान्ति:' की अवमानना नही है? और है तो रस की आत्मरूपता इन्हें किस प्रकार मान्य है? जब कुन्तक स्पष्ट कहते हैं 'शब्दार्थावलंकार्यौं', 'वर्णनाविषयवस्तुन: शरीरमेवालकार्यतामेवार्हति' अर्थात् शब्दार्थ काव्य का शरीर है और वही अलकार्य है—तब कैसे कहा जाय कि उनकी दृष्टि में अलंकार्य रस है? जो आचार्य दो-दो जगह अवधारणार्थक एवकार का प्रयोग करता है, उसके निश्चय पर किस प्रकार संदेह किया जाय? वैसे

कहने के लिए 'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्य जीवितम्' तथा 'काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः' भी कहे गए हैं। पर इनमें दोनों ही रस के संदर्भ में एक साधन और दूसरा साध्य है, अतः ये दोनो ही रस विरोधी नहीं हैं—इन्हें रस के प्रतिपक्ष मे किस प्रकार रखा जाय ? 'औचित्योपनिबधस्तु रसस्योपनिषत् परा' तथा 'रसे सार चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते'—जैसी रसवादियो की स्वीकृतियाँ प्रमाण है।

निष्कर्ष यह कि काव्य मे आत्मा के प्रश्न पर मतवाद है। काव्य की आत्मा के सम्बन्ध मे काव्यशास्त्रियो ने निर्माण की दृष्टि से तो सोचा ही है ग्रहण की दृष्टि से भी विचारा है। पहली दृष्टि से किए गए चितन के परिणाम-स्वरूप अलकार, गुण एव वक्रता के मतवाद आए है और दूसरी दृष्टि से होने वाले विचारो की दृष्टि मे ध्वनि और रस के वाद उपजे है। कतिपय चिन्तकों की धारणा है कि अलकारवादी ही अलकार को सारतत्व नही मानते, रीतिवादी भी 'काव्य ग्राह्यमलंकारात्' की सारवत्ता मे सहमति प्रकट करते है—साथ ही जब वक्रोक्तिवादी भी 'वक्रोक्ति' को काव्यजीवित कहकर 'वक्रोक्तिरलंकृतिः' कहता है—तब वह भी अलंकार का महत्व मान लेता है। सक्षेप मे कहा जाय तो ये तीनो ही 'अलकार'-वादी हैं। इसी प्रकार जब ध्वनिवादी भी अन्ततः रस-ध्वनि को ही काव्य की आत्मा स्वीकार कर लेता है तो वह भी एक प्रकार से रसवादी ही हो जाता है। इस प्रकार कुल मिलाकर दो ही मतवाद ठहरते है। किसी चिंतक ने और आगे बढ़ कर यह कहा कि विचार किया जाय तो अलंकार भी अन्ततः 'रस' का अंग ही है और क्रोचे का सहारा लें तो कहाँ अग और कहाँ अंगी—जो कुछ है वह एक (रस) ही। इस प्रकार देशपांडे का मत अन्यथा पुनरुज्जीवित हो उठता है। लेकिन इस सब का उत्तर तो इतना ही पर्याप्त है कि यदि यह तत्वबोध आरम्भ मे ही हो गया होता और इसी भूमिका पर सब कुछ कहा गया होता तो परस्पर खण्डन-मण्डन ही न होता। ये सब बातें जिस एकोन्मुखी समझ से की जा रही हैं, वही सब के सब मतवादो के मूल में नही है। दूसरे अलंकरवादी, रीतिवादी एव वक्रोक्तिवादी की 'अलकार' सम्बन्धी धारणाएँ भी एक नही है। अलकारवादी अलकार और गुण में अन्तर नही मानता, रीतिवादी मानता है। इसी प्रकार जब वक्रोक्तिवादी अलकार्य को ही अलकरण अथवा दोनो को अपोद्धार-बुद्धया दो मानता है और तत्वतः एक, तो क्या वह वही कहता है जो गुण और अलंकारवादी कहते है ? कभी नही। इसी प्रकार जब ध्वनिवादी 'ध्वनित रस'

को ही काव्यात्मा कहता है, तब क्या वह उस रसवादी से अपने को भिन्न नही कहता जो भट्टनायक और महिम की भाँति किसी भी स्थिति मे रहने वाले 'रस' को काव्य की आत्मा कहता है ?

हाँ, कहना हो तो यह कह सकते है कि पूर्वी और पश्चिमी, प्राचीन और अर्वाचीन सभी आचार्य कला अथवा काव्य का केन्द्रीय तत्व 'सौदर्य' को मानते है और 'सौदर्य' का निर्द्धारक निकष है आह्लाद और 'रस' आह्लाद ही तो है। अत. सारा काव्यांचितन 'रस' पर आकर केन्द्रित हो सकता है। विषय को बहुत विस्तृत फलक न देकर मैं केवल भारतीय काव्यचिंतन के परिवेश मे कहूं तो फिर भी कह सकता हूं कि आत्मा के प्रश्न को लेकर भारतीय काव्य-शास्त्रियो मे मतभेद है। वह इस प्रकार है—अलकारवादी आचार्य भामह सौदर्य को केन्द्रीय तत्व मानते हुए भी जव 'न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनिताननम्' कह उठता है तब वह 'सहज' नही, 'आहार्य' सौदर्य को काव्य के लिए आवश्यक मानता है। इसी प्रकार जब रीतिवादी वामन तारुण्य से अपने 'गुण' को उपमित कर 'अलंकार' की तुलना मे उसे प्राथमिकता देता है तब वह 'सहज' सौदर्य को प्राथमिक महत्व देता है। कुन्तक ने दोनो को आत्मसात् करते हुए कहा 'सहजाहार्यकविकौशलशालिनी (वक्रता)'। यद्यपि वामन 'सहज' के साथ 'आहार्य' को भी स्वीकार करते है, फिर भी 'सौदर्य' को जहाँ अलकार और रीतिवादी शब्दार्थ शरीर का आश्रित मानते है, वहाँ कुन्तक शब्दार्थ को अलकार्य कह कर भी अर्थ के जिस परिस्पन्दमय आतरिक स्वभाव को उससे अभिन्न कर देते है, एक विशिष्ट काश्मीरी शैव दर्शन की भूमिका पर वह अलकारवादी एव रीतिवादी से उनकी सौंदर्य सम्बन्धी दृष्टि को भिन्न कर देता है। रसवादी और ध्वनिवादी तो अलकार्य 'रस' को ही मानते है—अभिधा और अधिक से अधिक लक्षणा तक की सामर्थ्य से सवलित एव अर्थ कोवे शरीर ही मानते है, अलकार्य शरीरी नहीं।

काव्य की आत्मा के प्रश्न पर सर्वाधिक उभर कर नजदीक आने वाले मतवाद अधिक ध्यान देने योग्य है—निर्माण की दृष्टि से विचार किए जाने के परिणाम-स्वरूप प्रसूत वादो में 'वक्रोक्तिवाद' और ग्रहण की दृष्टि से प्रादुर्भूत 'रसध्वनिवाद'। इस संदर्भ में आनन्दवर्द्धन, कुन्तक एव अभिनव गुप्त के विचार अधिक महत्वपूर्ण हैं। मैं इस ऐतिहासिक क्रम को मानकर चलता हूँ कि पहले आनन्दवर्द्धन, फिर कुन्तक और तब अभिनव गुप्त हुए। तीनों ही आचार्य अद्वयवादी काश्मीरी शैव दर्शन के अनुयायी, प्रवर्त्तक और पोषक है।

इसके पूर्व कि ग्रहण और निर्माण की दृष्टि से एक दूसरे के नज़दीक आने वाले रसध्वनि एवं वक्रोक्ति की आपेक्षिक महत्ता का निर्द्धारण करे, यह तो देख ले कि 'वक्रता' और 'रस' काव्य की आत्मा हो भी सकते है या नही ? कुतक की वक्रता है—वक्रत्व कविव्यापारः। प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकी कविगत व्यापार और रसध्वनिवादी का रस है सहृदय-गत चर्व्यमाणात्मिका प्रतीति-विशेष। निष्कर्ष यह कि एक कविगत है और दूसरा सहृदयगत। यदि काव्य शब्दार्थमय है तो इन दोनो मे से एक भी काव्यगत नही है। फिर भी काव्य की आत्मा से इन दोनो का क्या सम्बन्ध ?

वैसे इस प्रश्न पर अन्यत्र (वीणा) मैने विचार किया है जिसका साराश यह है कि यदि काव्य की उपमा, जैसा कि अभिनव गुप्तपाद ने कहा भी है, बीज, वृक्ष एव फलात्मक परिणति से दी जाय, तो कहना पड़ेगा कि काव्य का अस्तित्व कवि के हृदय से लेकर शब्दात्मक प्रकाशन द्वारा सहृदयगत रसात्मक परिणति तक व्याप्त है। इस प्रकार काव्य का अस्तित्व यदि इतनी व्याप्ति के साथ मान लिया जाय तो उक्त समस्या का निवारण हो जायगा। समग्रता मे काव्य का स्वरूप और उसकी व्याप्ति समझ लेने पर लक्षणा द्वारा उसके किसी खण्ड मे उसकी स्थिति मानी जा सकती है। काव्य के इस व्यापक रूप से 'कवि व्यापार' भी है और 'रसात्मक परिणति' भी। अतः निर्माण की दृष्टि से एक को और ग्रहण की दृष्टि से दूसरे को काव्य की अन्तरात्मा कहा जा सकता है। वास्तव मे ध्वनि-तरसवादी और वक्रोक्तिवादी दोनो ही इस तथ्य से सहमत है कि आह्लादमय दशा से ही काव्य निकलता है और आह्लाद ही मे उसकी परिणति होती है। ठीक ही है, जो अपने बीज भाव मे जैसा होगा परिणति मे भी वैसा ही होगा।

'ध्वनि' और 'रस' का जैसा अमिट प्रभाव कुन्तक पर है वैसा ही अनिवार्य प्रभाव कुन्तक का अभिनव गुप्त पर भी है। कुन्तक की ही भाँति अभिनव ने भी यह स्वीकार किया है कि काव्यगत सौदर्य का मूल माध्यम है—वक्रता या वक्रोक्ति। अभिनव ने 'नाट्यमेव रसः' का अभिनव भारती मे समर्थन किया था। उन्हे श्रव्यकाव्य पर रसात्मकता का वितान फैलाने में कठिनाई का अनुभव हुआ था। तभी कहा था कि जिस प्रकार नाट्य में लोक-धर्मी और नाट्य-धर्मी होते है उसी प्रकार काव्य मे स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति होती है। नाट्य का लोकधर्मी और काव्य की स्वभोवोक्ति दोनो को कुन्तक और अभिनव ही ने 'लोचन' और 'वक्रोक्तिजीवित' मे मिति स्थानीय माना है तथा नाट्यधर्मी और वक्रोक्ति को सौन्दर्यधायक माध्यम। नाट्यधर्मी और वक्रोक्ति द्वारा लोक-धर्मी और स्वाभावोक्ति को खचित चित्र द्वारा सुन्दर और सरस बनाया जाता

है। इसीलिए कुन्तक ने कहा है कि यदि वर्णनीय पदार्थ स्वभावात्म फलक ही उत्कृष्ट होगा, तो वक्रोक्ति उससे अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती। इसीलिए कुन्तक का अभिमत है कि यह वक्रता ही है, कवि-व्यापार है जो वर्णनीय पदार्थ स्वभाव को सुन्दर एव सरस रूप मे प्रस्तुत करता है। जो पदार्थ को सुन्दर एवं सरस रूप मे प्रस्तुत न करे वह कवि व्यापार ही नही है। कुन्तक मानते है कि कुछ पदार्थ तो ऐसे होने है जो सहज सुन्दर होते है। कवि व्यापार उस लीन सौंदर्य को कुरेद कर ऊपर कर देता है। कुन्तक मानते है कि वक्रता का परम रहस्य 'स्वभावस्याञ्जस्येन परिपोषणम्' ही है। उत्कृष्ट स्वभाव वाले वर्णनीय पदार्थ में लीन सौंदर्य को बिना किसी प्रकार की प्रौढोक्तिवश आलकारिक लेप लगाए उभार देना चाहिए। वक्रता का उत्कृष्टतम रूप कुन्तक के मत से यही है। रसात्मकता ही इनके मत से उत्कृष्ट स्वभाव है। इस प्रकार एक ने 'वक्रता' के सदर्भ मे रस का और दूसरे ने रस के सदर्भ में वक्रता की उपादेयता की बात समान बल से कही है। कुन्तक ने लोकोत्तर आह्लादकारी वैचित्र्य की सिद्धि मे 'वक्रोक्ति' की और अभिनव गुप्त ने काव्योचित सौंदर्य ओर तज्जन्य आह्लाद की सिद्धि मे स्वभावोक्ति से भिन्न वक्रोक्ति की बात कही है। जिस प्रकार कवि व्यापार वक्रता का उत्कृष्ट रूप रसादिमय स्वाभाविक सौन्दर्य को सहज उभार देने मे है, उसी प्रकार आनन्दवर्द्धन का कवि कर्म भी विभावादि सयोजन मे है।

'व्यापारवदसाधारण कारण करणम्' वाले प्राचीन करण-स्वरूपवादी आचार्यो के मत से 'प्रतिभा' कवि व्यापार ही है और शक्ति, व्युत्पत्ति एव अभ्यास मिलित रूप मे करण या हेतु। पण्डितराज जगन्नाथ 'फलाव्यवच्छिन्न कारण करणम्' वाले नव्यचितकों के अनुयायी है, अत उन्होने सीधे प्रतिभा को ही करण कह दिया है। अस्तु यह प्रतिभा भी एक व्यापार—कवि व्यापार—ही है, जिसका स्वरूप है 'काव्यानुकूल शब्दार्थोपस्थिति'। आनन्दवर्द्धन ने ग्रहण की दृष्टि से विचार करते हुए कहा है कि ग्राहक रसावेश की प्रतिभा का साक्षात्कार कर लेता है (अभिव्यक्ति प्रतिभा विशेषम्)। आचार्यो ने रस प्रतीति को प्रपानक रसन्यायेन एक सम्मिश्र प्रतीति कहा है जिसमे शब्द, अर्थ, उभयगत सौंदर्य व्यंजक उपकरण, विभावादि, चित्त तथा आनन्दांश सभी एकरस रहते ह। यह रसात्मक स्थिति यदि कवि के मन मे न होगी, तो ग्राहक में परिणत किस प्रकार होगी ? अतः कवि के हृदय में जो काव्योचित मानस दशा या अनुभूति होती है, वह शब्दानुविद्ध होती है। सामान्यजन की जीवनानुभूति और कविजन की काव्यानुभूति में अन्तर सही शब्द से अनुभूति का एकरस

होना और न होना ही है। कवि मे वही अनुभूति सही शब्दों मे उभरती है। आज के जो चितक 'भाषिक सर्जना' अथवा 'सही शब्द की तलाश' की बात करते है गहरे चिंतन के धरातल पर वे उसी भारतीय काव्य-चितना को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी विभाव-सयोजन को ही कवि का मुख्य कर्म कहा है। इस प्रकार समूचा भारतीय चितन आरम्भ से अब तक ही केन्द्रीय तत्व—काव्यानुभूति या सौदर्यानुभूति या आह्लादमय अनुभूति या रसानुभूति—के आसपास चक्कर काटती है।

इस प्रकार ग्रहण की दृष्टि से काव्य की आत्मा पर विचार करने वाले यदि समग्र रूप मे रसवादी (रसवादी एवं ध्वनिवादी-दोनो) ही कहे जाएँ तब उनकी और वक्रोक्तिवादी दोनो की चिंतन धाराओ मे अनेक समानताएँ लक्षित होती है। इस साम्य या इन अनेक समानताओ के बावजूद अन्तर उनके तात्त्विक महत्त्व-अवधारण मे है। रसवादी या ध्वनित रसवादी सहृदयनिष्ठ परिणति को केन्द्र मे रखकर विचार करते है और वक्रोक्तिवादी निर्माता कविगत अकुण्ण-प्रक्रिया पर अपने को केन्द्रित रख कर विचार करता है। वैसे काव्य की उत्कृष्ट-तम भूमि रसवत्ता को दोनो ही समान महत्त्व देते है। सहृदयहृदयाह्लाद दोनो का ही लक्ष्य है। कवि व्यापार इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए होता है, इसमें दोनो ही सहमत है। अभिप्राय यह कि काव्य की आत्मा के प्रश्न को लेकर आचार्यो ने काव्य वृक्ष के बीज भाव से आरम्भ कर परिणति तक अपने काव्य-चिन्तन को सारित किया है। इसलिए कुछ लोगो का जो आक्षेप है कि भारतीय चिन्तन निर्माण की दृष्टि से कुछ नही है, चिन्त्य ही है।

काव्यात्मचिंतन के इस सदर्भ मे सर्वाधिक उल्लेखनीय है ध्वनिवादी। इनकी दृष्टि सैद्धान्तिक ही नही, व्यावहारिक भी थी। व्यावहारिक दृष्टि से शून्य-प्राय चितको की काव्यात्मवादी विचारधारा काव्यनामधारी समस्त कृतियो के साथ निबाही नही जा पाती। काव्य का समुच्छल जिस मानस मे होता है, उसमें काव्योपयोगी उपकरण विभिन्न तारतमिकताओ मे एकोन्मुख हो सकते है। यह सभव नहीं है कि सर्वत्र कवि-मानस मे रसात्मक एकता के अनुरूप एकोन्मुख काव्योपकरण सश्लिष्ट होकर सर्वदा उदित हो। इसीलिए सर्वत्र बिना काव्यार्थबोध के रसात्मक प्रतिमान लागू करना रसान्धता है। अभिनव गुप्त ने भट्ट नायक को इसीलिए रसाध कहा था। ध्वनिवादियो ने इसीलिए यह मानते हुए भी कि 'रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम्' 'यत्र तु रसादीनामविषमत्व स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव', रसात्मक प्रतिमान को न तो

सर्वत्र लागू किया है और न तो उसका सर्वत्र व्यवहार ही। काव्योचित सौन्दर्य के उन्मेष में कौन-सा तत्व उदग्र है—इसका अनुभव किए बिना, उदग्र तत्व किस तारतामिकता से संश्लिष्ट है—यह जाने बिना न तो उस आलोच्य काव्य का विश्लेषण किया जा सकता है और न तो कोई प्रतिमान ही लागू किया जा सकता है।

रसवादी की तुलना में ध्वनिवादी यह नहीं मानता है कि रस चाहे किसी भी स्थिति में क्यों न हो, आत्मस्थानीय होता है। दर्पणकार, महिम भट्ट, भट्ट नायक तीनों ही थोड़े अन्तर के साथ यह स्वीकार करते हैं कि रस चाहे किसी भी स्थिति में हो, काव्य की आत्मा है। ध्वनिवादी भी कहते हैं कि विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो किसी न किसी प्रकार की चित्तवृत्ति न पैदा करे और चित्तवृत्ति रूप ही रस है। अतः रस-शून्य कोई काव्य हो नहीं सकता, क्योंकि वह वस्तु-शून्य नहीं होता और मान लिया कि यदि ऐसी कोई वस्तु है तो किसी प्रकार की चित्तवृत्ति नहीं पैदा करती, प्रभाव नहीं उत्पन्न करती, तो कोई भी कवि वैसी वस्तु काव्य में ग्रहण ही क्यों करेगा? फिर भी ध्वनिवादी रसमात्र को—चाहे किसी भी स्तर का क्यों न हो—काव्य की आत्मा नहीं मानते। फिर समस्या खड़ी होती है कि ध्वनिवादी किस स्तर पर रस को काव्य की आत्मा कहता है? और जिस स्तर पर उसे आत्मा कहना चाहता है, आत्मा शब्द का प्रयोग उस सीमित रूप के लिए सम्भव है क्या?

वास्तव में ध्वनिवादी जब ध्वनित रस को काव्य की आत्मा मानता है—पर अध्वनित स्थिति को 'रस' की नहीं—तब आत्मा की असर्वव्यापकता खटकती है। इस समस्या को हटाने के लिए एक ही रास्ता शेष है और वह यह कि जिस प्रकार आत्मा की दो भूमिकाएं हैं—निर्गुण एवं सगुण, उसी प्रकार रस की भी दो स्थितियाँ हैं—एक निर्गुणवत् अव्यक्त और अकिंचित्कर तथा दूसरी व्यक्त और आनन्दकर। जिस प्रकार आत्मा समुचित अभिव्यंजकों के सहारे रसमूर्ति के रूप में साकार होती है उसी प्रकार रस भी अनुरूप उपकरणों के सहारे प्रधानतः प्रकाशित होता है और इसी दूसरे रूप में वह सगुण ब्रह्म की भाँति अपनी समग्र निहित सुन्दरता में प्रकाशित होता है। जिस कवि के हृदय में रसानुरूप संघटना होगी, उसी से सरस काव्य की विस्फूर्ति होगी और जो तादृश मनःस्थिति का समुच्छलन होगा उसी की सहृदय में। रसात्मक परिणति होगी। अतः सर्वत्र रस की सम्भावना मूर्खता ही है।

इस स्थिति मे रस की चर्चा पुरानी और नई कविता के संदर्भ में की जाय तो कहा जा सकता है कि इसका सम्बन्ध नए और पुराने की अपेक्षा अनुरूप मन स्थिति से है। न तो समस्त पुरानी रचना ही रसात्मकता का समुच्छलन है और न नयी कविता से इस दिशा मे सिद्धान्तत निराशा ही है। यह अवश्य है कि पुरानी मन.स्थिति मे सन्तुलन जितना सहज और सम्भव था, नई मन स्थिति मे वह नहीं मिल रहा है। जहाँ मिल रहा है, वहाँ की मनः स्थिति के नया होने मे सन्देह किया जा रहा है। हाँ, सन्तुलन की ओर विकास-गामी विश्व मनोवृत्ति को मानकर आशा अवश्य की जा सकती है कि काव्यों में रसात्मकता की प्रतिष्ठा पुनः हो सकती है।



चौदह | समीक्षा और शोध : समस्या और समाधान

अन्वेषण, गवेषणा, अनुसन्धान, खोज एवं शोध ये शब्द प्रस्तुत सन्दर्भ में अभीप्ट धर्मी का बोध कराने वाले पर्यायवाची शब्द है। धर्मी का बोध समान अथवा एक रूप से कराते हुए भी ये शब्द व्युत्पत्ति निमित्त अथवा धर्मगत एकता का बोध नहीं कराते। इन विभिन्न पर्यायवाची शब्दों में एक ही धर्मी की विभिन्न विशेषताओं का उसी प्रकार बोध होता है जैसे रूप, रूपक एवं नाट्य शब्दों से एक ही दृश्यकाव्य रूपी धर्मी की भिन्न-भिन्न चाक्षुषता, समारोप एवं अवस्थानुसार विशेषताओं का। गवेषणा से ज्ञानेन्द्रिय की इच्छा या जिज्ञासा भाव, जो आलोच्य धर्मी का बीज भाव है, प्रतीत होता है। अन्वेषण एषणा या जिज्ञासा जैसे बीज भाव के उदय के अनन्तर या अनुरूप होने वाले प्रयत्न पक्ष का बोध कराता है। जिज्ञासा और अनुरूप प्रयत्न के फलस्वरूप होने वाली प्रगतियों का बोध अनुसन्धान तथा खोज शब्द कराते हैं। अनुसंधान का अर्थ है विच्छिन्न संबंध सूत्रों का पुनः संधान या यथावस्थानीकरण। ऐतिहासिक या दैनिक व्यवधानों के कारण दो वस्तुओं, शब्दों एवं अर्थों तथा दो व्यक्तियों का सम्बन्ध-विच्छेद सम्भव है। इस सम्बन्ध-संधान की जिज्ञासा और अनुरूप प्रयत्न द्वारा यथावस्थानीकरण सम्भव है। जिज्ञासा और प्रयत्न (इच्छा और क्रिया) से न केवल विच्छिन्न सूत्रों का यथावस्थानीकरण होता है, वरन् अज्ञात तथ्यों का प्रकाश में आनयन भी हो सकता है। अज्ञात तथ्यों का प्रकाशन में आनयन स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार का हो सकता है—स्थूल प्रकाशन में अज्ञात कवियों, कृतियों एवं ऐतिहासिक तथ्यों का प्रकाशन समाविष्ट हो सकता है और सूक्ष्म प्रकाशन के अन्तर्गत नवीन, मौलिक स्थापनाओं और सिद्धान्तों तथा व्याख्याओं का सन्निवेश। शोध शब्द में शुद्धि या परिष्कार का भाव स्पष्ट है—जिससे परम्परागत शब्द (पाठ), अर्थ (विचार एवं धारणाएँ) दोनों के अन्यथामूलक या अन्यथाकृत रूप का परिष्कार समझा जा सकता है और इस क्षेत्र में उसकी उपादेयता है।

कहने की आवश्यकता नही कि आज शोध अथवा अनुसन्धान से प्रायः तीन लक्ष्यो की पूर्ति की चर्चा की जाती है--नवीन तथ्यो का प्रकाशन, मौलिक स्थापना एवं मौलिक व्याख्या। इनके साथ-साथ पाठ-सम्पादन का शोध मे समावेश होने से परिष्कार वाला उद्देश्य भी जुड़ जाता है। उक्त शब्दों में इन सभी की पूर्ति की क्षमता विद्यमान है। निष्कर्ष यह कि आलोच्य धर्मी के बीजभाव जिज्ञासा एवं प्रयत्न से लेकर प्रक्रिया एवं परिणतियों—प्रकाशन, स्थापन, व्याख्यान एवं परिष्करण—तक के बोध की क्षमता उपर्युक्त पर्यायवाची शब्दों मे सन्निहित है।

इच्छा विविध प्रकार की होती है, पर जब वह ज्ञान विषयिणी होती है तब आलोच्य धर्मी के लिये तद्‌गत तीव्रता और स्पष्टता के अनुरूप प्रयत्न होता है, जो परिणति पर्यवसायी होता है। अध्ययन और आलोचन भी जिज्ञासा पूर्ति के ही निमित्त होते हैं, पर प्रस्तुत धर्मी के वे पर्याय नही है। वे दोनो इसके अंग हो सकते है। 'तदधीते तद् वेद' मे जिस अध्ययन का उल्लेख है वह शब्दकर्मक माना गया है। इस प्रकार शब्दपाठ तथा अध्ययन पर्याय माने गये है और अर्थबोध वेदन। विज्ञान के प्रभाव ने एक सामान्य वृत्ति परम्परागत मान्यताओं की ओर से आँख मूद लेने की पैदा कर दी जो अज्ञ और अकर्मण्यो के लिये शोध के क्षेत्र मे, व्यवस्थित विचार के क्षेत्र मे सस्ता बहाना बन गया। इनका परिणाम यह हुआ कि जो शब्द सामाजिक मान्यताओं के सिक्के है उनकी भी व्यक्तिगत मान्यता की आधुनिकता के नाम पर अवहेलना प्रारम्भ कर दी गई है। काव्य के क्षेत्र में शब्दो की क्षमता देखकर कवि द्वारा अपनी कल्पना शक्ति से अनाविष्कृत अर्थों का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, परन्तु विचार के क्षेत्र में, दर्शशास्त्र एवं विज्ञान के क्षेत्र में अशक्तिमूलक छूट यदि शब्दार्थ के सम्बन्ध मे बरती गई तो एक दुःसमाधेय संकट उत्पन्न हो जायगा, विचार विनिमय असम्भव हो जायगा और आज इस सकट के बोध को 'भाषा की समस्या' शीर्षक से आलोचना के सम्पादक ने व्यक्त भी किया है। अस्तु, यह आनुषंगिक समस्या है। मै इसे यहाँ तूल देना नही चाहता। समस्या है—अध्ययन और आलोचन तथा शोध के क्षेत्र भेद की। आज अध्ययन पाठ और परम्परा तक ही नही, अर्थ वेदन तक पहुँच गया है। लेकिन इतना अवश्य है कि जब हम यह कहने भूले जाते हैं कि अमुक अध्ययन-रत है तो हमारा अभिप्राय ग्रन्थ-परिशीलन से अवश्य होता है अर्थात् अध्ययन का सम्बन्ध ग्रन्थ से, शब्द सन्दर्भ से अवश्य है। ग्रन्थ सम्पर्क के अभाव मे अध्ययन शब्द का प्रयोग सम्भव नही है। आलोचन इसके बाद की प्रक्रिया है।

अध्ययन यदि शब्दकर्मक और अर्थबोध पर्यवसायी है तो आलोचन अर्थ विषयक एक मननात्मक प्रक्रिया है। इसे ही ऊहापोह भी कहा गया है। इसकी परिधि में आज निष्कर्ष का कम, पर सर्वतोमुखी व्याख्यान का समावेश अधिक किया जाता है। आलोचन हर तरह से देखना, बुद्धिपूर्वक देखना ही है। आज आलोचन या आलोचना आलोच्य को हर प्रकार से देखना ही नही दिखाना भी है। आज का अलोचक आलोच्य वस्तु या व्यक्ति का सर्वतोमुखी दर्शन करता ही नही, कराता भी है। आलोचन अपने इस सर्वतोमुखी विश्लेषण से आगे बढकर जब स्थापना का आग्रही हो जाता है तब वह शोध या अनुसन्धान से एक होने का प्रयत्न करने लगता है। इसी दृष्टि से कभी-कभी आलोचना और अनुसन्धान पर्याय से भी हो जाते है।

कतिपय मनीषी और चिन्तक शोध और आलोचना को काल की दृष्टि से भिन्नार्थक बताना चाहते हैं। उनका कहना यह है कि शोध्य अतीत और आलोच्य वर्तमान होता है। विगत कृतियो और कृतिकारो का शोधन तथा वर्तमान कृतियो और कृतिकारो का आलोचन होता है, अत आलोचना और अनुसन्धान एक नही है। आज दिनकर पर अनुसन्धान नही, आलोचना हो सकती है। लेकिन आज तुलसीदास की आलोचना और दिनकर पर अनुसन्धान हो रहा है! यह क्या है? गलत या सही? तार्किक मनीषियों का कहना है कि चाहे आलोचना हो या अनुसन्धान, बुद्धिपूर्वक ही दोनो सम्भव हैं। दोनो में ही प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास आवश्यक है। प्रतिभा, अर्जित ज्ञान और अभ्यास जितने ही उत्कृष्ट होंगे, आलोचना और अनुसन्धान भी उतने ही उत्कृष्ट हो सकते है। अत. न तो पुराने और नये के आधार पर आलोचना और अनुसन्धान का अन्तर ही हो सकता है और न काल निरपेक्ष प्रकृतिगत अन्तर ही। यह तो ठीक जान पड़ता है कि कालभेद से आलोचना और अनुसन्धान का अन्तर नही किया जाना चाहिये। ऐसा करना प्रयोगो को देखते हुए सम्भव नही है। आलोचना सूर और तुलसी की भी हो सकती है और हुई है और अनुसन्धान मे आज भी कहा जा सकता है कि नवीन स्थापनाओ के सन्दर्भ मे अद्यतन कृतियो का उपयोग अनुसन्धान के अन्तर्गत आ सकता है, पर केवल दिनकर के काव्य का, पन्त और महादेवी के काव्यो का विभिन्न प्रतिमानो के आधार पर विश्लेषण अनुसन्धान नहीं कहा जा सकता है। ठीक है; यदि दिनकर, पन्त और महादेवी और अज्ञेय की कृतियों का आलोचन महज समझने और समझाने की सीमा तक ही है, तो वह आलोचना ही है; पर यदि किसी मौलिक स्थापना का अग है तो अनुसन्धान है। अनुसन्धान की कोख मे अध्ययन और आलोचन समा सकते हैं, किन्तु आलोचन की

कुक्षि मे अनुसन्धान नही। दूसरे आलोचन केवल बौद्धिक प्रक्रिया है, अनुसन्धान मे प्रयोगशाला के परीक्षण भी अन्तर्निहित है। बुद्धिपूर्वक किये गये शारीरिक प्रयत्न भी अनुसन्धान की परिधि मे समाविष्ट किये जा सकते है, आलोचना मे नही। आलोचन और उसके पर्यायवाची शब्द समीक्षा में व्युत्पत्तिलभ्य बौद्धिक पक्ष दर्शन है, शोध या अनुसन्धान के पर्यायवाची शब्दो मे नही; पर इसका अभिप्राय यह नही कि यहाँ बौद्धिकता अपेक्षित नही। आलोचना अनुसन्धान का अग है—यह तो माना ही जा चुका है। अन्य चिन्तकों ने आलोचना और अनुसन्धान के कालिक भेद को अनपेक्षित मानकर प्रकृतिगत अन्तर स्पष्ट किया है। आलोचना आविष्कृत एव अनाविष्कृत प्रतिमानों पर कृतियो का विश्लेषण-मूल्याकन पर्यवसायी होता है। अनुसन्धान मे मूल्याकन नही, वरन् अज्ञात का प्रकाशन, नव-व्याख्यान, स्थापना और पाठ-परिष्करण होता है। परन्तु क्या मूल्याकन स्वय स्थापना नही है—मूल्याकन नये व्याख्याओ पर सम्भव नही है? क्या नई व्याख्या अज्ञात का ज्ञात स्तर पर लाना नही है? स्थापना, अज्ञात का प्रकाशन और नव व्याख्या को इतना व्यापक मान ले तब तो अनुसन्धान का स्तर अभिमत स्तर से नीचे चला जाएगा। मैं समझता हूँ कि अनुसन्धान या शोध का लक्ष्य मौलिक स्थापना ही है। वही पुनर्व्याख्या या अज्ञात का प्रकाशन जो क्रमागत स्थापनाओ से नई स्थापना कराने का अग हो, अनुसन्धान की परिधि मे ग्राह्य है, न कि उस व्याख्या या अज्ञात प्रकाशन का जिससे क्रमागत स्थापना मे कोई अन्तर न पड़े। यदि अतीत के गर्भ से कोई ऐसी वस्तु निकल आवे जो अब तक की अपने क्षेत्र की मान्यता को बदल दे तो वह अनुसन्धान होगा। यदि कोई ऐसी व्याख्या की जाए जिससे अब तक की अपने क्षेत्र की मान्यता अग्राह्य हो जाए तो वह शोध या अनुसन्धान होगा, आलोचना उसका अग हो सकती है। पाठभेदो के परिष्कार से भी मान्यताएँ प्रभावित होती है। विज्ञान के क्षेत्र मे ऐसे उदाहरणो की कमी नही है, पर मैं साहित्य का विद्यार्थी होने के नाते उसी क्षेत्र मे उदाहरण देना चाहता हूँ। इसके पूर्व कि मैं उदाहरण से अपनी बात स्पष्ट करूँ यह कह दूँ कि यदि मूल्यांकन क्रमागत मान्यता से भिन्न, स्वस्थ और अभिनव है तो उस तक पहुँचने वाली आलोचना अनुसन्धान ही है, अन्यथा समझाने की उपयोगिता तक ही पर्यवसित होने के कारण आलोचना मात्र। यह समझना-समझाना तदवधिक प्रचलित मान्यताओ की सीमा मे ही होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना भी की है और आलोचना के माध्यम से एक अभिनव दृष्टि की स्थापना भी। उनकी स्थापना को समझे बिना उनकी आलोचना नही समझी जा सकती। उनका लोकादर्श या

उनका रसवाद उनकी स्थापनाएँ हैं और उस सीमा में विश्लेषण या उस दृष्टि का कृतियों और कृतिकारों पर संचार उनकी आलोचना। इसी प्रकार अज्ञात तथ्यों के प्रकाश में आने से जहाँ तक क्रमागत मान्यता के प्रभावित होने का प्रश्न है, अतीत मे ऐसे उदाहरण भरे पड़े है। पहले घनानन्द नाम का एक ही कवि माना जाता था, भेदक सम्बन्ध सूत्र टूट गये थे। नयी खोज और उससे उपलब्ध सामग्री द्वारा अब वे तीन अलग-अलग हो गये है। इसी प्रकार पाठभेद या तन्निरपेक्ष शब्दों या शब्द-राशियों की नयी-नयी व्याख्या से भी मान्यताएँ बदली है। भरत सूत्र के 'निष्पत्ति' और 'सयोग' शब्द ही हैं। उनकी नयी-नयी व्याख्याओं ने पूर्वागत मान्यताओं को बदल दिया है। वज्रयानी तन्त्र के 'मैथुनस्य परावृत्तौ त्रिसुख लम्पटं परम्' मे प्रयुक्त 'परावृत्तौ' की नूतन-नूतन व्याख्याओं मे व्याख्याकारों ने विभिन्न अभिमत प्रस्तुत किये है। डॉ० जगदीश गुप्त ने 'रस-सिद्धान्त' की समीक्षा करते हुए डॉ० नगेन्द्र की इतिवृत्त की कुछ मान्यताओं को 'लीना' और 'शीला' जैसे पाठभेद की चर्चा चलाकर अग्राह्य स्वीकार कर दिया है। अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं इतने से ही स्पष्ट है कि अध्ययन, आलोचना और अनुसन्धान परस्पर पर्याय नही है, उनके अर्थवृत्त की परिधि उत्तरोत्तर विस्तृत है। आलोचना और अनुसंधान का लक्ष्यभेद से अन्तर है। आलोचना का लक्ष्य समझना तथा दोष-गुण बताना है, शोध और अनुसन्धान का लक्ष्य नूतन स्थापना है। थीसिस का भी यही अर्थ है। क्रमागत मान्यता में कोई फर्क न उत्पन्न करने वाला विश्लेषण आलोचन हो सकता है—अनुसन्धान नही। अत. जो लोग मूल्यांकन के माध्यम से आलोचना और अनुसन्धान का अन्तर स्पष्ट करते हों—उन्हें मूल्यांकन का अर्थ भी स्पष्ट करना चाहिये। यदि मूल्यांकन स्थापना-भेद-पर्यवसायी हो तो अनुसन्धान अन्यथा आलोचन का बोधक तत्व हो सकता है। साथ ही आलोचन अनुसन्धान का अंग भी हो सकता है। सक्षेप मे आलोचन और अनुसन्धान के अन्तर को हम यों रख सकते है —

(१) आलोचन से अनुसन्धान का क्षेत्र विस्तृत है।

(२) आलोचन तदवधिक मान्यता की परिधि में समझना-समझाना है, जबकि अनुसन्धान मे किसी नई स्थापना का जन्म होता है।

(३) अनुसन्धान में समझाने के अतिरिक्त प्रयोगशाला मे शारीरिक श्रम भी हो सकता है।

(४) आलोचन की अपेक्षा अनुसन्धान मे तटस्थता की भावना अधिक होती है।

(५) आलोचना स्वतन्त्र सर्जना है अतः यह अनुसन्धान व तथ्यपरक वस्तु का स्वरूप बोध कराती है।

अध्ययन, आलोचना तथा अनुसन्धान का अन्तर और स्वरूप स्पष्ट करने के अनन्तर अनुसन्धान से सम्बद्ध दूसरा पक्ष आता है—अनुसन्धान और उसका वर्तमान स्वरूप जो उत्तरोत्तर चिन्ता का विषय बनता चला जा रहा है। स्पष्ट है कि शोध या अनुन्धान की प्रक्रिया युग की देन है, इसीलिये वस्तुमुखी विश्लेषण उसकी व्यावर्तक विशेषता है। नूतन स्थापनाएँ अतीत में भी होती थी पर प्रयोग मे इनकी प्रक्रिया अन्तर्मुखी और सिद्धान्त में विशुद्ध वैचारिक हुआ करती थी। ज्योतिष शास्त्र, मन्त्र एवं आयुर्वेद शास्त्र की तमाम मान्यताओं की सिद्धि के लिये प्राचीन युग मे किसी विशिष्ट प्रयोगशाला का उल्लेख नही मिलता। उनकी रासायनिक प्रयोगशाला क्या रही होगी, आज कहना कठिन है। खुदाइयो से सब कुछ का पता चलता है पर इनका पता नहीं चलता। प्रसिद्ध रासायनिक नागार्जुन ने क्या श्रीशैल पर प्रयोगशाला खोल रखी होगी? योग भाष्य के व्याख्याता वाचस्पति मिश्र ने तत्व वैशारदी में कहा है—"न चौषधिभेदानां तत्तत् संयोगविशेषाणाञ्च मन्त्राणाञ्च तत्तदवर्णविापोद्धारिणा सहस्रे णापिपुरुषायुर्लौकिकवैप्रमाणव्यवहारो शक्तः कर्तुमन्वयव्यतिरेकौ।" अर्थात् भिन्न-भिन्न औषधियो तथा उनके पारस्परिक सयोग विशेष में उत्पन्न प्रभावों का परीक्षण तथा भिन्न-भिन्न वर्णों के जाप एव उच्चार द्वारा उद्भूत मान्त्रिक शक्ति का निर्धारण हजारो पुरुषो से कभी सम्भव नही है। म० म० कविराज जी ने कायासिद्धि की शतसहास्रधिक विधियो का सकेत 'कायासिद्धि' नामक लेख में किया है। इन सब अनुसन्धानो की अध्यात्माश्रित अन्तर्मुख प्रयोगगत प्रक्रिया थी और सिद्धान्त के क्षेत्र में विशुद्ध बौद्धिक—यद्यपि उसकी दिशा का भी निर्धारण आध्यात्मिक अनुभूतियो के ही परिप्रेक्ष्य मे हुआ करता था। निष्कर्ष यह कि वर्तमान अनुसन्धान की प्रक्रिया बहिर्मुखी एव वस्तुमुखी है। आलोचना मे भी तटस्थता और वस्तुमुखीनता अपेक्षित होती है, पर अनुसन्धान मे उससे कही अधिक। आलोचना वैयक्तिक भी हो सकती है अनुसन्धानलभ्य स्थापनाएँ अत्यधिक वस्तुमुखी होने के कारण अधिक जन मान्य। आलोचना व्यक्तिवादी बन गयी है, अनुसन्धान नही। यही उसका अधिक वस्तुमुखी होने का प्रमाण है।

पश्चिम से विज्ञान के प्रभाव मे समागत अनुन्धान की प्रक्रिया आज न केवल विशुद्ध जिज्ञासा की दृष्टि से ही परिचालित हो रही है वरन् जीविका और व्यवसाय के लिये उपाधि प्राप्ति के उद्देश्य से भी की जा रही है।

व्यावसायिक वृत्ति का अंग आज अनुसन्धान ज्यादा बनता जा रहा है, फलतः उसका स्तर गिरता जा रहा है। व्यावसायिक वृत्ति प्रत्येक क्षेत्र की पवित्रता नष्ट कर देती है। विश्वविद्यालयों में उपाधि के निमित्त लिखे गये शोध प्रबन्धों में आती हुई यथोत्तर गिरावट इसी व्यावसायिक वृत्ति के कारण है। उपाधि-निरपेक्ष शोधकार्य जो मनीषियों द्वारा भ्रान्ति के अन्धकार को दूर करने के लिये लिखे जा रहे हैं, वे उनके विपक्ष में लिये जा सकते हैं। इस गिरावट का कारण बहुत से लोग विषयों की पुनरावृत्ति को बताते हैं। बढ़ती हुई विश्वविद्यालयों और अनुसन्धायकों की संख्या पुनरावृत्ति लायेगी ही। इसके निराकरण के सम्भाव्य रास्ते हैं, तथापि मैं यह मानने को प्रस्तुत नहीं हूँ कि पुनरावृत्ति ही इस गिरावट का कारण है। काव्य के क्षेत्र में विषयों की एकता के बावजूद गिरावट क्यों नहीं आती ? कारण है—प्रातिभ क्षमता एवं निष्ठा। आनन्द वर्द्धन ने कहा है कि यदि व्यक्ति में प्रातिभ क्षमता एवं निष्ठा है तो विषयों की पुनरावृत्ति नवीनता में बाधक नहीं हो सकती। एक ही विषय पर नयी-नयी बातें, यदि प्रातिभ क्षमता और निष्ठा है तो लिखी जा सकती हैं, यद्यपि विषय की पुनरावृत्ति से बचने के लिये अखिल भारतीय और वैश्विक हिन्दी परिषदों की स्थापना से योजनापूर्वक प्रयत्न किये जा सकते हैं। वाङ्‌मय की अन्य शाखाओं में ऐसे प्रयत्न चल रहे हैं। स्तर की गिरावट का कारण केवल यह व्यावसायिक वृत्ति ही नहीं है—अन्यथा कोई भी अब तक का शोध प्रबन्ध अच्छा न होता। विषयों की आवृत्ति के साथ निर्देशक की अक्षमता, सामग्री का अभाव, प्रक्रिया का अपरिचय, आर्थिक एवं अन्यविध घिरती हुई समस्याओं का जाल, शोधकों का अनिश्चित भविष्य, देश और विश्वविद्यालयों की चहारदीवारी के भीतर की भयावह राजनीति आदि अनेक कारण हैं। प्रायः विश्वविद्यालयों की चहारदीवारी के बाहर रहकर कार्य करने वाले हर समीक्षा लेखन और अनुसन्धान को अध्यापकीय कहकर उपहास करते हैं। उपहास करना तो मानव मात्र की एक वृत्ति है। पर उसके कारणों के परिप्रेक्ष्य में उसकी विवशता को समझना और उसके निराकरण में प्रयत्न कहीं अधिक मानवीयता के द्योतक हैं। दैनन्दिन के सहस्रमुखी समस्याओं से, राजनीतिक कुचक्रों से जब तक सारस्वत मन्दिरों को मुक्त न किया जायगा तब तक शोध और अनुसंधान का स्तर उठ नहीं सकता। केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन अनुसंधान और देश की बौद्धिक अभ्युन्नति के लिये पैसा बहा रहा है—बहाने को तैयार है, पर वे कौन से प्रतिरोधी तत्त्व हैं जो इतना पैसा बहाने के बावजूद अभीष्ट की पूर्ति नहीं होने देते ? इसका मूल कारण नैतिकता की

गिरावट है जो शार्टकट बनाने वाली आज की गन्दी राजनीति का सड़ा प्रसव है। निष्कर्ष यह कि इस गिरावट को हटाने का रास्ता निष्ठापूर्वक अपनी प्रातिभ क्षमता का विनियोग है। प्रातिभ क्षमता के विनियोग के लिये निश्चिन्तता अपेक्षित है और निश्चिन्तता के लिये आज की स्वार्थान्ध राजनीति का सारस्वत मन्दिरों से निष्कासन। पर यह राजनीति आज की वैश्विक व्यवस्था का अंग है, अतः अन्ततः उसकी जगह स्वस्थ व्यवस्था लाने के लिये स्वस्थ वैचारिक क्रान्ति का सशक्त आवाहन आवश्यक है।

अनुसन्धान का स्वरूप, उसकी सांप्रतिक वस्तुमुखी पद्धति, जिज्ञासापूर्ति एवं उपाधि-प्राप्ति-मूलक द्विविध प्रयास, व्यावसायिकवृत्ति तथा स्वार्थान्ध राजनीति के विद्यालयों में प्रवेशवश उसकी दुःसमाधेय गिरावट के निरसन का आत्यन्तिक उपाय—इन विविध पक्षों पर विचार करने के पश्चात् सवाल यह खड़ा होता कि साम्प्रतिक स्थितियों में यथासम्भव शोध-स्तर के समुन्नयन के लिये क्या किया जा सकता है ?

भारत की सीमा में अखिल भारतीय हिन्दी परिषद् को 'हिन्दी अनुशीलन' के माध्यम से प्रत्येक विश्वविद्यालय में हो रहे तथा हो चुके शोधकार्यों की संक्षिप्तियाँ तथा शीर्षक प्रकाशित करते रहना चाहिये जिससे यथासम्भव पुनरावृत्ति से हम बच सकें। प्रत्येक विश्वविद्यालय में भाषा और साहित्य के क्षेत्र में निर्दिष्ट और सुनियोजित विषय हों, शोधकार्य करने वाले उन्हीं में से विषय चयन करें। स्थानीय भाषा तथा प्रादेशिक साहित्य (लोक साहित्य) की दृष्टि से किये जाने वाले अनुसन्धान कार्य तो उस क्षेत्रीय विश्वविद्यालय में सम्बद्ध किये ही जाएँ। इसी प्रकार जिस विश्वविद्यालय का जो क्षेत्र निर्धारित हो वहाँ का पुस्तकालय उस विषय में सर्वापेक्षया अपने को समृद्ध करने का प्रयत्न करे। सर्वोपरि अखिल भारतीय शोधोपाधि समिति हो जिसमें शोध-प्रबन्ध परीक्षणार्थ प्रस्तुत किये जायँ जहाँ से त्रुटियाँ गोपनीय रूप से निर्देशक के पास भेज दी जायँ। इस प्रकार जब वह प्रबन्ध तैयार हो जाय तब व्यावसायिक दृष्टि से भी परीक्षकों के पास जाने में कोई विशेष क्षति न हो सकेगी। मौखिकी एक विशेष प्रकार के आयोजन के रूप में खुली पद्धति से ली जाय। शोधकर्ता अपने क्षेत्र में सर्वाधिक विज्ञ होता है—अतः कोई भी उससे प्रश्न पूछ सकता है और उसे प्रष्टा को सन्तुष्ट करना ही चाहिये। इन प्रक्रियाओं के साथ साम्प्रतिक स्थितियों के बावजूद शोध का स्तर ऊपर उठ सकता है।

● ●

पन्द्रह | नवलेखन : स्वरूप और सम्भावनाएँ

नवलेखन नये लोगों का लेखन है। नये लोग वे हैं जिनमें 'नयी चेतना' है। 'नयी चेतना' उस विज्ञान के प्रभाव में अंकुरित हुई है जो धर्माध्यात्म से आक्रान्त समूची परम्परा, उपलब्धियों एवं मूल्यों को नकार कर नये सिरे से नयी जमीन तोड़ रहा है। उसी की प्रकृति इसमें भी उतर आयी है। 'विज्ञान' की भाँति 'नयी चेतना' भी वस्तुमुखी प्रगति (एप्रोच) में विश्वास रखती है। सही की तलाश पुरानी चेतना को भी अभीष्ट थी और नयी चेतना का भी गन्तव्य है, पर मार्ग दोनों के परस्पर भिन्न और अपने हैं। पुरानी चेतना का मार्ग 'भीतर' से 'बाहर' की ओर था और 'नयी चेतना' का 'बाहर' से 'भीतर' की ओर है।

पुरानी चेतना धर्माध्यात्म से आक्रान्त थी। वैसे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धर्माध्यात्म ने भी 'सत्य' का साक्षात्कार किया था, पर उसका मार्ग 'भीतर' की ओर से आरम्भ होता था। वह मानता था कि वह स्वयं उलटा है, अतः सब कुछ उलटा दीख रहा है। सही देखने के लिये फिर से उलटना पड़ेगा—श्रद्धा, विश्वास और भावना का सबल ग्रहण करना पड़ेगा। विज्ञान ने भी 'सत्य' के साक्षात्कार की प्रतिज्ञा की है, पर उसका मार्ग बाहर से प्रारम्भ होता है। वह इन्द्रियों और यन्त्रों के सहारे निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोग करता है। वह सन्देह, तर्क और बुद्धि का पाथेय ग्रहण करता है। पुरानी चेतना बिना भीतर से होकर बाहर आये 'बाहर' को अपने यथातथ्य रूप में नगण्य और तुच्छ समझती थी। कारण, उसकी धारणा भी भीतर से होकर बाहर आने के पूर्व या तो 'दृष्टि' का संकोच दृश्य को सही रूप में ग्रहण न होने देता था अथवा 'दृश्य' स्वयं में स्वप्न और 'शून्य' था।

पुरानी चेतना की विवेकवादी धारा दृश्य को तथा आनन्दवादी चेतना 'दृष्टि' को गलत समझती थी और फिर 'सही' क्या है—इस पर सोचती थी।

तत्पश्चात् समझ के अनुसार प्रयत्न करती थी। विवेकवादी धारा के चिन्तक 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रम' कह कर 'दृश्य' को और आनन्दवादी धारा के विचारक 'दुख देगी यह सकुचित दृष्टि' द्वारा दृष्टि को ग़लत कहते थे। इस प्रकार ये लोग भीतरी साधना से जनित 'अनुभूति' को 'सत्य' मानते थे। 'बुद्धि' समर्थन का साधना मात्र थी, उसकी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा नही थी—भावना उससे कही अधिक बडी वस्तु थी, क्योंकि वह भीतरी थी। इस प्रकार पुरानी चेतना ने जो कुछ वर्तमान, यथार्थ, बाहर और सामने था उसे उसी रूप मे हेय निरूपित कर दिया था—उपेक्षणीय ठहरा दिया था (चाहे भीतर से लौटने पर वह पुन ग्राह्य हो सके—वह भी केवल आनन्दवादियो के यहाँ, विवेकवादियो के यहाँ नही)। वह सुख और शान्ति भीतर से होकर बाहर आने मे पाती थी।

'नयी चेतना' का भी लक्ष्य 'सत्य' की उपलब्धि है, पर उसका मार्ग विज्ञान के प्रभाव मे वस्तुपरक है—'बाहर' से है। हो सकता है, 'भीतर' से भीतर की ओर जाते हुये जैसे बाहर 'सही' हो गया, उसी प्रकार से 'बाहर' से बाहर जाते हुये सही 'भीतर' भी आ जाए। डॉ० भगवतशरण उपाध्याय का यह कहना भी इस सन्दर्भ मे कितना सही लगता है कि पूरब से पूरब पश्चिम है पश्चिम से पश्चिम पूरब। ठीक उसी प्रकार मैं भी कह सकता हूँ कि भीतर के भीतर बाहर है और बाहर के बाहर भीतर। कुल मिलाकर ये शब्द के झमेले है। न 'बाहर' है न 'भीतर', 'बाहर' भी है और 'भीतर' भी, दोनो है भी, नही भी। 'सत्य' चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त है। धर्माध्यात्म से आक्रान्त 'पुरानी चेतना' जहाँ 'भीतर' से पहुँची थी, विज्ञान से आक्रान्त 'नयी चेतना' वही बाहर से पहुँचेगी। सृष्टि ही गोल नही है, सर्जना भी गोल है। परम सत्य का प्रतीक (वृत्त)इसीलिए गोल है। वह 'भीतर' और 'बाहर' द्वारा अपने को ही खोलता रहता है—'ध्वस' और 'निर्माण' मे अपने को ही व्यक्त करता रहता है। वस्तुतः ध्वस और निर्माण एक ही सर्जनात्मक सिक्के के दो पहलू हैं—तभी तो दोनो अपने-अपने अस्तित्व मे एक दूसरे की अपेक्षा करते है।

हाँ, तो 'नयी चेतना'—जो नवलेखन की अन्तरात्मा है—को समझाते हुए 'पुरानी चेतना' की बात कही गई और पुरानी चेतना का सन्दर्भ अधिक दार्शनिक हो गया। पर 'पुरानी' और 'नयी' 'परम्परा' और 'प्रयोग'—दोनो को एकरस करके चलने वाले की चेतना और काव्य-चेतना को क्या कहा जाए? केवल चेतना और काव्य-चेतना। 'अज्ञेय' ने 'आँगन के पार द्वार' मे उपर्युक्त अर्द्ध वृत्तों को कैसी गोलाई दी है :

"आँगन के पार द्वार खुले
द्वार के पार आँगन
भवन के ओर छोर
सभी मिले . . . .
उन्हीं मे कहीं खो गया भवन ।
कौन द्वारी
कौन आगारी न जाने
पर द्वार के प्रतिहारी को
भीतर के देवता ने
किया बार-बार पालागन ।"

आँगन के पार द्वार और द्वार के पार आँगन, इनका ओर-छोर मिलकर वृत्त—भवन—बनाता है । इस आकार मे भवन उभरता भी है और खो भी जाता है । यहाँ 'द्वारी' 'आगारी' है भी, पर विचार करने पर, सत्य की उपलब्धि हो जाने पर उन्हे अलग-अलग करके जानना कठिन हो जाता है । भीतर के देवता 'सत्य' ने अपने प्राकट्य या बोध के लिये जो 'द्वार' सिरजा है, उस पर प्रतिष्ठित प्रतिहारी उससे निर्मित होकर भी उसमे देवतात्व का प्रतिष्ठापक होने से देवता का भी प्रणम्य बन गया है । ऐसी रचनाओं के मूल मे निहित चेतना सबल काव्य चेतना है—नयी और पुरानी से भिन्न ।

'नवलेखन' मे निहित 'नयी चेतना' एक सापेक्ष चेतना है—एक अर्द्धवृत्त है जो अपनी सर्जनात्मकता मे 'सही' की तलाश अत्यन्त आकुल भाव से कर रही है । अतः उसके इस मूल रूप से अनवगत डॉ० देवराज का यह कहना कि 'नवलेखन' मात्र लेखन है, सर्जन नहीं—मुझे स्वीकार्य नहीं । वास्तव में डॉ० देवराज केवल 'लेखन' देखते है—दोष-दृष्टि के उदग्र हो जाने मे उसका विशेषणांश 'नव' ओझल हो गया है । यदि यह 'नव' लक्षित हो पाता, तो निश्चय ही उसके मूल—सर्जनात्मकता—का आभास मिल गया होता । 'रचनात्मक अनुभूति' काव्य की अन्तरात्मा है और जहाँ रचनात्मक अनुभूति सक्रिय होगी वहाँ 'नवता' का समुच्छलन सहज है । इसीलिए 'नवता' काव्य की स्वरूपगत विशेषता मानी गयी है । यो सर्जनात्मकता या रचनात्मकता सृष्टि मात्र का मूल है और काव्य भी एक सृष्टि है । सृष्टि मात्र के मूल में रहने वाली रचनात्मकता से काव्य की मूलवर्तिनी रचनात्मकता की विशेषता इस माने मे होनी है कि वह सही शब्द के साथ रहती है । काव्य की अन्तरात्मा रचनात्मक

अनुभूति का स्वरूप '**सही शब्दों में होने वाली काव्योचित अनुभूति**' है। पण्डित-राज ने भी ठीक कहा था—"काव्यानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः प्रतिभा"। स्फुरणा केवल अर्थ-छवियाँ नही है वरन् अनुरूप शब्दानुगत अर्थ-छवियाँ है। अभिप्राय यह कि सैद्धान्तिक धरातल पर नयी चेतना का नवलेखन निश्चय ही सर्जना है। इसी धरातल से विचार करते हुये डॉ० जगदीश गुप्त की भी 'नवलेखन' के स्वरूप के विषय मे धारणा है कि वह वर्जनाओ की प्रतिक्रिया मात्र न होकर अनुभूति की यथार्थता एव समग्रता का परिचायक है। वैचारिकता से समर्थित तथा अनुभव मे प्रमाणित, व्यक्तित्व-सम्पृक्त यथार्थ-ग्रहण उसकी प्रकृति के अनुकूल रहा है जिसके लिए वह मानव-चेतना के अगणित अलक्षित आयामो की खोज मे प्रवृत्त हुआ है। आधुनिकता के नाम पर सास्कृतिक पराभव की द्योतक, परमुखापेक्षी आत्मनिषेधात्मक—यहाँ तक कि आत्मघाती प्रवृत्ति—नवलेखन की केन्द्रीय वृत्ति नही है, क्योकि एक तो उसमे मूल्य दृष्टि का अभाव है, दूसरे उसमे विवशता मात्र की चीत्कार है और तीसरे क्रान्ति और विद्रोह की मूलभूत निष्ठा ही बिखर जाती है।

प्रायोगिक धरातल पर निश्चय ही अनास्था, आक्रोश, कुण्ठा, त्रास, दुःख, आत्महत्या, विवशता की छटपटाहट, घुटन, अस्वीकृति, अनिश्चय, अश्लीलता, भटकाव और उलझन की मनोवृत्तियाँ नये लेखन मे अवश्य मिलती है—पर ये सर्जनात्मकता के सन्दर्भ मे भी आ सकती है और फैशन के नाम पर भी। सचमुच इन स्थितियो को भुगतने वालो की सख्या कम नही है। आज का तीन-चौथाई जनमानस इन स्थितियो से गुजर रहा है। अतः उसका चीत्कार अधिक सुनाई पडे, तो कोई अस्वाभाविक नही है। जो 'यथार्थ' है हम उससे कतरा भी नही सकते, कतराना चाहिये भी नही। आज हमारे समक्ष दो रास्ते हैं—या तो हम इसी गन्दी और गलीज व्यवस्था के कीड़े बनकर उसी मे बिलबिलाये और मरे अथवा उससे उबरने के लिए मिट्टी मे गड़कर भी सघर्ष करे। नये लेखन की ये अराजक चीत्कारें किसी की दृष्टि मे ऊष्मा और तिक्तता से सवलित है और किसी की दृष्टि मे सुषुप्ति और नपुसकता के प्रतिरूप है। दोनो ही बातें अपने सन्दर्भ मे सम्भव है। यदि नया लेखक निर्माण के सन्दर्भ मे उन्हे लाता है तो यह टूटन भी, ध्वस भी उसके अंग है—फलतः ग्राह्य है और आत्महत्या की ओर ले जाने वाले है तो आत्मविस्मृति और नपुसकता के स्रोत हैं—फलतः निन्द्य है।

यदि उपर्युक्त दोनो ही स्थितियाँ न होती, तो क्या डॉ० देवराज को वहाँ कोई 'शुकदेव' दिखाई न देता? नवलेखन के नाम पर आयी हुई कतिपय

रचनाओं को देखकर स्वयं उन्हीं में से एक (वंशी माहेश्वरी) कह उठता है कि क्या वास्तव में आज रचनाकार अपने क्षेत्र में सही भूमिका निभा रहा है ? उसे रोष है और वह उन रचनाकारों के मुखौटों को नोचना चाहता है, खरोंचना चाहता है जो लचर, आयातित अनुभूतियों और शब्दों के फार्मूलों से लोगों को चौंका रहे हैं। वास्तव में ऐसे लोग 'कविता' में अधिक अपने को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। साथ ही उनके अनुसार समूचा नवलेखन ऐसा ही नहीं है। दूसरी ओर ऐसे भी रचनाकार हैं, और उभर रहे हैं जो ईमानदारी के साथ अपना दृष्टिकोण लेकर सामाजिक विसंगतियों, विषमताओं, विवशताओं और इस आततायी जबड़ेवाली व्यवस्था की भयानक यन्त्रणा भोग रहे हैं और निभा रहे हैं छटपटाते हुए साहित्य के लिए सर्जनात्मक तथा प्रभावशाली भूमिका।

सत्ताधारी अवसरवादियों और 'दृष्टि'-हीन सुविधा-सम्पन्न लोगों की बात छोड़ें, पर जो वस्तुतः ध्वंसशील, ध्वंसोन्मुखी, विघटनकारी तथा अराजक वृत्तियों के शव पर परिवर्तन के माध्यम से लोक-हित के दायित्व-बोध से सम्पन्न होकर निर्माण की प्रतिमा प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, उन्हें निश्चय ही सर्जनात्मक शक्ति के प्रति आस्था है। वे निराला और मुक्तिबोध की भाँति जमीन में गड़कर भी, यथास्थितिवादी अथवा प्रतिक्रियावादी के खूनी पंजों में फँसकर भी, खून का स्वाद लेने वाली परिस्थितियों में जकड़कर भी उन्हें तोड़ते रहेंगे और आगे बढ़ते रहेंगे। वास्तव में नयी चेतना तभी अपने प्रतिज्ञात की पूर्ति कर सकती है जब वह समष्टि-हित के सन्दर्भ में दायित्व-बोध का जीवन जिये और साथ ही मानवता की विजय के प्रति आस्थावान रहे।

● ●

सोलह | नव्यशास्त्रीय समीक्षा के शिखर : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल एक दृष्टि-सम्पन्न समीक्षक है और उनकी दृष्टि को लोकमंगल-वादी कहा गया है। मंगल या लोकमगल से शुक्ल जी का मतव्य यह है कि ससार सत् और असत् का मिश्रण है। असत् की वृद्धि ससार या समाज की अधोगति या अव्यवस्था है और सत् की वृद्धि उसकी ऊर्ध्वगति और सुव्यवस्था। असत् की वृद्धि से या बढ़ती हुई अव्यवस्था से लोक या समाज का सरक्षण ही उसका मगल-विधान है। लोक या समाज के विधायक या सरक्षणकारी तत्वो की समष्टि ही 'धर्म' है। जब-जब असत् पक्ष की वृद्धि से अव्यवस्था उत्पन्न होती है, तब-तब 'धर्मसंस्थापनार्थाय' किसी विशिष्ट मननीय शक्ति का उदय होता है—जिसे हम 'अवतार' संज्ञा देते हैं। शुक्ल जी लोक या समाज के संरक्षण के लिये क्षात्र-सत्व की प्रतिष्ठा आवश्यक समझते है। भारतीय परम्परा मे लोक-धारक धर्मतत्व की जब-जब ग्लानि हुई है, तब-तब क्षत्रिय के रूप में ही मानवीय शक्ति का अवतारी रूप प्रकट हुआ है। इसीलिये वे मानते है कि अवतार समाज को धारण करने वाली पूर्ण शक्ति का व्यक्त और विकसित रूप है।

सत् की रक्षा के लिये या समाज के सरक्षण और विधारण के लिये असत् से संघर्ष की अपेक्षा है और यह सघर्ष किसी व्यक्ति या सघ द्वारा ही छेड़ा जा सकता है। यह व्यक्ति ऐसा हो, जिसकी वृत्तियाँ परिष्कृत हो। वृत्तियों के परिष्कार का अर्थ है—उन्हें व्यक्तिगत राग और द्वेष से ऊपर उठाकर लोकसामान्य की भावभूमिका पर सर्वदा स्थिर रहने के अनुकूल बनाना अर्थात् लोकमगल या लोक लक्ष्य के अनुरूप बनाना, सकीर्णता को हटाना और सद्भावो को बढ़ाना। उस लोक विधारक धर्मसम्पन्न व्यक्ति की वृत्तियाँ जहाँ एक ओर परिष्कृत हों, वही, दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि वे ऊर्जस्वल भी हों जिससे लोक-व्यवस्था लाई जा सके और उसे स्थिर रखा जा सके। निष्कर्ष यह है कि इस धर्मसस्थापक व्यक्ति मे 'शक्ति' और 'शील'—दोनो की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। इस प्रकार शुक्ल जी जिस क्षात्रसंघ को

सामाजिक व्यवस्था के लिए अपेक्षित मानते है, उसमे 'शक्ति' और 'शील' की अनिवार्य स्थिति स्वीकार करते हैं। 'शील' हृदय की वह स्थायी वृत्ति है जिस से सदाचार या लोक-मंगल विधायक कर्त्तव्यो की प्रेरणा आपसे आप हुआ करती है। गीता में ऐसे ही 'शील'-सम्पन्न लोगो की विशेषता का निर्देश करते हुए कहा गया है कि शीलवान् वह है जिससे न लोक उद्विग्न हो और जो न स्वय लोक से उद्विग्न हो। शील-नियन्त्रित शक्ति ही लोक मगल की विधायिका है। 'शील' एवं 'शक्ति'-सम्पन्न 'सुन्दर' व्यक्ति या संघ द्वारा सम्पाद्य लोक-विधारक-धर्म का स्वरूप निर्देश करते हुए शुक्ल जी ने अनेकत्र अनेकधा निर्वचन प्रस्तुत किये है। उन्होने कहा है कि प्रोत्साहन और प्रतिबध के द्वारा मन, वचन और कर्म को व्यवस्थित रखने वाला तत्व ही धर्म है। धर्म ब्रह्म की व्यक्त प्रवृत्ति है। उन्होने इस धर्म को अपने ढग से दो प्रकार का बताया है—सामान्य और विशेष। समस्त विश्व की व्यवस्था का विधारक तत्व यदि सामान्य धर्म है, तो विभिन्न देश और समाज के विधारक विशेष-धर्म। शुक्ल जी ने इस 'धर्म' पर आधारित अपनी लोकमागलिक दृष्टि का वैशिष्ट्य निरूपित करते हुए कहा है कि उनका 'धर्म' ईसाई, जैन और बौद्धो का वैराग्य-प्रधान धर्म नही है जिसमे केवल अहिंसा और प्रेम जैसी कोमल वृत्तियो को ही एकागी महत्व दिया गया है। इसीलिये टालस्टाय की लोकमागलिक दृष्टि को एकांगी ब्राह्मण धर्म बताते हुए शुक्ल जी ने 'असत्' के सघर्ष मे अक्षम बताया है। वे लोक मगल के लिए उस रूसी साम्यवादी आदर्श को भी अमान्य घोषित करते है जिसमें अल्पशक्ति वालों की अहवृत्ति को परितुष्ट करने का विशेष प्रयत्न है। उनकी दृष्टि मे दुर्वृत्तियो (क्रान्ति) के सहारे बढ़ने वाली यह साम्य व्यवस्था लोकमगलकारी नही है। वे मानते है कि वहाँ या साम्यवादी व्यवस्था मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य का हनन होता है—वहाँ अपने श्रम का फल अपने को नही है। शुक्ल जी उसी प्रतिबन्ध को लोक मगल की दृष्टि से उपयोगी मानते है जो दूसरो को उद्विग्न न करे। इस प्रकार शुक्ल जी अपने इस विवेचन मे एक तरफ जहाँ अपनी लोक-मगलवादी दृष्टि का भारतीय परम्परा मे सर्वथा नूतन अर्थ भर कर अपना वैशिष्ट्य निरूपित करते है, वही दूसरी तरफ़ लोक-मगल के अन्य विधायकों—टालस्टाय, गाँधी, साम्यवादी एव पूँजीवादी विचार-धाराओ—से भी अपना पार्थक्य कर लेते है।

शुक्ल जी की लोकमागलिक भूमि की चरम परिणति वह है जहाँ व्यक्ति-सत्ता का लोक-सत्ता मे पूर्णतः विलयन हो। मानवता की चरम परिणति यही है—यही मनुष्य का काम्य है—यही उसकी मुक्तिदशा है जो आनन्दमयी है।

शुक्ल जी की दृष्टि से समस्त 'धर्म' एवं 'काव्य' की साधना इसी परिणति (व्यक्ति सत्ता की लोकसत्ता मे परिणति) के लिये है। वे मानते है कि धर्म साधना की दृष्टि से जो 'शिव' या 'मगल' है, काव्य-साधना की दृष्टि से वही 'सुन्दर' और दार्शनिक दृष्टि मे उसी को 'सत्य' भी कहा गया है। शुक्ल जी मानते है कि सामान्य और विशेष उभयविध धर्म मे अनुरूप दया, दाक्षिण्य, औदार्य और मृदु तथा ऊर्जस्वल भावों का काष्ठापन्न रूप ही ईश्वरत्व है। उनके अनुसार मनुष्य ने अपनी इस मानवीय-यात्रा के प्रयत्न के सदर्भ मे अव्यक्त ब्रह्म और उसके सगुण रूप की कल्पना की है। असत् की हानि द्वारा सत् की स्थापना करने के लिए अपेक्षित धर्म का आश्रय ही अवतार है।

ऊपर कहा गया है कि शुक्ल जी के अनुसार धर्म साधना और काव्य साधना दोनों का ही लक्ष्य 'व्यक्ति सत्ता का लोक सत्ता में विलयन' है। इनके अनुसार अव्यक्त ब्रह्म का व्यक्त रूप जिस प्रकार राम आदि अवतार है उसी प्रकार 'जगत' भी है—इसीलिए 'सियाराममय सब जग जानी' उनकी दृष्टि मे मगत है। धर्म साधना मे तत्पर भक्त की भक्ति का अर्थ शक्ति, शील एव सौन्दर्य-मय समाज विधारक अवतार मे स्थित लोकमांगलिक गुणो का पुनः पुनः भावन और उस पर विह्वल होना है—धर्म की रसात्मक अनुभूति करना है। इस भक्ति का लक्ष्य अपनी व्यक्तिगत सत्ता का सियाराममय ब्रह्म के सगुण रूप लोक की सत्ता का विलयन ही है। यहाँ व्यक्ति की सकीर्ण भावनाओ से छूटकर मुक्ति पाना है।

काव्य को भी शुक्ल जी वाणी का ऐसा विधान मानते है जो पाठक को उसकी व्यक्तिगत सकीर्ण भावभूमि से ऊपर उठाकर लोक सामान्य की भूमिका पर उठा ले जाय। अध्यात्म या धर्म के क्षेत्र मे जो स्थान ज्ञानयोग या भक्तियोग का है, काव्य मे वही स्थान 'भावयोग' का है। ज्ञानयोग आत्मा को मुक्त करता है और भावयोग 'मन' को। काव्यानुभूति या रसानुभूति और कुछ नही, बल्कि व्यक्ति सत्ता का लोक सत्ता मे विलयन है। व्यक्ति सत्ता मे लोकसत्ता के विलयन से व्यक्ति मे लोकविरोधी तत्वों का विलयन होता है—लोक मगल की वृत्ति परिष्कृत होती है। विलयन की यह प्रक्रिया जितना प्रबन्ध काव्य द्वारा या अभिनय द्वारा सम्पन्न होती है, उतना अन्य काव्यरूपो से नही। इसीलिये प्रबन्ध काव्य को शुक्लजी अधिक महत्व देते है। सक्षेप मे यही शुक्ल जी की लोकमागलिक दृष्टि है।

इसी लोक मगलवादी दृष्टि से शुक्ल जी अपनी सैद्धांतिक और प्रयोगिक समीक्षाआओं मे परिचालित हुए है। आलोचनाओ मे ही नही, वरन्

अपने निबन्धो मे भी वे इसी दृष्टि को मुख्य विषय के स्पष्टीकरण के संदर्भ मे व्यक्त करते है।

शुक्ल जी की काव्योचित स्थापनाओ मे सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष 'रस' का पुनराख्यान है जो अशत मनोविज्ञान पर और अशत उनकी उपर्युक्त लोक-मांगलिक दृष्टि पर आधारित है। (रस विवेचन के सदर्भ मे उनकी प्राय समस्त स्थापनाएँ किसी न किसी प्रकार आ जाती है।) मनोविज्ञान पर आधारित होने के कारण जहाँ वे एक ओर व्यक्तिगत मनोविकारो या मनोवेगो के रूप में स्थायी भाव के विश्लेषण से रस विवेचन का आरभ करते है वही दूसरी ओर अपने लोकमगलवादी दर्शन के अनुरूप उसकी चरम परिणति व्यक्तिसत्ता का लोकसत्ता मे विलयन—फलत. सत्कर्म प्रवृत्ति मानते है। भरत ने भाव शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुये जो दो विकल्प-"भवन्तीतिभावा, उद्भावयन्तीति-भावा." प्रस्तुत किये थे, उनमे से पहला अद्यतन मनोवैज्ञानिक स्वीकार करते है और दूसरा प्राचीन भारतीय आचार्य। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'भाव' का विश्लेषण करते हुये उन्होंने स्वीकार किया है कि प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनो के गूढ़ सश्लेष का नाम भाव है। शुक्ल जी ने व्यावहारिक दृष्टि से स्थायीभाव या भाव को दो कोटियो मे वर्गीकृत किया है—सुखात्मक कोटि तथा दुःखात्मक कोटि। इन दोनो कोटियो मे आने वाले आठ स्थायी भावो की चर्चा उन्होने की है। निर्वेद को वे अभावात्मक मानते है। तुलसीदास के विवेचन के प्रसग मे शात का भी उल्लेख किया है। भक्ति के स्वरूप की उनकी अपनी लोकादर्शमूलक व्याख्या है। वे मानते है कि ब्रह्म के सत्यस्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति धर्म है और धर्म की रसात्मक अनुभूति भक्ति है। उन्होंने जगत् के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार मे ही भक्ति का प्रकृत लक्षण माना है। इस प्रकार भक्ति द्वारा भी अतत उपासक का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व को सियाराममय चराचर जगत् में विलीन कर देना ही है। निष्कर्ष यह कि वे काव्य-साधना और धार्मिक-साधना का—जैसा कि ऊपर कहा गया है—एक ही लक्ष्य मानते है। भेद केवल प्रस्थान का है। अस्तु, स्थायीभाव के अतिरिक्त उन्होंने सचारियो की भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या प्रस्तुत की है। चकपकाहट जैसे नवीन संचारी की ओर भी इगित किया है।

भावों के निरूपण की भाँति रस के व्याख्यान मे भी शास्त्रीय निरूपण से इनकी कतिपय उल्लेखनीय विशेषताएँ है। रस के अवयवो मे सचारी का उल्लेख तो ऊपर किया जा चुका है—शेष रहे विभाव और अनुभाव। इन दोनो

में विभाव-चित्रण पर शुक्ल जी ने जमकर विचार किया है। विभाव का निरूपण करते हुये उन्होंने कई नई मौलिक बातें कही है। काव्य की विधायिका कल्पना, जो जीवन और जगत् की अनुभूति की पृष्ठभूमि पर सक्रिय हो, का सर्वाधिक उपयोग वे विभाव चित्रण मे ही मानते है। विभाव का चित्रण तभी सफल है जब वह सहृदय मात्र के हृदय में समान अनुभूति जगा सके। विभाग का निरूपण करते हुए ही (क) प्रकृति की आलम्बनात्मकता (ख) प्रबंध काव्य का सर्वाधिक महत्व (ग) विभाव की लोक व्यवहार तक व्याप्ति (घ) तथा संकेतित अर्थो के सदर्भ मे 'बिम्बार्थ' की स्थापना की बात की है। शुक्ल जी के अनुसार विभाव की स्थिति काव्य और नाट्य की परिधि में ही नहीं है वरन् लोक व्यवहार मे भी सभव है—शर्त यह है कि उसमे लोक सामान्य धर्मो की स्थिति हो। विभाव की अनेकरूपता के ही सदर्भ मे उन्होंने कहा है कि जिन रूपों के विधान मे सहृदय मात्र समान भाव मे निमग्न हो जाते हैं, वे है—(१) प्रत्यक्ष रूप विधान (२) कल्पित रूप विधान (३) स्मृत रूप विधान (४) स्मृत्याभास रूप (५) प्रत्यभिज्ञात रूप (६) प्रत्यभिज्ञाताभास रूप (७) अनुमानाश्रित प्रत्यभिज्ञात रूप। ये सभी रूप शुक्ल जी के अनुसार भाव व्यजक, रसोद्बोधक एव रससम्नकर्ता हो सकते है—आवश्यक इतना ही है कि एक ओर जहाँ ग्राहक की दृष्टि रागद्वेष से शून्य हो और दृष्य मुक्त हो वही दूसरी ओर उन रूपो मे समान भाव जगाने की अनुरूप लोकसामान्य धर्मो की सस्थिति हो। इस प्रकार शुक्ल जी विभावपक्ष के अन्तर्गत उन सब प्रस्तुत वस्तुओ और व्यापारो को लेते है जो हमारे मन मे सौदर्य, माधुर्य, दीप्ति, काति, प्रताप, ऐश्वर्य और विभूति इत्यादि की भावनाएँ उत्पन्न करती हैं। प्राचीन शास्त्रीय परम्परा में विभाव की इतनी अधिक व्याप्ति स्वीकार नहीं की गई है। व्यावहारिक क्षेत्र मे प्राय. उदारचेता मानव करुण परिस्थितियो मे पड़े हुए व्यक्ति को देखकर व्यक्तिबद्ध दु ख-सकीर्ण भूमिका से ऊपर उठ जाता है और व्यक्ति के दु.ख से भर जाता है—उस लोक मे अपने व्यक्ति को लीन कर देता है—और फलतः सद्यः परोपकाररत हो जाता है। आचार्य शुक्ल इस सत्कर्म प्रवर्तक उन्मुक्त मनोवेग को, जो दु.खात्मक कोटि का होते हुए भी व्यक्तिवद्ध भूमिका की भाँति क्षोभकारक नही है, रसात्मक अनुभव ही कहेंगे। लेकिन प्राचीन आलंकारिक ऐसा कभी भी स्वीकार नहीं करेंगे। शुक्ल जी ने रसात्मक अनुभव को भी मानवीय प्रवृत्ति और निवृत्ति का मूल हेतु माना है। कदाचित् इस प्रकार की कल्पना मे मनोवैज्ञानिक दृष्टि ही कारण है। शास्त्रीय आचार्य रसात्मक अनुभव का पर्यवसान 'चर्वणौन्मुख्य' या 'चर्वणा' में मानेंगे—'कर्तव्यौन्मुख्य' में नही। शुक्ल

जी ने स्पष्ट कहा है—"क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा के सबध में साहित्य प्रेमियो को शायद अडचन दिखाई पड़े; इनकी वास्तविक अनुभूति दु:खात्मक होती है। रसात्मक प्रतीति आनन्दस्वरूप कही गई है—अत. दु:खरूप अनुभूति इसके अतर्गत ली जा सकती है—यह प्रश्न कुछ अड़चन डालता दिखाई देगा। पर 'आनद' शब्द को व्यक्तिगत सुखभोग के स्थूल अर्थ मे ग्रहण करना मुझे ठीक नही जँचता। उसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया मे तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ।" पर साथ ही वे यह भी मानते है कि हृदय मुक्त होने से वह दु:खात्मक अनुभूति भी रस कही जाती है।

शास्त्रीय मान्यता से भिन्न शुक्ल जी की अतिरिक्त धारणा यह भी है कि जहाँ शास्त्रकार रस उपकरण के सांकल्प (उक्त होने से या आक्षिप्त होने से) पर ही रस निष्पत्ति मानते हैं, वहां शुक्ल जी वैकल्प में भी पूर्ण निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। काव्यप्रकाशकार ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए कहा है कि यद्यपि कतिपय रचनाओ मे केवल विभाव या केवल अनुभाव या केवल सचारी की ही स्थिति हो सकती है, पर इसका अर्थ यह नही समझना चाहिये कि वहाँ अन्य अवयवो से निरपेक्ष रह कर ही रस निष्पत्ति हो जाती है, वरन् अवशिष्ट अवयवो का आक्षेप कर लिया जाता है। इस प्रकार रसनिष्पत्ति के लिये सभी अवयव आवश्यक है। इसके विपक्ष मे शुक्ल जी की मान्यता कही-कही यह भी प्रकट हुई है कि वैसे सामान्यत: रसनिष्पत्ति मे भले ही विभावादि रसावयवो का सम्यक् योग प्रपानक रस की भाँति अखण्ड रसानुभव पैदा कर दे, पर यह बात नियम पूर्वक नही कही जा सकती। 'रस-मीमासा' मे उन्होने लज्जा के सभी अवयवो की उपस्थिति में भी रस निष्पत्ति का अभाव और प्रकृति के सश्लिष्ट चित्रण में अन्य अवयवो के न रहने पर भी रस की निष्पत्ति होना माना है। इस प्रकार यदि शास्त्रीय पदावली मे कहा जाय तो कहा जा सकता है कि रसानुभव एव रस के कार्यकारण-भाव-सम्बन्ध के खण्डनार्थ व्यतिरेक व्यभिचार और अन्यथ अन्वय व्यभिचार—दोनो ही प्रदर्शित किया है। शास्त्रीय मान्यता इससे बिल्कुल भिन्न है।

वैसे शुक्ल जी दध्यादि न्याय, प्रपानक रस न्याय का यत्र-तत्र उल्लेख करते हुये यह स्वीकार करते हैं कि सभी अवयवो से संयोग होने पर रस का ज्ञान उस समूहालम्बनात्मक ज्ञान से भिन्न है जिसमें भिन्न-भिन्न विषय अपना पृथक्-पृथक् स्वरूपबोध करते है—फलत उसके अनुसार प्रपानक रस का ही दृष्टांत स्वीकार किया जाना चाहिये जिसके अनुसार सभी को अपृथक रूप से

एकरस अनुभूति स्वीकार्य हो सके। शुक्ल जी रसप्रतीति को ध्वन्यालोककार की भाँति घट प्रदीप न्याय से नही, प्रस्तुत साहित्यदर्पणकार की भाँति दध्यादि न्याय से मानते है।

रस की निष्पत्ति प्रक्रिया या साधारणीकरण की प्रक्रिया मे भी शुक्ल जी शास्त्रीय परम्परा से अपना वैलक्षण्य रखते है। रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध मे सबसे पहली बात तो यह है कि ये किसी दार्शनिक विचारधारा का सहारा लेकर उसे आत्मानुभव रूप अलौकिक कोटि की प्रतीति सिद्ध नही करते। रसानुभूति को उन्होने मनोमय कोष तक की ही वस्तु स्वीकार किया है। निष्पत्ति-प्रक्रिया सीधी सो यह है कि काव्य-सामग्री जिस 'साधारण' रूप मे गृहीत होती है, उनसे ग्राहक 'स्व पर भाव' का विस्मरण कर जाता है--राग-द्वेष के संकीर्ण बन्धन से उसका मन मुक्त हो जाता है। इस मुक्त मन द्वारा साधारण रूप मे गृहीत काव्य-सामग्री से उभड़ कर जब अपनी ही (सुप्त) वासना का पुनः आस्वाद होता है तो वह आनन्ददायक होता है--या कम से कम क्षोभकारक नहीं होता।

साधारणीकरण के विषय मे उन्होने माना है कि **विभावादि** का इस रूप मे लाया जाना साधारणीकरण है कि जिससे वे (विभावादि) सब के हृदय मे समान भाव जगा सकें---रसात्मक बोध उत्पन्न कर सकें। विभावादि मे सबसे अधिक बल शुक्ल जी ने आलम्बन के साधारणीकरण पर दिया है। उन्होंने बताया है कि साधारणीकरण आलम्बन **व्यक्ति का नहीं आवलम्बनत्व धर्म** का होता है। ग्राहक की प्रतिभा में आलम्बन के रूप मे जो चित्र आता है, वह तो व्यक्ति-विशेष का ही होता है। उनकी दृष्टि मे इस प्रकार साधारणीकरण 'प्रभाव' का होता है। साहित्यदर्पणकार के प्रभाव मे आकर शुक्ल जी ने यह भी माना है कि प्रमाता का आश्रय मे तादात्म्य ही साधारणीकरण है।

शुक्ल जी ने रस की दो कोटियाँ या श्रेणियाँ निर्धारित की है--उत्तम रस दशा और मध्यम रस दशा। उत्तम रस दशा वह है जहाँ ग्राहक आश्रय से तादात्म्यापन्न हो सके और मध्यम वह जहाँ आश्रय से तादात्म्य लाभ न कर सके। दूसरी दशा का विश्लेषण करते हुये शुक्ल जी ने कहा है कि इस दशा का हमारे यहाँ के साहित्यशास्त्रो मे निर्वचन या विवेचन नही हुआ है। उनके अनुसार न तो यहाँ आश्रय के साथ ग्राहक का तादात्म्य होता है और न उसके आलम्बन का साधारणीकरण। पर सच पूछा जाय तो एक दृष्टि से यहाँ कवि रूपी मूल आश्रय के साथ ग्राहक का तादात्म्य होता है और साधारणीकरण

भी कथञ्चित् सम्भव है। उन्होने स्वयं कहा है—"तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप सघटित करता है।" शास्त्रीय दृष्टि मे कहना चाहें तो इन स्थलो की दशा भाव, भावाभास एव रसाभास के अन्तर्गत आ सकती है।

शुक्ल जी रसात्मक अनुभूति को प्रत्यक्षानुभूति या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा भिन्न कोटि की अनुभूति नही मानते। वे मानते है कि यह भी लौकिक अनुभूति है—अन्तर यदि कुछ बताया जा सकता है तो केवल इतना ही कि वह एक उदात्त या अवदात्त कोटि का सात्त्विक अनुभव है। यदि उसे अलौकिक कहा जा सकता है तो केवल इसी अर्थ मे।

शुक्ल जी रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति दोनों मे प्रमाता की पार्थक्य-प्रतीति का विसर्जन स्वीकार करते है। शुक्ल जी अन्त:करण या अन्त: सत्ता की तदाकार परिणति को सौन्दर्यानुभूति मानते है। जो वस्तु ग्राहक के हृदय पर जितना शीघ्र छा जाय वह उतनी ही सुन्दर है। सुन्दर वस्तु से भिन्न सौन्दर्य नाम की कोई चीज नही है—अतः शुक्ल जी के अनुसार सौन्दर्य वस्तु-गत ही हो सकता है। इस प्रकार शुक्ल जी सौन्दर्य सवेदन और रस सवेदन को लगभग एक ही कोटि की वस्तु स्वीकार करते है। इस विवेचन में शुक्ल जी विशुद्ध वस्तुवादी दृष्टिगोचर हो रहे है। वस्तुवादी दृष्टि के ही कारण वे मानते है कि कवि के मानस मे जो रूप-तरंगें उच्छलित होती हैं, वे सब इसी चक्षुगोचर ससार सागर की ही है। काव्य-गत वस्तुवादिता का ही कदाचित् यह परिणाम है कि विषयप्रधान रचनाओ ने विषयीप्रधान रचनाओ की अपेक्षा उन्हे अधिक आकृष्ट किया। उन्होने काव्य मे subjectivity का विरोध करते हुए वैयक्तिक अनुभूति गोचर 'अध्यात्म' को काव्य से बाहर तक कर देने का उद्‌घोष किया। उन्होने काव्य को जगत् की अभिव्यक्ति कहा। उन्होने कहा है कि यदि जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है तो काव्य जगत् रूप अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति। इसी दृष्टि से उन्होंने अपने को 'अभिव्यक्तिवादी' कहा है। उन्होंने रहस्यवाद को काव्य मे वहीं तक ग्राह्य माना, जहाँ तक वह जिज्ञासा के स्तर पर स्वाभाविक सर्वसामान्य के द्वारा ग्राह्य हो सकता है।

प्राचीन आचार्यो की भाँति शुक्ल जी के समक्ष रसादर्शो से निर्मित होने वाली रचनाएँ ही नही थी, ऐसी रचनाएँ और प्रवृत्तियाँ भी थी, जो रस को विकेन्द्रित करती जा रही थी। पात्र रसरूढ़ियो से हटते जा रहे थे और ऐसे अनादर्श पात्रों से संकुल साहित्यिक कही जाने वाली कृतियाँ भी आ रही थी। रसवाद का सम्बन्ध 'सामान्य' या 'समष्टि' से ही है—'व्यष्टि' और 'विशेष'

से नही। व्यष्टि और विशेष का तो विगलन स्वीकार किया जाता है। अत. शुक्ल जी के समक्ष भी प्रश्न था कि या तो वे रसवादी प्रतिमान को अव्याप्त माने या 'व्यष्टि' और 'विशेष' का आग्रह मानकर चलने वाली कृतियो को असाहित्यिक घोषित करे, उन कल्पनानिर्मित कलाकृतियों को अकाव्य घोषित करें, उन कल्पना निर्मित 'रूपो' से भरी हुई कलाकृतियों को खिलवाड़ बतायें (थोड़ी दूर तक तो बताया भी है) जिन्हे काव्योचित अनुभूति का योग न मिला हो। शुक्ल जी का स्पष्ट उत्तर है कि अनुभूति हीन कल्पना का रूपविधान मन का रञ्जन चाहे करे, पर काव्योचित रमण करने मे सर्वथा अशक्त है। इसी प्रकार उन्होने 'विशेष' या 'व्यक्ति वैचित्र्य' का आग्रह रखकर चलने वाली रचना को काव्य की दृष्टि से व्यर्थ ही कहा है। रस की जगह शीलवैचित्र्य या अन्तःप्रकृति-वैचित्र्य को केन्द्रगामी रखने वाली कृतियो से जो समष्टि प्रभाव उत्पन्न होता है, शुक्ल जी ने इस Total effect या समष्टि प्रभाव को त्रिधा विभक्त किया है : (१) आश्चर्यपूर्ण प्रसादन (२) आश्चर्यपूर्ण अवसादन तथा (३) कुतूहल मात्र। सात्त्विक वर्ग का यदि चरित्रोपस्थापन रहा तो प्रथम स्थिति, तामस वर्ग का यदि चरित्र चित्रित किया गया तो दूसरी स्थिति और किसी वर्ग मे न आने वाला हुआ तो तृतीय स्थिति। तीसरी स्थिति के चरित्र को पश्चिमी समीक्षको ने 'अद्वितीय' माना है और माना है कि यही नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्ज्वल उदाहरण है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार प्रवृत्ति तथा निवृत्ति ही प्राणी की सप्राणता का लक्षण है और वह प्रवृत्ति और निवृत्ति मनोवेगो पर निर्भर है, इसीलिए मनोवेगो का स्थान जीवन में महत्त्वपूर्ण है। बुद्धि प्रवर्तिका नही होती, मनोवेगो को निर्णय की सहायता देकर सक्रिय करने मे सहायक होती है। काव्य का लक्ष्य इसी मनोवेग को सदाचारो मे प्रवृत्ति की ओर, कदाचारो से निवृत्ति की ओर उन्मुख करना है। इस प्रकार आदर्श और नैतिकता की दृष्टि से काव्य सर्वथा मानवोचित सद्वृत्तियो के परिष्कार का साधन है, हृदय को मुक्त दशा मे ले जाने का साधन है। हृदय की मुक्त दशा एक अवदात स्थिति ही है जो लोक मंगलोचित कर्तव्य मे पर्यवसित होती है। यह अवदात मनोवृत्ति ही रसात्मक मनोवृत्ति है—यह सुखात्मक भी हो सकती है और दु खात्मक भी। दुःखात्मक होकर भी इसकी एक विशेषता यह होती है कि वह क्षोभकारक नही होती क्योंकि उसका सम्बन्ध वैयक्तिक हानि-लाभ मे नही है।

सत्रह | भारतीय काव्यशास्त्र और उसकी संभावनाएँ : शुक्लोत्तर समीक्षा के सन्दर्भ में

हिंदी समीक्षा मे 'शुक्ल'—रेखा लाँघने के बाद जो क्षेत्र सामने आता है, उसमे निम्नलिखित विभिन्न वर्ग के लोग भारतीय काव्यशास्त्र के विषय मे पक्ष-विपक्ष एवम् युगोचित परिष्कार की दृष्टि से सोचते-समझते और लिखते पढते है। प्रथम वर्ग उन लोगो का है जो सस्कृत साहित्यशास्त्र के अध्येता और मर्मज्ञ हैं——प० बलदेव उपाध्याय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, प० विश्वनाथ मिश्र, डॉ० आनद प्रकाश दीक्षित, प० केशव प्रसाद मिश्र, आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री, डा० गणेश त्र्यंबक देशपाण्डेय आदि विशेषत: परिगणनीय है। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत उन मनीषियो की गणना की जानी चाहिए जो मूलत. आग्ल साहित्यशास्त्र के व्यक्ति के है, पर हिंदी मे भी उसी अधिकार के साथ भारतीय हिंदी साहित्य सर्जना के सदर्भ मे सोचते-विचारते है और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक धरातल पर अपनी समीक्षाएं प्रस्तुत करते है। इस वर्ग के अतर्गत डॉ० राम अवध द्विवेदी, डा० रामविलास शर्मा, डॉ० प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा डॉ० विक्रमादित्य राय आदि का नाम उल्लेख्य है। तृतीय वर्ग उन लोगो का है जिन्होने प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा की भाँति सस्कृत का भी परम्परागत बोध आनुवशिक एव अर्जित रूप मे तो प्राप्त किया ही है, अग्रेजी भाषा और साहित्य में भी अधिकृत ढग से प्रवेश और पैठ लाभ किया है। आचार्य नददुलारे वाजपेयी हिन्दी के स्नातक होते हुए भी अग्रेजी साहित्यशास्त्र से ही प्रथम-प्रथम प्रभावित थे——उसी के नदीष्ण अध्येता थे, पर उत्तरोत्तर सस्कृत साहित्यशास्त्र के सपर्क मे आकर भारतीय काव्यशास्त्र के रसात्मक प्रतिमान के बलवत्तर समर्थको मे हो गए। ठीक इसी प्रकार डॉ० नगेन्द्र आरंभ में अंग्रेजी के स्नातक और स्वच्छदतावादी समीक्षक थे, पर उत्तरोत्तर सस्कृत साहित्य-शास्त्र के गभीर अध्येता और शास्त्रीय समीक्षक बन बैठे। इनके अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग उन हिंदी स्नातकों का है जिन्होने अपने श्रम से अध्ययन-अध्यापन के क्रम मे यथासभव सस्कृत और अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त किया है और कभी

एक पर तथा कभी दोनो पर तुलनात्मक ढग से विचार करना आरभ किया है। समीक्षा के इस दौर मे कभी-कभी यह प्रश्न भी प्रस्तुत किया गया है कि यदि हिंदी साहित्य का अब एक स्वतंत्र अस्तित्व है तो उसका साहित्यशास्त्र भी अपने साहित्य के संदर्भ मे समानान्तर ढग से विकसित होना चाहिए। अग्रेजी और संस्कृत साहित्यशास्त्र के पूर्वनिर्धारित प्रतिमानो का आरोप हिंदी की सर्जनात्मक विधा पर चलाना उसकी स्वतंत्र आलोचना धारा पर कुठाराघात है। पर सर्जनात्मक धरातल पर होता यह है कि हमारे रचयिता कभी तो पश्चिमी अनुकरण पर रोमैन्टिक प्रोग्रेसिव, एक्सपेरिमेण्टलिज्म, न्यू पोएट्री, एन्टी-पोएट्री की रचना मे दत्तचित्त होते रहे और कभी कुछ एक भारतीय संस्कृति की अभिव्यजना करते रहे और कभी बुद्धिवादी परिष्कार की ओर भी मुडते रहे। फलत. आलोचना के पक्ष मे भी पूर्व-पश्चिम के साहित्य-शास्त्रियो के द्वारा बने-बनाए मसालो का रसायन तैयार करते रहे। यदि हमारी सर्जना शक्ति भारतीय मिट्टी की महक उभारने मे निष्ठावान् होती तो हमारी आलोचनावृत्ति भी उससे अनुशासित रहती। जितनी मात्रा मे सर्जना सहज विकसित हुई, उतनी मात्रा मे कभी-कभी उसके अनुरूप आलोचना की माँग भी होती गई। दोनो की शुद्ध प्रकृति की छानबीन एक स्वतत्र शोध का विषय है। अस्तु। इस तृतीय वर्ग ने विश्वविद्यालयो के प्राध्यापक तथा शोधकर्ता तो है ही, स्वतत्र रूप से लिखने वाले कवि और समीक्षकगण भी है। भारतीय काव्य-शास्त्र पर इनकी भी लेखनी सक्रिय है। सबका नामोल्लेख सभव नही है और कतिपय का परिगणन पक्षपात है। अतः इस विवरण से हटकर जब हम उनकी उपलब्धियो तथा सीमाओ की ओर दृष्टिपात करते है तो पाते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र का ऐसा कोई भी अग या क्षेत्र नही बचा है जिस पर इन लोगो की लेखनी सक्रिय नही हुई। काव्यरूप, काव्यस्वरूप, काव्य हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्यात्मवाद, शब्दशक्ति, दोष एवं छदोविधान—प्राय सभी का पुनराख्यान हो चुका है। कभी-कभी साहित्यशास्त्र की समान समस्याओ पर पूर्वी-पश्चिमी विभिन्न दृष्टिकोणो का तुलनात्मक समीक्षण और इस परिप्रेक्ष्य मे विशेषता और त्रुटियो का भी उल्लेख किया गया है। कभी रागातिरेक मे भारतीय काव्यशास्त्र की निष्पत्तियो की आवश्यकता मे ज्यादा प्राप्ति सिद्ध की गई है और कभी-कभी पश्चिम के सामयिक और जीवन्त विचारो से आकृष्ट होने के कारण भारतीय काव्यशास्त्र में उतनी पैठ न होने से उसके उपादेय पक्षो की भी अवहेलना हो गई है। इधर के अनेक स्वतत्र तथा शोधोपाधिनिमित्तक प्रयासो से भारतीय काव्यशास्त्र की युगोचित सरणि पर विश्वसनीय और आकर्षक व्याख्याएँ भी

हुई है। इनके अतिरिक्त प्रसाद, निराला, महादेवी, माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर, अज्ञेय, मुक्तिबोध, तथा डॉ० श्याम परमार आदि मे से कतिपय ने तथा कुछ एक ने अनजाने ऐसी बाते कह दी है जिनसे भारतीय काव्यशास्त्र की अनेकानेक क्रमागत मान्यताएँ जो धूमिल पड़ गई है, दीप्त ही हुई है। इन समीक्षको मे अनेक विषमताओ के साथ-साथ एक विशेष साम्य यह है कि ये सभी परम्परागत पौरस्त्य तथा पाश्चात्य प्रतिमानो का अध्ययन करने मे आस्था रखते है और इस अध्ययन से बललाभ कर स्वतन्त्र सोचने-समझने का भी प्रयत्न करते है—ग्राह्यता और अग्राह्यता की बात तो समय के स्वतन्त्र निकष की है।

शुक्लोत्तर समीक्षा के सदर्भ मे एक वर्ग ऐसा भी उभरता आ रहा है जो 'आधुनिक चेतना' का संवाहक, सर्जक और समीक्षक है। भारतीय काव्यशास्त्र मे आधुनिक चेतना के सवाहक सर्जनात्मक साहित्य के समीक्षणो का कोई प्रतिमान नही मिलता और न मिलने की सभावना ही है। ये अपनी शक्ति भर पश्चिमी जगत् के उन आधुनिक चिन्तको के नाम तथा उनके विचारो का अभ्यास करते है जो विसगति, आक्रोश, ऊब, थकान, आत्मनिर्वासन, सत्रास, आत्मनिष्कासितम्मन्यता, विद्रोह तथा अनास्थामूलक सर्जनशील साहित्य के समानान्तर चिन्तन करते है। ये लोग अपनी समीक्षाओ मे कामू, सार्त्र और काफ्का का उल्लेख आवश्यक समझते है और उल्लेख से बचने के प्रयत्न करने वालो की अपनी अपेक्षा अधिक आत्महीनता की ग्रन्थि से बाधित मानते है—मानों इनके उल्लेख और अनुल्लेख से हटकर कुछ सोचने का रास्ता ही न हो।

इस प्रकार इन विभिन्न वर्गीय समीक्षको मे से कतिपय ने भारतीय काव्यशास्त्र का पुनराख्यात और रूपान्तरण किया है, जबकि कुछ एक ने साहित्य जगत् के समान और मौलिक प्रश्नों पर पाश्चात्य समीक्षको तथा वैज्ञानिक मान्यताओ के परिप्रेक्ष्य मे भारतीय काव्य प्रतिमानों की सीमाएँ, विशेषताएँ और विशिष्टताएँ उभारी है। कतिपय ने अतिशय आस्था और आवेश मे रस अथवा ध्वनि-जैसे प्रतिमानों की देश-कालातीत व्यापकता और विशदता प्रतिष्ठापित की है। कुछ एक ने इन प्रतिमानों का युगोचित परिष्कार भी किया है, पर इस सन्दर्भ मे कभी-कभी मूल वृत्ति का सटीक अपरिचयवश स्वकीय अतिरिक्त ज्ञान का आरोपण भी हो गया है। चिन्तन की इस भाग-दौड मे आश्चर्य तो तब होता है जब संस्कृत साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र से आये हुये समीक्षक 'भाव' या 'भावना' को काव्य का केन्द्रीय तत्व मानने से मुकर जाते हैं स्थिर दृष्टि के अभाव मे

अथवा स्थिरता मात्र को जड़ता का पर्याय मानने वाले कतिपय स्वयभू समीक्षक बडी दृढ़ता के साथ कहते है कि सर्जना और अनुभवी समीक्षा समानान्तर चलती हैं। और सबसे बडी बात यह है कि समीक्षा जिस प्रतिभा-प्रसूत 'नवता'-सम्पन्न कृति की की जाती है, उसका प्रतिमान उसी कृति मे निहित रहता है। यह तो स्पष्ट है कि प्रतिमेय या समीक्ष्य पहले होता है और समीक्षा अथवा तदुपयोगी प्रतिमान बाद में। इस प्रक्रिया मे प्रत्येक प्रतिमान अपने पूर्ववर्ती प्रतिमेय के अनुरूप आविष्कृत पूर्ववर्ती प्रतिमान प्रतिभाप्रसूत परवर्ती कृति या प्रतिमेय की दृष्टि से अनुपयोगी और अनुपादेय है और इस दृष्टि से समस्त पूर्ववर्ती प्रतिमान परवर्ती नई कृति के सन्दर्भ मे अनुपयोगी और अपर्याप्त है। फलत: सभी क्रमागत और पूर्ववर्ती प्रतिमान या व्यवस्था का वृत्त सर्जनात्मक सीधी गतिमयता का अथवा उसके स्वस्थ विकास का प्रतिबन्धक ही हो सकता है, अत: उसकी चर्चा अनावश्यक, निरर्थक तथा भारमात्र है। फिर जहाँ तक भारतीय काव्यशास्त्र का सम्बन्ध है, वह तो काफी समय से अवरुद्ध हो चुका है। वह शास्त्र जिस प्रकार की सर्जना का मापक है उसकी मूल धर्माध्यात्माधृत मनोवृत्ति से साम्प्रतिक बुद्धिवादी अथवा आधुनिक विज्ञानाश्रित प्रेरक मनोवृत्ति सर्वथा भिन्न है। तब की मानसिक बुनावट और बनावट मे आज के मानस की बुनावट और बनावट मे एकदम दमक है, उसके ताने-बाने सभी भिन्न हैं। इस स्थिति में 'आधुनिक साहित्य' का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसके न्यायसंगत मूल्यांकन की बात है, भारतीय काव्यशास्त्र को भुला भी दिया जाय तो प्रातिभ समीक्षकों के लिये कोई क्षति न होगी। कतिपय अधुनातन साहित्य के पक्षधर विवेचको ने तो यह भी कह दिया कि अब शब्द-शक्ति, अलकार, रस और ध्वनि से काम नही चलने का। कुछ-कुछ इसी आशय की बात शुक्लोत्तर समीक्षा के आरम्भ मे होते ही आचार्य बाजपेयी ने 'हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी' मे भी कह दी थी। उन्होंने कहा था कि प्रातिभ कृतियाँ अनाविष्कृत सौंदर्य भगिमाएं होती हैं और इसी मे कृति की सर्जनात्मकता है। अतः इनके सन्दर्भ मे पूर्वागत प्रतिमान जो आविष्कृत भगिमाओं के सन्दर्भ मे प्रकट हुये थे या आविष्कृत किये गये थे एकदम व्यर्थ है। उत्तरोत्तर यह स्वर तीव्र-तीव्रतर होता गया, पर नव छन्द, नव ताल, नव भगिमा, नव अप्रस्तुत, नव प्रतीक और नव बिम्ब के साथ शब्दो के माँज-सजाव—जो शैलीगत उपकरण है—पर फिर भी बल दिया जाता था। आज तो कविता 'हाथों की छटपटाहट' बन गई है। आज तो व्यवस्था का सर्वतोमुखी विरोध है। स्व-च्छन्दता नहीं, अराजकता का जोर है, बौने व्यक्तियो का व्यक्तिवाद है। शुक्लो-

त्तर समीक्षा के इन विभिन्न सोपानों—स्वच्छन्तावाद या छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद एवं नवलेखन—पर निर्मित सर्जनात्मक साहित्य के सन्दर्भ में भारतीय काव्यशास्त्र की कतिपय सम्भावनाएं शेष भी है अथवा नही, यह आज का एक ज्वलंत प्रश्न है और विचारणीय है।

भारतीय काव्यशास्त्र की अनुपयोगिता अथवा संभावनाओ की निःशेषता के पक्ष में ऊपर जो तर्क दिए गए है, वे मुख्यतः दो है—

(१) पहला यह कि शास्त्र अथवा शास्त्रीय प्रतिमानों की सार्थकता अथवा चरितार्थता कृतियों की समीक्षा मे ही है—अपने आप में नही; और प्रतिमान जिस प्रतिमेय के गर्भ से प्रसूत होते हैं उसी के लिए उपयोगी होते है—फलतः हर नई प्रातिभ कृति के लिए वे निरर्थक हैं।

(२) दूसरा यह कि जिस प्रकार की मानस-कृति की परिणतिभूत सर्जना के समानान्तर भारतीय काव्यशास्त्र का निर्माण हुआ था, उस प्रकार की मानसवृत्ति ही संप्रति नही है। इसलिए भी भारतीय काव्यशास्त्र की संभावनाएँ निःशेष है।

विचार करने पर ये दोनो तर्क आपात रमणीय पर पर्यवसाननिस्सार जान पड़ेगे। सबसे पहले यह स्पष्ट कर देना या कह देना आवश्यक है कि 'दृष्टि' मात्र की स्थिरता को जो जड़ता का पर्याय मानते हैं और स्वयम् का कोई भी पक्ष न रखकर परकीय पक्ष का निराकरण ही जिनका लक्ष्य है, उनके लिये अतीत मात्र की संभावना निःशेष है अनुभव के निकष पर उपलब्ध हेमप्रभ प्रतिमानों और मूल्यो की समस्त अतीतगामी मान्यताएँ व्यर्थ है। उनके लिये अवश्य भारतीय काव्यशास्त्र की भी संभावनाएँ निःशेष हैं। अतः मैं केवल उनकी दृष्टि से प्रतिमानो पर विचार करूँगा जो किसी 'दृष्टि' मे आस्था रखते हैं, फलतः स्वयम् 'दृष्टि' रखते है। इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर दूँ कि जीवनोपयोगी 'दृष्टि' ही काव्य मे भी प्रतिफलित होती है। जीवनोपयोगी 'दृष्टि' दो प्रकार की है और दोनो परस्पर दो ध्रुवान्त हैं—चेतनावादी और पदार्थवादी। भारतीय काव्यशास्त्र जिस दृष्टि की प्रसूति है, वह है चेतनावादी। अतः जिनकी इस दृष्टि में आस्था नही है उनके लिये भी भारतीय काव्यशास्त्र की संभावनाएँ अन्ततः संतोषकर नही प्रतीत होगी। चेतनावादी दृष्टि भी सम्प्रति दो प्रकार की है—एक को समर्थन है मनोविज्ञान का और दूसरे को अध्यात्म का। अध्यात्मवादी मनोविज्ञान-सम्मत चेतना को तो मानता ही है पर बेहोशी मे उस चेतना के अभाव में एक उसकी भी चेतना मानता है जिसके कारण व्यक्ति 'चेतना'-हीन

होने पर भी मृत घोषित नहीं होता। भारतीय काव्य-शास्त्र की दृष्टि प्रधानतः इस आध्यात्मिक चेतनावाद पर खड़ी है। वक्रोक्ति, रस एवं ध्वनिवाद के निरूपणों मे तो वह दृष्टि पारिभाषिक पदावलियो के माध्यम में मूर्त भी हो गई है। काव्य हेतु, प्रतिभा और प्रयोजन के संदर्भ मे भी यत्र-तत्र यह दृष्टि उद्रिक्त है। अलंकार, दोष, छंद, रीति और औचित्य अवश्य ऐसे प्रतिमान है जिनमे 'दृष्टि' का निक्षेप न भी किया जाय—और किया भी प्रायः नही गया है—तो वे 'दृष्टि' निरपेक्ष वालो के लिए भी काम के हो सकते है। 'संकेत' से जिस संभावना की ओर संकेत किया जा रहा है, उसका स्पष्टीकरण बाद मे दिया जायगा। इस संदर्भ में मैं संक्षेप मे एक तथ्य की ओर और भी संकेत करना चाहता हूँ कि प्रजातान्त्रिक जीवन-प्रणाली ग्रहण करने वाला भारतवर्ष जो व्यक्तिगत संभावनाओ का उपासक है, इसी आध्यात्मिक चेतनावादी दृष्टि को अपनी प्रकृति और प्रणाली के अनुरूप पायेगा। कारण, भूतवादी जीवन-प्रणाली सामूहिक चेतना और चिन्तन में संभावना देखती है। व्यक्ति इस शृंखला का एक अविच्छिन्न कड़ी हो सकता है। इसलिये उपर्युक्त दोनों आक्षेपो का प्रतिवाद मैं इसी सीमा में कर सकूँगा। अपने को 'अत्याधुनिक' अथवा 'आधुनिकता'–सम्पन्न कहने वाली प्रतिभाएँ तो व्यवस्था मात्र के विद्रोह मे ही अपना अस्तित्व देखती है। अतः उन्हे प्रजातान्त्रिक जीवन-प्रणाली भी अमान्य है। इस प्रकार अमान्यता ही जिसकी पताका है, उसके लिये मेरी बात निरर्थक है। जो आश्वस्त और स्थिर होना ही नही चाहता, उसे वैसा किया भी कैसे जाय ?

उक्त सीमा का स्पष्टीकरण कर देने के बाद पहले प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि भारतीय दृष्टि प्रतिमेय से जो प्रतिमान निकालती है, वह अपने आप मे इतना 'सामान्य' होता है कि उस प्रतिमेय को व्याप्त करता हुआ अपनी प्राप्ति में वह और भी अधिक विस्तृत होता है। 'व्यक्ति' का यही विस्तार उसमें भावनाओं का द्वार खोल देता है। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायगी। वक्रोक्तिजीवितकार का एक निकष है—'अन्यूनानतिरिक्त' तथा 'मनोहारिणी स्थिति'। अर्थात् कलाकृति मात्र मे 'अन्यूनानतिरिक्त' तथा 'मनोहारिणी स्थिति' दो तत्व हों, तो वह उत्कृष्ट मानी जायगी। कलाकृति समाधिस्थ स्रष्टा के शरीरव्यापी प्राणावेग का मूर्त रूप है। यदि भीतर से स्रष्टा ने कही भी समाधि में, अभिव्यक्ति के लिये उन्मुख प्रातिभ स्वप्न के पीछे सक्रिय प्राणावेग मे जहाँ भी शैथिल्य आया कि कृति में वह झलक जायगा, उतना अंश परिवर्तनीय हो जायगा। समस्त कलाकृति इस

परिवर्तन मे या तो 'न्यून' हो जायगी अथवा 'अतिरिक्त अन्यूनानतिरिक्त' न हो सकेगी। भारतीय काव्यशास्त्र पर यह बहुत बड़ा आक्षेप है कि वह केवल पद्यबद्ध काव्यकृतियो के संदर्भ में ही स्पष्ट हो पाया है। संस्कृत का गद्यकाव्य भी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व उस प्रकार विकसित नही कर पाया है जिस प्रकार आज गद्य विधाएँ पद्य विधाओ से भिन्न अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व विकसित कर चुकी हैं। उक्त प्रतिमान न केवल पद्यबद्ध विधाओ पर ही कार्यान्वित किया जा सकता है, अपितु गद्यबद्ध विधाओ पर भी लागू किया जा सकता है। यदि कोई मूल कृति कृतिकार द्वारा सक्षिप्त आकार मे की जाती है, तो वह 'अन्यूनानतिरिक्त' की कसौटी पर खरी नही है। फलतः वे लोकायतन, गोदान, झूठा-सच, अमृत-विष आदि पद्यविधाएँ एवं गद्यविधाएँ उत्कृष्ट नही हैं जो अपना संक्षिप्त रूप दे चुकी है। समूचे बँधे प्राणावेग के साथ प्रातिभ श्रम के साथ जो कलाकृति उतरी होगी, वह इतनी सुसंश्लिष्ट और सुगठित होगी कि उसे कही से भी कम-ज्यादा किया ही नही जा सकता। यह बात केवल शुक्ल जी के निबन्धो के लिये ही नही, समस्त कलाकृतियो के लिये है। कलाकृति के निर्माण में साँस टूटनी नही चाहिये—और साँस नही टूटेगी—तो उसका परिणाम भी इतना सुसंश्लिष्ट और सुगठित होगा कि उसे कही से भी छोटा-बड़ा नही किया जा सकता। इसीलिये लघुकाय कृतियाँ जितनी सुसश्लिशट होती है, बृहत्काय कम। 'शेखर : एक जीवनी' बृहत्काय है पर उसका सारा वस्तु-दर्शन फाँसी के तख्ते का एक क्षण है। किसी ने ठीक कहा है—

> **एक क्षण की बाहुओ में**
> **अमरता जब बंदिनी हो**
> **धन्य है वह एक ही क्षण।**

इस विषय का दूसरा पक्ष है—'मनोहारिणी स्थिति'। 'स्थिति' शब्द भी ध्यान देने योग्य है। सहृदयग्राहक की प्रातिभ परिधि मे उसकी 'स्थिति' सभव ही है। वह इतना विशाल और विस्तृत न हो कि कृति अपनी समग्रता मे ग्राहक की पैठ पकड मे ही न आ सके—एक तरफ का पढ़ते-पढते दूसरी ओर का विस्मृत हो जाय। विस्मृति अपनी अनावश्यक विस्तृति से भी सभव है और अनाकर्षकता से भी—बासीपन से भी, ताज़गी या मानवता के अभाव से भी। इन दोनो त्रुटियो से यदि कलाकृति ग्रस्त नही हो सकी है, तभी उसकी स्थिति भी सभव हो सकेगी इसी प्रकार भारतीय काव्य

ास्त्र मे अनेक निकष लिए जा सकते है। आवश्यकता केवल इन सूत्रो की प्रयोगोपयोगी 'व्याख्या' की है।

समग्र कलाकृति की भॉति उसके माध्यम अथवा अनिवार्य अंग—भाषा के विषय मे भी ऐसे-ऐसे प्रतिमान 'वक्रोक्ति' और 'ध्वनि सिद्धान्त' मे समाहित है जो अपनी व्याप्ति मे सभावनागर्भ हैं। कदाचित् क्रोचे को छोड़कर पश्चिमी चिन्तक भी ऐसा कोई न हो सकेगा जो कविता या काव्य के स्वरूप-संघटक तत्वो मे भाषा को स्थान न देता हो। क्रोचे भी आलोचक की दृष्टि से यदि बात करे तो 'भाषा' की ओर उसे भी ध्यान देना होगा। भारतीय चिंतकों ने 'भाषा' या 'अभिव्यक्ति' को पर्याप्त महत्व दिया है। प्राचीन काव्यशास्त्र मे तो काव्य की ऐसी कोई परिभाषा ही न होगी जिसमे भाषा—शब्द एव अर्थ—का सन्निवेश न हो।[1] 'वर्णना काव्यमुच्यते' और है क्या? काव्येतर क्षेत्र के मूल्यो से काव्य मूल्यवान हो या न हो, काव्य का अपना जो मूल्य है, वह स्वायत्त और स्वयं पर्याप्त भी है—'वर्णना' में, 'अभिव्यक्ति' मे। वक्रोक्ति और ध्वनि-सिद्धान्त इसी मूल्य का उद्घोष करते है। दोनो ही काव्योचित 'उक्ति' या 'अभिव्यजना' उसे मानते हैं जो सटीक हो—अपरिवर्तनीय हो, अन्यूनानतिरिक्त हो। ध्वन्यालोककार का कहना ही है—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत्॥

अर्थात् कलाकार कलाकृति मे जिस सौंदर्य को उभारना चाहता है, उसके लिए उसने जिस उक्ति का सहारा लिया है—एकमात्र वही उसके लिए क्षम हो, उसका स्थानापन्न दूसरी कोई उक्ति हो ही न सके, असभव हो, अशक्य हो। ऐसी ही उक्ति, ऐसा ही शब्द अभिप्रेतार्थ का प्रकाशन करता हुआ 'ध्वनि' पद व्यपदेश्य होता है। सही शब्द की तलाश हर कृतिकार को होती है—चाहे वह इसे श्रम से खोज ले या प्रातिभ आवेश मे पा लें। इससे भी आगे बढ़कर वक्रोक्तिकार यह कहता है कि 'वर्णना' और 'वर्ण्य' विचार की दृष्टि से (अपोद्धारबुध्या) पृथक्-पृथक् मान लिए जाते है—निर्माता की दृष्टि से ऐसा संभव ही नही है। वर्ण्य दो ही है—वस्तु का स्वभाव और व्यक्ति का भाव। वस्तु का स्वभाव निसर्ग सुन्दर भी हो सकता है और नही भी। यदि वस्तु का स्वभाव निसर्ग सुन्दर है, तो प्रातिभ कुदाल से उसे जैसे का तैसा ही कुरेद

१. कबिहिं अरथ आखर बल साँचा।—मानस

कर उभार दे और स्वतः सुन्दर न हो तब उसे अपनी ओर से सुन्दरता प्रदान करे। कुंतक ने 'वक्रता' का रहस्य उद्घाटित करते हुए कहा है---'स्वभावस्यैवागस्यैव निरूपणं वक्रतायाः परं रहस्यम्'। वक्रता कुछ और का और कर देने मे नहीं है, अपितु जो है उसको सीधे और सहज ढग मे, यथावत् रूप से उभार देने में है। वह वक्रता व्यावहारिक और शास्त्रीय उक्ति पद्धति से लक्ष्य-भेद के कारण होने वाली भिन्नता भर है---वैचित्र्यवाद नहीं। कलाकार वस्तु के स्वभाव और व्यक्ति के भाव को, जो निसर्ग सुन्दर हैं, अपने अभिव्यंजन का लक्ष्य बनाता है। शास्त्रकार या वैज्ञानिक और व्यावहारिक वक्रता का लक्ष्य यह होता ही नहीं; और होगा तब उसका कवित्व उद्रिक्त माना जायगा। वक्रता महत्व इस भिन्नता मे है---वाग्वैचित्र्यवाद में नहीं। उन्होंने कहा ही है---

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा बहिः।
वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ वन्देतरां तं पुनः
यो विज्ञात परिश्रमोऽयमनयोर्भारावतारक्षमः ॥२।१०७

एक कवि वह होता है जो वर्ण्य वस्तु-गत लीन सौंदर्य को अपनी वाणी की महिमा से उभार कर ऊपर ला देता है और दूसरा वह होता है जो वस्तु को अपनी वाणी से मनोहरता प्रदान करता है। धन्य ये दोनो ही नहीं हैं--धन्य वे भी हैं जो समझकर इन्हे राहत देते है।

इस समस्त विवेचन के आलोक में यह स्पष्ट है कि कवि या कलाकार के मानस में वर्णना और वर्ण्य अपनी अखंडता और अविच्छेद्यता में युगपत् उभरते हैं---भाषा और सौंदर्यबोध साथ-साथ उभरते हैं। वे इस प्रकार एक-रस और अनुरूप तथा युगनद्ध होते हैं कि न तो उन्हे एक दूसरे से पृथक् किया जा सकता है और न तो वर्णना के संघटक अवयवों का परिवर्तन ही किया जा सकता है। भारतीय काव्यशास्त्र का यह प्रतिमान हमारी उक्त सीमा मे शुक्लोत्तर समीक्षा-धारणा के संदर्भ मे रचित कलाकृतियों के लिए भी समान रूप से लागू किया जा सकता है। छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, नकेन-वादी, एवं नई कविता तक के लिए तो ये प्रतिमान अपनी व्याप्ति में अग्राह्य ही नहीं उपादेय भी हैं। रहे वे, जिन्हे मान्यता मात्र से ही विरोध है---उनकी बात मैं नहीं करता।

उसी प्रकार अलंकार, रीति एवं दोष छंद आदि की व्याप्ति पर विचार करने से समानताएँ प्रतीत होंगी विशेष अवश्य धूमिल हो गए

है, अतः उनका मुलम्मा घिस गया है—चमक चली गई है, पर कथन भंगिमा ही जब अलंकार का पर्याय है तो उसकी इयत्ता और अनुपयोगिता किस प्रकार संभव है? अलंकार शब्द से चिढ हो सकती है पर उसकी मूल वृत्ति से नहीं। आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि प्रातिभ आवेश में कलाकार जिस मूल संवेदन की अभिव्यक्ति करता है, उसी प्रयत्न से अनायास अंग रूप में जो भंगिमाएँ बन जायँ, वे ही 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' अलंकार हैं। यहाँ वे एक ऐसी सामान्य बात करते है जिसकी व्याप्ति तब तक बनी रहेगी जब तक कविता का माध्यम भाषा रहेगी। व्यक्ति के अंग-सन्निवेश की भाँति कविता में पद-सन्निवेश 'रीति' है—उपयोगिता इसकी भी है। काव्योचित संवेदन की अनुभव-बेला में कलाकार का समूचा शरीर—रक्त तक प्रभावित रहता है। स्नायुएँ तनी रहती है। संवेदन का जब तक पूर्ण मोचन नही हो जाता, तब तक सारा शरीरान्तर्वर्ती स्पंदन एक क्रम में बँधा रहता है। यही भीतरी क्रम-स्पंदन वाणी में गतिमयता अथवा लयवत्ता भी डाल देता है, जो छंदों के विभिन्न ढाँचों में अभिव्यक्त होता है। बात यह है कि खंडन करने वाले और संभावनाओं की नि:शेषता देखने वाले 'सामान्य' रूप को नही देखते। देखते केवल है तब तक की आविष्कृत कलाकृतियों की सौंदर्य-भंगिमाओं को ध्यान में रखते हुए निकाले गए विशेष-विशेष मानों को। ये विशेष-विशेष मान परवर्ती कलाकृतियों की नूतन भंगियों की दृष्टि से अवश्य ही अपर्याप्त और अनुपयोगी होंगे। अतः केवल तब तक आविष्कृत विशिष्ट भेद-प्रभेदों तक ही उनका ध्यान जाता है, उनको आत्मसात् कर अपनी व्याप्ति में पर्याप्त विस्तृत 'सामान्य' तक नही जाता, इसीलिए उन सीमाओं में संभावनाओं की नि:शेषता का दिखाई पडना सहज संभव है।

दूसरी आपत्ति यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र जिस प्रकार के जीवन की सर्जनात्मक अभिव्यंजना के संदर्भ में समानान्तर सृष्ट हुए है, वह जीवन और मानस धर्म तथा अध्यात्म पर आधृत उपकरणों से संकुल थे—उनकी बनावट और बुनावट से 'आधुनिक' साहित्य के मूल कारणभूत जीवन और मानस की बनावट और बुनावट ही भिन्न है। अतः दोनो भिन्न प्रकृति के उत्सों से समुद्‌गत सर्जनाओं के समानान्तर और अनुरूप आविष्कृत प्रतिमान एक दूसरे के लिए अनुपयोगी होंगे। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए यह कहा जा सकता है कि जो 'संवेदना' काव्य के रूप में मूर्त होती है उसके संघटक अवयव दो है—'भाव' और 'दृष्टि'। काव्योचित संवेदन में इन्हीं का रासायनिक मिश्रण होता है। यह एक स्वतन्त्र विवाद का प्रश्न है कि वे 'भाव' और 'दृष्टि' कहाँ

तक काव्य मे व्यक्तिगत है, समष्टिगत है या यथासंभव व्यक्तिगत है ! इस प्रश्न पर पौरस्त्य एवम् पाश्चात्य, प्राचीन तथा आधुनिक चिन्तकों ने काफी कुछ कहा है—अद्यतन सुपठित और अधीत आलोचको तथा अनुसधायको ने स पर भी बहुत कुछ सोचा विचारा है। इस प्रश्न पर यहाँ विस्तार से विचार करना तो उपयुक्त नही है, अवसर और प्रसग भी नहीं है, पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि यदि कविता व्यक्तिगत नही है, तो 'सवेदना' का भी यथासंभव अव्यक्तीकरण होना चाहिए। अस्तु, प्रकृत यह है कि 'मूल संवेदन' ही काव्य-तरु का बीज है जिसके संघटक अवयव है—'भाव' और 'दृष्टि'। शुक्लोत्तर काल में जहाँ तक छायावादी साहित्य और समीक्षा का प्रश्न है 'व्यक्ति' और 'भावना' (Individual और feeling) का पर्याप्त महत्व था। यह अवश्य था कि इससे पूर्व जिन विजड़ित ढाँचो मे जिन परि-गणित आलम्बनो से संबद्ध 'भाव' व्यक्त किए जाते थे—उन सबको तोडा गया और जीवन के साथ यथासंभव मिलाते हुए उनकी व्याप्ति विस्तृत की गई। हमारे अन्तर्राष्ट्रीय संबंध भी विस्तृत होते गए, हमारी 'दृष्टि' भी विकसित होती गई। हमने अनुभव किया कि मूल मनोवृत्तियाँ और मूल प्रणालियाँ सार्वभौम है—यद्यपि भौमिक परिवेश और सामाजिक जीवन के बाह्य रूप भेदक बन कर सदा रहे है और रहेगे। हमने देखा है कि उभयत्र आंदोलन की अतिवादी प्रतिक्रिया में 'व्यक्ति' और 'भावना' का पुन विरोध 'परम्परा', 'समाज' और 'वस्तुमुखीनता' का स्वीकार और फिर उत्तरो-त्तर विज्ञान की निष्पत्तियों पर आधृत 'दृष्टि' और जिया हुआ जीवन रचना का केन्द्र बनता गया—सामानान्तर आलोचना की सृष्टि होती गई। आज सुविधा-भोगियों की समाज-व्यवस्था पर असुविधाग्रस्त युवा रक्त क्षुब्ध है। फलत समस्त विश्व मे विभिन्न कारणो से उनका आक्रोश विभिन्न रूपो मे अभिव्यक्ति पा रहा है और काव्य की 'नई प्रवृत्ति' अथवा 'अ-प्रवृत्ति' के रूप मे सामने आ रहा है। इस अत्याधुनिक दौर मे आनेवाली पीढी श्रीहर्ष की परम्परा की वैतण्डिक पीढ़ी है। इसका 'अपना कोई पक्ष नही है', यही पक्ष है और परकीय समस्त पक्षों का खण्डन ही लक्ष्य है—'अस्वीकृति' ही झडा है। इन्हे मैं छोड़ता हूँ। पर शुक्लोत्तर शेष सर्जना और आलोचना की समानान्तर प्रवाहित धाराओ के सदर्भ मे भारतीय काव्यशास्त्र की सभावनाओं पर जब विचार करता हूँ, तब उसी उपर्युक्त मूल संवेदना (भाव + दृष्टि) की बात पर आता हूँ। 'भाव' या 'भावनाएँ' तो सार्वभौम है। वे आज तक तो नही बदलीं और न बदले हुए लोगो को देखते हुए बदलने की ही है

खैर, अंतिम बात तो कहना विज्ञान के जमाने मे खतरे से खाली नही है, पर मनुष्य 'इन्ही भावनाओं के कारण मनुष्य है—मानवीय भावनाओं के अभाव मे मनुष्य के लिए 'पशु' से बदतर संज्ञा ढूढनी होगी। छायावादी अथवा स्वच्छंदतावादी साहित्य की प्रतिक्रिया मे 'भाव' और 'व्यक्ति' का इतना विरोध हुआ कि जहाँ पहले साहित्य या काव्य सर्वस्व 'सौंदर्य' और 'आनद' का केन्द्र अथवा मूल उत्स भूमि 'भाव' था—उसकी जगह 'बुद्धि' प्रतिष्ठित हो गई। जहाँ 'भाव' की रसात्मक पर्यवसिति और प्रतिष्ठा थी, वहाँ बुद्धि को रसात्मक घोषित कर 'बुद्धिरस' की बात जाने लगी। यह नही मालूम कि 'बुद्धिरस' कह कर वे कहना क्या चाहते थे ? इस प्रसंग की अनेक बातो को यहाँ उठाने से प्रकृत विचार व्यवहित हो जायगा। जहाँ तक रोमाण्टिक भावभूमि के विपक्ष मे गैर-रोमाण्टिक भावभूमि की ग्राह्यता की बात है, भारतीय रसमिद्धान्त का उससे कोई विरोध नहीं है। गैर-रोमाण्टिक अब भाव तो है, पर उसकी हलकी उफान 'बुद्धि' की, 'दृष्टि' की आँच मे जल गयी है—वह गंभीर है। प्रगतिवादी साहित्य 'सामान्य भाव' की जगह 'सामूहिक भाव' मानता है—भाव का विरोध वह भी नही करता। भारतीय काव्यशास्त्र जब "प्रसन्नगंभीर पदाः काव्यबंधासुखावहाः" की घोषणा करता है, तब यह 'प्रसन्न-गभीर जीवन' के चित्रण की बात करता है। काव्य 'दृष्टि' का नही, जीवन' का कलात्मक उरेह है। यदि जीवन जीने के मूल में 'दृष्टि' है, तो उरेहे हुए जीवन के साथ-साथ दृष्टि सबद्ध होने के कारण स्वयं उभरती हुई चली जायगी। चित्रित जीवन यदि जलाशय है तो भाव उसका जल और दृष्टि उसकी गहराई या गंभीरता है। 'रसवाद' बुद्धि अथवा 'दृष्टि' का विरोधी नही है, क्योकि वह स्वयम् 'दृष्टि' पर आधृत है। रसवाद या रससिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है जहाँ 'उपयोगितावाद' और 'कलावाद' का ही विरोध शान्त नही होता, समंजस व्याख्यान नही होता, प्रत्युत इस विवाद का भी समाधान हो जाता है कि काव्य मे महत्व काव्येतर मूल्यों का है या काव्य के अपने मूल्य का, वर्ण्य विषय का या वर्णयिता की क्षमता अथवा प्रतिभा का ? रससिद्धान्त इन तमाम परस्पर विरोधी विचारों का समन्वय करता है। रसवाद 'सामाजिक' की वस्तु है, अत' रस व्यजक उपकरणो का समाजानुमोदित होना नितान्त आवश्यक है। सामाजिकता औचित्य का पर्याय है और औचित्य ही रस की परा उपनिषद् है। इस प्रकार उपकरण में उपयोगितावाद है और परिणाम मे कलावाद या आनंदवाद। रसवाद 'व्यक्ति' और 'दृष्टिहीनता' का विरोधी है। रससिद्धान्ती की रस कल्पना ऐसी है जो काव्य मे ही संभव है, अत' इस दृष्टि से वर्ण्यगत

समस्त मूल्यों की पर्यवसिति (काव्यानंद) कलाकृति से होने वाले आनद मे ही होती है। कभी-कभी छायावादी या स्वच्छदतावादी समीक्षक अपने संदर्भ मे रसवाद को इसलिये नाकामयाब मानते है कि रससिद्धान्त का सर्वस्व वर्ण्य है, वर्णयिता नही। यह सिद्धान्त ग्राहक-हृदय-वेधी वाण (वर्ण्य) को ही सर्वाधिक महत्व देता है—उस वर्ण्य-वाण के प्रयोक्ता के सामर्थ्य या प्रातिभबल को नही। पर यह भी उनका रससिद्धान्त के सबंध मे अज्ञान है। आनदवर्द्धन ने रससिद्धान्त की दृश्य-श्रव्य-काव्य मात्र मे व्याप्ति की प्रतिष्ठा करते हुए कहा है कि ग्राहक की प्रतिक्रिया रूप मे उत्पन्न आह्लादकर चित्तवृत्ति ही रस है—काव्य से समुद्भूत अनुकूल सवेदना ही रस है। प्रतिकूल सवेदना के लिए कोई उन्मुख ही क्यो होगा? रस की व्याप्ति आनंदवर्द्धन ने 'अनुकूल सवेदना' तक बढा दी है जब वे कहते हैं कि कवि ऐसी वस्तु का वर्णन ही क्यो करेगा जो कोई प्रभाव न छोड़े, किसी प्रकार की चित्तवृत्ति न पैदा करे? उनके शब्दो में 'चित्तवृत्ति' ही रस है। इस व्याप्ति से अपरिचित लोग ही रस के संकीर्ण ढाचे की बात करते है। रहा यह कि रससिद्धांत वर्ण्यपर्यवसायी ही है, कवयिता के सामर्थ्य का लेखा-जोखा नही करता—यह भी अज्ञान-विजृम्भण है। आनंदर्द्धन ने कहा है—

> सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
> अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥

महाकवियो की वाग्धेनु सहृदय वत्स के निमित्त जिस स्वतःस्फूर्त आनद-प्रवाहमय दुग्ध का प्रस्रवण करती है, सहृदय वत्स उस समय न केवल उस आनद या रस का ही आस्वाद लेता है, प्रत्युत उसी रसावेश मे वह कवि की प्रतिभा का भी साक्षात्कार कर लेता है—उसके सामर्थ्य और उसकी अंतश्चेतना मे निहित सौंदर्य का साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त काफी व्याप्ति रखता है। इसके साथ एकबात यह भी जान लेनी है कि रस-सिद्धान्ती यह कभी नही कहता कि चाहे जैसा भी काव्य हो और चाहे जिस किसी प्रकार की मनोवृत्ति की उपज हो—सर्वत्र रस प्रतिमान पर ही उसे कसना चाहिए। ध्वनिवादी, जो वस्तुतः रसध्वनिवादी है, का कहना है कि काव्य-समीक्षा के लिए, उसके सबंध मे अपना मत व्यक्त करने से पहले यथासंभव सहानुभूतिपूर्वक रचना के माध्यम से रचयिता के साथ एकरूप हो। इस प्रक्रिया से वह रचयिता के अन्तस् की सारी प्रक्रिया और मूल सवेदन का साक्षात्कार कर ले। वह यह भी देख ले कि मूल वृत्ति या सवेदन क्या है और उसकी अभिव्यक्ति के लिए तत्पर उपकरण किस

क्रम और तारतमिकता में सक्रिय है। इस आकलन में यदि प्रेरक वृत्ति रसमय है, तभी रसात्मक प्रतिमान का प्रयोग करें—अन्यथा रसांधता मानी जायगी, अविवेक समझा जायगा। प्राचीन रचनाएँ भी सभी रसात्मक वृत्ति का ही परिणाम न थीं—सो आज भी वहाँ और कैसे होगी ? सवाल जहाँ जो है उसके समीक्षण और उद्घाटन का है, जो नहीं है उसके समारोपण का नहीं। रससिद्धान्त की संभावना उन्हीं रचनाओं के लिए है जो अनुकूल संवेदना या रसात्मक मनोवृत्ति का समुच्छलन हों।

रहा यह कि तब से आज के मानस की बनावट और बुनावट सर्वथा भिन्न हो गई है। उस विषय में काव्य-संवेदना के दो मूलभूत अवयवों—भाव तथा दृष्टि—की दृष्टि से सोचने पर यह लगता है कि इनमें से भाव तो सार्वभौम और शाश्वतप्राय हैं, दृष्टि अवश्य बदलती रहती है। अपनी सभ्यतामय विकास की यात्रा में आज का मानव अपने रूप और व्यापार से भाव का सीधा संबंध नहीं रख रहा है—बौद्धिकता के अतिरेक से संबंध पर्याप्त घुमावदार हो गया है। भाव के ऊपर कुंडलाकार बैठी बौद्धिक जटिलता ही मुखर हो रही है—जीवन में भी और उसके प्रतिफलनात्मक काव्य में भी। पर ऐसे सर्जकों की भी कमी नहीं है जो भारतीय दृष्टि से जीवन जीते हों और हृदय तथा जगत् के निरावरण रूप-व्यापार से आकृष्ट होते हों। गीत और नवगीत वाले तो निरपवाद रूप से इस धारा के सर्जक हैं। रससिद्धान्त की संभावना उनके यहाँ तो थोड़ी-बहुत होगी। निष्कर्ष यह कि बनावट मूल-वृत्तियों के परिवर्तन से नहीं, दृष्टिमात्र के परिवर्तन और बौद्धिक जटिलताओं के कुण्डलन से है। मानस अंशतः अवश्य परिवर्तित होगा, परन्तु मूल मनोवृत्तियों के माने में नहीं। उतनी दूर तक प्राचीन मान्यताओं की व्याप्ति संभावित है भावपक्ष से। अभिव्यक्ति पक्ष से सम्बद्ध वक्रोक्ति और ध्वनि सिद्धान्त तो उक्त पद्धति से आज भी संभावनागर्भ है। रही शब्द-शक्तियाँ—तो अशक्त शब्द का समर्थक कौन होगा ? उद्दिष्ट प्रतीति विघातक दोष की स्वीकृति में किसे विसम्मति होगी ?

यह सब कहने के बाद अन्ततः एक बात यह अवश्य कहनी है कि मेरा अभिप्राय यह कभी नहीं है कि जो प्राचीन चिन्तकों ने कह दिया है—वही और उतना ही सब कुछ है, और सब व्यर्थ है। मेरा कहना यही है कि भारतीय प्रकृति और यहाँ के ग्राहकों के गुण-धर्म को समझकर उसके अनुरूप दृष्टि को व्यापकता प्रदान की जाय। इसी व्यापक दृष्टि का ही युगानुरूप विकास किया

जाय—तभी सही, सच्चा, मौलिक और उल्लेख्य विकास होगा। जिसकी अपनी कोई दृष्टि न होगी उसका अन्तराष्ट्रीय मंच पर कोई महत्व न होगा। रवीन्द्र ने अपनी रचनाओं मे अपनी मिट्टी की गंध और महक उभारी थी, अतः अन्तर्राष्ट्रीय मच पर उसका स्वागत हुआ। अज्ञेय अनेक प्रयत्नो के बावजूद वह रूप अभी उस स्तर तक अपनी रचनाओ में न उभार पाए—अन्यथा उनका भी नोबुल पुरस्कार वाला स्वप्न सार्थक हो गया होता।

● ●

भारतीय काव्यशास्त्र के पुनराख्याता : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

[क]

ाहित्यशास्त्र की रूपरेखा' प्रस्तुत करते हुये आचार्य वाजपेयी ने
ा है कि पिछली कुछ शताब्दियों के यूरोपीय समीक्षकों ने
ाचन की परम्परा का जैसा क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत किया है
पने साहित्यालोचन की परम्परा के उल्लेख में आधुनिक
ने नहीं किया। दृष्टि-भेद के कारण इस प्रकार के कार्य को
भारतीय विद्वानों से ही करना युक्तियुक्त है। दृष्टि-भेद से हमारा
र्णतावादी और अपूर्णतावादी या विकासवादी दृष्टिकोण।
दिशा में प्रयत्नशील आधुनिक विद्वानों में कदाचित् पहला
डॉ० डे का है। हिंदी में यह श्रेय आचार्य वाजपेयी को और
शपाण्डे को प्रमुख रूप से दिया जा सकता है। यों तो इतिहास
हे परन्तु उनमें व्यक्त प्रयास विशिष्ट प्रकृति का है, संश्लिष्ट
।

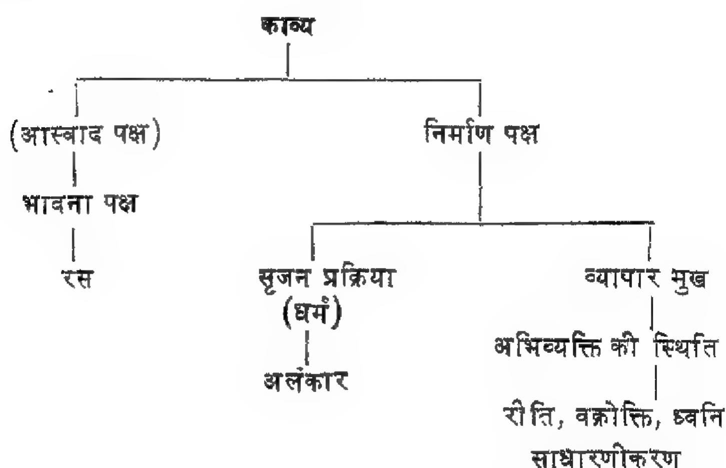
ारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा प्रस्तुत करते हुए क्रम-विकास
कर्ष रूप से निर्धारित किये हैं, वे इस प्रकार है—Formative
ve stage, Definitive stage, एवं Scholastic stage।
ागे चलकर प्राग्ध्वनि, ध्वनि एवं पश्चद्ध्वनि जैसे तीन खण्डों
क्त किया है। आचार्य वाजपेयी ने अपनी प्रस्तावित रूपरेखा
। चरण निर्धारित किये हैं, वे इस प्रकार हैं। (१) उद्भवकाल
(२) अन्वेषण या विदग्धविवेचन का युग, (३) काव्य-तत्व-
विक युग, (४) समन्वय युग या पांडित्य युग, (५) विघटन और
ा और (६) आधुनिक युग (नवजागरण काल)। इस विभा-

जन के अतिरिक्त आचार्य वाजपेयी ने आलोचक-समष्टि के अन्तर्जगत् की साहित्यशास्त्रीय विवेचनना सबधी प्रक्रिया को ध्यान मे रखकर अपनी स्वच्छ-दत.वादी प्रकृति के अनुरूप भी साहित्यालोचन के सैद्धातिक और व्यावहा-रिक पक्षो का विकास-क्रम निर्धारित किया है। सैद्धातिक पक्ष की दृष्टि से उन्होने तीन चरण बताये है (१) अन्तरग (रस) तत्त्व और उसके भावन-पक्ष का प्राधान्य, (२) अपेक्षित सर्जन-प्रक्रिया मे रूपयोजनात्मक मानस-सर्जन-प्रक्रिया तया (३) अभिव्यजना की स्थिति । पहले मे रस, दूसरे मे अलकार और तीसरे मे रीति, वक्रोक्ति तथा ध्वनि की स्थिति मानी है। इसी सदर्भ मे समुद्रबध के वर्गीकरण से उक्त विवरण की तुलना भी प्रस्तुत की है। डॉ० देशपाण्डे के अनुसार "रस को केन्द्र मे रखकर नाट्य-पक्ष से उसके विभावक रूप मे जहाँ एक ओर अभिनय की चर्चा की गई, वहाँ श्रव्यकाव्य के पक्ष मे रस का विभावन करने वाले उत्तरोत्तर सूक्ष्म तत्वो का अनुसधान होता गया जिनमे से कुछ रस के स्वरूपाधायक और कुछ उत्कर्षाधायक धर्म थे। वस्तुत:, काव्य-पक्ष से विचार करने वालो ने काव्यात्मक शब्दार्थ का शास्त्रीय शब्दार्थ से व्यावर्तक धर्म 'सौंदर्य' पाया। भामह से रुद्रट तक के किये गये प्रयासो से क्रमश: यह स्थापित किया गया कि सौंदर्य 'रस' मे है और शब्दार्थों से रसनिष्पत्ति किस प्रकार होती है, इस पर ध्वनिकार ने विचार किया। इस प्रकार रस को ही केन्द्र मे रखकर नाट्य-पक्ष और श्रव्य-पक्ष से प्रवाहित होती हुई विभिन धाराएँ ध्वनिसम्प्रदाय मे एकाकार हो उठी।" अत: देशपाण्डे ने जो विकास का सविस्तार अध्ययनपूर्वक प्रतिपादन किया है, उससे ये चरण निर्धारित हुए है—(१) क्रियाकल्प (२) काव्य लक्षण, (३) काव्यालकार, (४) साहित्य. तथा (५) साहित्यपद्धति। आचार्य वाज-पेयी की भाँति स्वसम्मत विकास की रूपरेखा निर्धारित करने मे समुद्रबध को इन्होने भी उद्धृत किया है। इस प्रकार आपातत: पृथक् प्रतीत होते हुए काव्य-सिद्धांतो मे एक अन्त.स्थित सम्बन्ध-सूत्र ढूँढ निकालने के ये ही प्रमुख प्रयास है। अन्य कुछ विद्वान् भी है, पर उन लोगो ने इस सम्बन्ध-सूत्र का उद्घाटन न कर उपलब्ध सामग्री का वर्गीकरण मात्र किया है।

इस सन्दर्भ मे आचार्य वाजपेयी जी के प्रयास की कई विशेषताएं उद्-घाटित होती है। यह सही है कि डॉ० डे अथवा देशपाण्डे ने अपने निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले आधारभूत सामग्री का विशद अध्ययन भी प्रस्तुत किया है; पर आचार्य वाजपेयी के स्वच्छंदतावादी समीक्षक मानस का सघटन उन्हे बाह्य वस्तु-विवेचन की अपेक्षा आन्तर विश्लेषण की ओर कही अधिक रुचि

के साथ प्रवृत्त करता है । यही कारण है कि विभिन्न सिद्धान्तों के अन्त-सम्बन्ध का बहुत ही आकर्षक उद्घाटन हो सका है। दूसरी विशेषता इस उद्घाटन की यह भी है कि उनके प्रयास के मूल में आंग्ल-साहित्यालोचन की समृद्ध ऐतिहासिक परम्परा के गहन अध्ययन और तज्जनित संस्कार से निर्मित निर्मल पैनी दृष्टि विशेष सक्रिय है । इसलिए वे साहित्यालोचन-प्रवण समष्टि-मानस के क्रमिक आतरिक व्यापार का मार्मिक उपस्थापन कर सके हैं। कवि-मानस का प्रथम व्यापार भाव से उमग उठना है, द्वितीय व्यापार अखण्ड व्यापार की हृदयान्तर सक्रांति के निमित्त कल्पना से सखण्ड रूपयोजना है और फिर बाह्य अभिव्यक्ति की चरम स्थिति आती है। इसी क्रमिक प्रयास के फलस्वरूप रसवाद, अलकारवाद, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि-वाद की प्रतिष्ठा होती है। डॉ० डे की विवेचना मे प्रभूत अध्ययन पर आधारित वैज्ञानिक वर्गीकरण उपलब्ध है, पर सिद्धांतो मे स्थिर साहित्यिक सबंध का ऐसा सूक्ष्म उन्मेष नही है। श्री देशपाण्डे ने साहित्य-सिद्धातों की विभिन्न धाराओ मे जो संबन्ध-सूत्र प्रदर्शित किया है, वह अविरोधी क्रमिक विकसित रूप है—रस को केन्द्र मे रखकर नाट्यपक्ष एव काव्य-पक्ष मे उस सम्बन्ध-सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। डॉ० डे एव अन्यान्य लोगो ने इन सिद्धान्तो को पारस्परिक विरोध मे गतिमान या धावमान बताया है। आचार्य वाजपेयी का अभिमत है कि काव्य के भावन और निर्माण-पक्ष से किये गये विचारो के वे सहज परिणाम है। इन तीनो विचारको मे से दो देशपाण्डे की इस विचारधारा के अनुरूप नही है कि एकमात्र इसको ही केन्द्र में रखकर विभिन्न सिद्धांत प्रवाहित हुये हैं। मेरा भी विचार इसी पक्ष का है और ऐसा होने का कारण यह है कि जब स्पष्ट रूप में वामन, कुंतक आदि रीति और वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कह रहे हैं, तो उस पर धूल किस प्रकार डाली जा सकती है? दूसरे, रस को कान्ति गुण का स्वरूप मानकर भी 'कान्तिर्दीप्तरसत्वम्' कहने वाला वामन रस को केन्द्रीय वस्तु किस प्रकार मान सकता है? आचार्य जी के विवेचन की एक और बडी विशेषता यह है कि इसमें सिद्धान्तो का पारस्परिक सम्बन्ध विरोधात्मक प्रवृत्ति के द्वारा नहीं, बल्कि साहित्यिक प्रवृत्ति के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। साहित्यिक प्रकृति यह कि पहले सम्भवत. भारतीय आचार्यों ने काव्य के भावन पक्ष पर बल इतना दिया कि निर्माण-पक्ष उपेक्षित-सा हो गया। अतः निर्माण-पक्ष मे विचार आरम्भ हुआ और तरह-तरह के सिद्धात क्रमिक रूप से विकसित होते गये।

उपर्युक्त तीनों आचार्यों के द्वारा निर्धारित साहित्यालोचन की ऐतिहासिक प्रगति के विभिन्न चरणों की जहाँ तक बात है, बहुत दूर तक वे मिलते-जुलते से है। फिर भी, जहाँ डॉ० डे एवं डॉ० देशपाण्डे ने विकास के चरणों की सीमा पण्डितराज तक ही सीमित रखी है, वहाँ वाजपेयी जी ने दो चरण और आगे के दिखाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय समीक्षा-धारा अभी प्रवहमान है। उनकी निम्नलिखित वर्गीकरण-प्रक्रिया भी नितान्त साहित्यिक और मार्मिक है—



किन्तु यह सब पश्चिमी दृष्टि से है, भारतीय दृष्टि से नही—यद्यपि ज्ञान के क्षेत्र मे वाजपेयी जी का स्वच्छंद व्यक्तित्व पूर्व एवं पश्चिम की सीमा से ऊपर उठा हुआ है और वे इसे ही पसंद करते है। दूसरी बात यह है कि वे स्थूल ऐतिहासिक ब्योरो मे न पड़कर साहित्यिक और आन्तर विश्लेषण की ओर कही अधिक उन्मुख रहते हैं।

भारतीय चिंतन को पश्चिमी सौंदर्यशास्त्र के गहन अध्ययन और मनन से जनित निर्मल दृष्टि से देखकर उन्होंने जो अपना मत प्रकट किया है, वह एक व्याख्याकार का नही, मौलिक चिंतक का है। 'रस की नई व्याख्या' का भी महत्त्व इस दृष्टि से कही ज्यादा है।

हिन्दी के अन्य मनीषियों ने ऐतिहासिक नही, सैद्धान्तिक वर्गीकरण पर अवश्य विचार किया है। शुक्ल जी ने रस के अंग रूप मे ही अन्य सिद्धान्तो की चर्चा की है। प्रसाद जी का आधार ऐतिहासिक नही, दार्शनिक है। वस्तुवादी और आत्मवादी कहलाने वाले भी साहित्यिक से अधिक दार्शनिक हैं।

अन्तरंग और बहिरंग वाले भी उन्ही के नजदीक है। भारतीय दृष्टि यह अवश्य है कि अखड (रस) सखड (रूप) होकर ही दूसरे तक (सहृदय ग्राहक तक) पहुँच सकता है, पर मानस में या प्रतिभा मे केवल रूप-योजना नही होती, अपितु अनुरूप शब्द स्फुरण भी होता है। पण्डितराज ने 'प्रतिभा' की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा है—'काव्यानुकूल शब्दार्थोस्थितिः प्रतिभा'। इस प्रकार जहाँ एक ओर भारतीय दृष्टि से 'रूप योजना' मे अलकार और अलकृत दोनो है, वही मानस-सर्जन-प्रक्रिया मे वे समस्त काव्योपकरण घटित है, जो अभिव्यक्तिकाल मे बाहर आते है। इस स्थिति मे उक्त तीन स्थितियो के अन्तर्गत विभिन्न सिद्धान्तों को रखना और फिर उसे समुद्रबंध से मिलाना अनुरूप नही है।

सम्प्रति, उनके द्वारा विवेचित एक-एक काव्य-सिद्धान्त को लेना चाहिए।

अलंकार सिद्धान्त

आचार्य जी मानते है कि अलकारवादियो ने जिस अंलकार को काव्य की आत्मा माना है, उसका प्रयोग उन लोगो ने दो अर्थो मे किया है : (१) काव्य-सौन्दर्य या कल्पना-सौन्दर्य, तथा, (२) कल्पना द्वारा समाहित रूप या अर्थ सम्बन्धी चमत्कार। पहला अलकार का व्यापक अर्थ है और दूसरा सीमित। पहला उसका अतरग पक्ष है और दूसरा बहिरग। पहले के अन्तर्गत समस्त सौन्दर्य-स्रोत (गुण, रीति, वक्रोक्ति, रस) अन्तर्भूत है और दूसरे में वक्रतामूलक अभिव्यक्ति-प्रणाली के रूप मे स्वीकार करके कतिपय अलंकार ही।

जहाँ तक अलकार के उपर्युक्त द्विविध रूप की बात है, इस विषय मे कुछ कहना आवश्यक जान पडता है। भारतीय दृष्टि से 'अलकार' शब्द के अलकार-वादियों द्वारा कथित द्विविध अर्थो को समझाया जाय, तो कहा जायगा कि इन लोगो ने 'अंलकार' शब्द का दो प्रकार की व्युत्पत्तियो के माध्यम से अर्थ किया है—भावव्युत्पत्ति (अलकरणम् अलंकार) तथा करण व्युत्पत्ति (अलंक्रियतेऽनेनेति अलकारः) । पहली दृष्टि से वह सौन्दर्यपरक अर्थ मे भी प्रयुक्त हो सकता है और दूसरी दृष्टि से व्यापक एवं सीमित सौन्दर्य-साधन के अर्थ मे। व्यापक अर्थ मे समस्त सौन्दर्य-स्रोत अलकार होगे-तथा सीमित अर्थ मे कतिपय अलकार ही। वाजपेयी जी ने 'सौन्दर्यपरक' अर्थ को व्यापक और अभिव्यक्ति-प्रणाली परक अर्थ को तथा समाहित-कल्पनाकृत रूप-सृष्टि को सीमित अर्थ मे अलकार कहा है। Image Making Faculty के रूप मे पश्चिमी दृष्टि कल्पना का कार्य

केवल रूप-सृष्टि मान सकती है, और उसी दृष्टि से वाजपेयी जी की इस उक्ति की भी सार्थकता है। पर यदि काव्यीय-कल्पना का स्थान भारतीय दृष्टि से कारयित्री प्रतिभा ग्रहण कर सकती है, तो उसकी सृष्टि के अंतर्गत मूल भाव को हृदयान्तर तक पहुँचाने के अनुरूप समस्त उपकरण सन्निविष्ट है। इस स्थिति में केवल अलंकार की बात गले के नीचे नही उतरती। यदि यथाकथञ्चित् इस पक्ष को स्वीकार भी कर लिया जाय कि कारयित्री प्रतिभा या कल्पना केवल रूप-सृष्टि ही करती है, तो भी यह विचारणीय है कि क्या समस्त रूप-सृष्टि सीमित अर्थ मे अलकार का पर्याय है ? उस रूप-सृष्टि में अलकार ही है या अलंकृत भाव-व्यजक सामग्री भी ? हाँ, यदि उसे लाक्षणिक अर्थ मे अलकार (कलापक्ष के लिये) कहना अभीष्ट हो, तो कोई आपत्ति नही। रहा कल्पनाकृत रूप-सृष्टि मे शब्दालकार का अप्रवेश, तो उसे बहिरंग मानकर उपेक्षित कर दिया गया है।

रीतिवाद

निस्सदेह, वाजपेयी जी के इस निर्णय से मै शब्दशः सहमत हूँ कि रीति-सम्प्रदाय भी अलंकार का ही एक अग माना जा सकता है। काव्य के सर्जन-पक्ष से विचार करने पर मुख्यतः दो ही काव्यात्मवादो की स्थिति जो विद्वान् करते है, उनसे में पूर्णतः सहमत हूँ। जब वामन 'सौन्दर्य' को काव्य का शास्त्रव्यावर्त्तक तत्व स्वीकार करते हैं और उसे अलकार से अभिन्न तथा एकमात्र अलकार-साध्य मानते है, तो उन्हे अलंकारवादी कहने मे हमे हिचक ही क्या हो सकती है ? पर यह अलकारवाद रीतिमुखी अलकारवाद है। जहाँ पूर्ववर्ती अलकारवादी समस्त सौन्दर्यस्रोत को अलंकार के अन्तर्गत रखते थे, वहाँ ये लोग उन्हे 'रीति' के अंतर्गत रखते है। रीति को गुणमय मानते है और अंलकार को गुण की अपेक्षा काव्य का बहिरग तथा अप्राथमिक शोभा-वर्द्धक (शोभाधायक नही) धर्म मानते हुए इतर कतिपय तत्वों को इसी में (गुण मे) समेट लेते हैं।

रीति की जो स्वरूपगत विकास और ह्रास की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, उसमें अनेक आवश्यक ऐतिहासिक तथ्य छूट गये है। उदाहरणार्थ रीति का स्वरूपगत विकास प्रान्तीय, वैषयिक और वैयक्तिक जैसी इतिहास-सम्मत भूमियों पर प्रस्तुत नहीं किया गया। रीतियों की सख्या के विकास और ह्रास के कारणो पर अनुमान करते हुए वाजपेयी जी ने जो तर्क दिया है, वह उनके मौलिक चिन्तन का ज्वलन्त प्रमाण है। उन्होने बहुत ही सही कहा है कि वामन

ने नये-नये नाम साहित्यिक शैलियों के लिये चलाये और उन्हीं की देखादेखी रुद्रट एवं भोज ने भी नये-नये प्रान्तीय नामों से अभिहित कर रीतियों की संख्या बढा दी। इसी प्रसंग में ह्रास के कारण पर जो विचार किया गया है, वह भी कम महत्त्व का नहीं है। वामन ने पूर्वागत वैदर्भ एवं गौड के अतिरिक्त एक 'पाञ्चाल' नाम भी आविष्कृत किया। साथ ही रीतियों का संबंध जहाँ एक ओर प्रांतों से स्थापित किया, वहीं दूसरी ओर गुणों से भी। संख्या प्रांतों की भी और गुणों की भी बढ़ाई। परवर्ती आचार्यों ने प्रांतों से संबंध हटाकर उसे केवल गुणों (विषय और व्यक्ति) से जोड़ा फलतः संख्या घटती गई। अंततः तो गुणों से भी रीति का संबंध समाप्त हो गया। मम्मट तक आते-आते रीति अनुप्रास अलंकार के भेद के रूप में और गुण रस के धर्म में सिमट गया। वाजपेयी जी के इस अनुमान में भी कुछ सार जान पड़ता है कि रीति और अलंकार-सम्प्रदाय के बीच किसी समय स्पर्द्धा रही होगी। रीति-वादियों ने गुण को काव्य का अनिवार्य और प्राथमिक शोभाधायक धर्म माना और अलंकार को आनुषंगिक उत्कर्षाधायक धर्म बताया। अलंकारवादियों ने तो नहीं, ध्वनिवादियों ने अवश्य त्रीस गुणों को भिन्न-भिन्न काव्यतत्वों में अंत-र्भूत कर दिया। जयदेव तक अलंकारवादी आचार्य वामन-सम्मत गुणों का पृथक् उल्लेख करता रहा। ध्वन्यालोककार के विवेचन तक यह दिखाई पड़ता है कि रीति का आधार गुण की जगह 'समास' हो गया था। आगे चलकर मम्मट-कृत विवेचन से यह निर्णीत होता है कि तब 'समास' को हटाकर कटु-मधुर एवं मिश्र वर्ण हो गये थे। इस प्रकार आधार के क्रमिक परिवर्तन से वृत्ति एवं रीति अभिन्न हो गई और रीति अलंकार के एक भेद—अनुप्रास—में सिमट गई और सिमट कर रस-निष्पत्ति में परम्परया साधक हो गई।

रीति मत से पृथक् गुण-सम्प्रदाय की बात इधर हिंदी के विभिन्न मनी-षियों ने चला रखी है, लेकिन मुझे कम से कम यह ज्ञात नहीं है कि गुण-सम्प्रदाय का प्रवर्तक कौन है।

वक्रोक्तिवाद

इस मत पर बहुत चलते ढंग से विचार किया गया है। यद्यपि ऐतिहासिक क्रम से देखा जाय तो यह मत ध्वनिमत के बाद आता है, पर सर्जना-पक्ष से किये गये विचार के फलस्वरूप अलंकार और रीतिमत के बाद इसी का क्रम आता है। वाजपेयी जी ने वक्रोक्ति का स्वरूप बताते हुए ठीक ही कहा है कि वैद-ग्ध्यभंगीभणिति द्वारा कुंतक ने रमणीय उक्ति अथवा वक्रोक्ति को काव्य की

संज्ञा देने के पश्चात् उसका विस्तार काव्य के समस्त स्वरूप का स्पर्श करते हुये किया है । हाँ, प्रभेद की चर्चा करते हुए काव्य-वक्रता की ओर गज-निमीलिका अवश्य द्रष्टव्य है ।

ध्वनिमत

ध्वनि-सिद्धात के उद्‌भव के मूल मे वाजपेयी जी इतना ही स्वीकार करना चाहते है कि काव्य मे अब तक नाट्य के समकक्ष रस' तत्त्व की मूर्द्धन्य स्थिति स्वीकृत नही थी । ध्वनि-सिद्धात के द्वारा एक तरफ काव्य का परम प्रतिपाद्य रस को ठहराया गया, तो दूसरी ओर उसके आस्वादन की प्रक्रिया समझाई गई । निस्सदेह, ध्वन्यालोककार की कई पंक्तियाँ यह सिद्ध करती है कि वे काव्य मे 'रस' को ही मूर्द्धन्य और परम प्रतिपाद्य मानते है और उसक आस्वादन का माध्यम व्यजना या ध्वनन व्यापार स्थापित करते हैं । यद्यपि आनन्दवर्द्धन ने एक जगह 'काव्य की आत्मा ध्वनि' का प्रतिपादन किया है, तथापि परवर्ती विवेचन पर गम्भीर दृष्टि निक्षेप से यह निष्कर्ष निकलता है कि उनका मान्य सिद्धात 'काव्यस्यात्मा स एवार्थ' ही है, जिसका अभिप्राय अभिनव गुप्त ने भी यही लगाया है कि आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रस्तुत क्रौंचवध की घटना के माध्यम मे काव्य का इतिहास तथा उक्त उद्धरण काव्य की आत्मा 'रस' को ही सिद्ध करते है । एक जगह तो आनन्दवर्द्धन ने यह भी कहा है कि ध्वनि-स्थापन का इतना विस्तृत ब्योरा देखकर कोई यह न समझे कि वे ध्वनि को काव्य का प्रतिपाद्य मानते है । वे तो 'रस' को ही काव्य का मूल प्रतिपाद्य मानते है । कहा ही है कि 'रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्' । इस प्रकार वाजपेयी जी की यह स्थापना बिल्कुल सही है कि आरम्भ मे ध्वनि-सिद्धात द्वारा काव्य मे रस की महत्ता और उसके आस्वादन की प्रक्रिया समझाई गई है । इसी तथ्य को 'जयशकर प्रसाद' मे बड़ी ही पैठ पूर्वक प्रस्तुत करते हुए आनन्द एवं अभिनव के साथ उन्होंने यह स्वीकार किया है कि वस्तु एव अलकार ध्वनि भी अततः रसपर्यवसायी होने के कारण ही उपचारत. काव्य की आत्मा कहे गये है ।

वाजपेयी जी की दूसरी स्थापना यह है कि परवर्ती ध्वनिसम्प्रदायानुयायियो ने ध्वनि एवं रस की काव्य मे व्याप्ति की दृष्टि से तारतम्य का भी विचार आरंभ किया । इस स्थापना से भी मै पूर्णतः सहमत हूँ । स्वय अभिनव गुप्त ने रसांध भट्टनायक की समीक्षा करते हुए सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया है कि सर्वत्र काव्यव्यवहारोचित चारुता का भार 'रस' पर ही केन्द्रित

नहीं होता, ध्वनि के अन्य प्रभेद भी उदग्र रहते है। अन्य उद्ग्रीव तत्व के बावजूद, कवि-प्रतिभा का सरम्भ होने के बावजूद भी अव्यक्त और अनुद्ग्रीव 'रस' तत्व पर ही काव्यव्यपदेशोचित चारुता का टिकाव स्वीकार करना केवल आग्रह है, विवेक नही। निष्कर्ष यह है कि 'रस' की अपेक्षा 'प्रतीयमान' या 'ध्वनि' की व्याप्ति की अधिकता पर अवश्य इन लोगों ने बल दिया। हाँ, इसी प्रसग मे एक तीसरी बात उन्होंने कही है कि ध्वनि की व्याप्ति की आपेक्षिक अधिकता स्वीकार करने वालो ने ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य एव चित्र काव्य जैसे वर्गीकरण के बीच कही रस का उल्लेख नहीं किया। यह इसलिये ठीक भी है कि स्पष्ट रूप से कही 'रस' पर आधारित वर्गीकरण नहीं है, पर इसलिए विचारणीय भी है। असलक्ष्यक्रम ध्वनि के रूप मे यहाँ भी उसका नाम है। वाजपेयी जी की इस स्थापना में भी सार है कि ध्वनि की आपेक्षिक विस्तृत व्याप्ति मानने वाले केवल एक भेद के रूप मे रस की स्थिति मानने लगे। उनके इस वक्तव्य से भी हम सहमत है कि इन ध्वनिसम्प्रदायनुयायियो ने फिर भी 'रसात्मकं वाक्य काव्यम्' के द्वारा 'रस' की प्रतिष्ठा प्रवहमान रखी और उसकी व्याप्ति मानने वालो का सर्वथा लोप नहीं हुआ।

व्यावहारिक समीक्षा के प्रसग मे 'ध्वनि' से सम्बद्ध कुछ रोचक प्रश्न भी खडे किये गये है। 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' मे 'निराला' जी पर लिखते हुए उन्होंने कहा है कि "प्राचीन शास्त्र कहते है कि ध्वनिमूलक काव्य श्रेष्ठ है पर इस आग्रह को हम हद के बाहर लिये जा रहे हैं, क्योंकि ध्वनि और अभिधा काव्य-वस्तु के भेद नहीं हैं, केवल व्यक्त करने की प्रणाली के भेद है, जो काव्य वस्तु को देखते हुए छोटी चीज हैं।" इन विवेचनाओं मे हमें आनन्दवर्द्धन की छाया दिखाई पडती है। साथ ही, कालिदास के श्री हर्ष से आपेक्षिक महत्व का समाधान मिल जाता है। आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक के चौथे अध्याय मे यह स्पष्ट सिद्ध किया है कि ध्वनि भेद प्रणाली है और अभिव्यक्ति की एक प्रणाली भी है। एक ही वक्तव्य के ध्वनि की विभिन्न प्रणालियों मे वर्णित होने के उदाहरण दिये है। दूसरी बात यह कि ध्वनि और अभिधा मे स्वरूपतः ध्वनि बडी और अभिधा छोटी है, मै भी नहीं मानता। केवल ध्वनि और अभिधा के सम्पर्क से कोई चीज छोटी बडी नहीं हो जाती, किसी वर्ण्य का महत्व घट-बढ नहीं जाता। यह तो कहने का ढंग है जो वक्तव्य को आकर्षक और अनाकर्षक बना देता है। कालिदास उपमा के कवि हैं, अत उपमा को उन्होंने शतश अभिधा मे कहा है और नैषधकार उत्प्रेक्षा-सम्राट है इसलिये वहाँ उपमा व्यग्य रहती है। यदि अभिधा और व्यंजना के महत्त्व

को हम बेहद मान लें, तो फिर कालिदास से भी हर्ष बड़े कवि हो जाते हैं, पर क्या सहृदय समीक्षक-वर्ग इसे स्वीकार करता है ?

'प्रसाद' की कामायनी की विवेचना के अवसर पर वाजपेयी जी ने ध्वनि के कतिपय प्रभेदों की भी सोदाहरण विवेचना की है. पर वहाँ यह स्पष्ट नहीं किया है कि कौन सी वस्तु और कौन सा अलंकार किस प्रकार ध्वनित हो रहा है ? संभव है, इसके मूल मे उनकी स्थूल विवरण की ओर से विमुख रहने वाली मनोवृत्ति सक्रिय हो । पर यह बात केवल इस कृति के पूर्ववर्ती संस्करण तक ही सीमित है । अपने परवर्ती संशोधित संस्करण मे इस प्रकार के असंतोष का अवसर उन्होंने नहीं रहने दिया है । उसमें समुचित उदाहरणों एवं काव्योचित तथा साहित्यशास्त्र-समर्थित विश्लेषण और विवेचन से स्थल को अधिक प्रस्फुटित कर दिया है।

रस-सिद्धान्त

वाजपेयी जी ने 'रस-सिद्धान्त' की परम्परागत और मौलिक दो प्रकार की व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। परम्परागत व्याख्याओं के प्रसंग में कुछ संशोधन भी प्रस्तुत किये हैं ।

जहाँ तक भट्टलोल्लट की व्याख्या का सम्बन्ध है, उत्पत्तिवादी (नायक के पक्ष से) और आरोपवादी (प्रेक्षक के पक्ष से) दोनों ही प्रकारों के अनुरूप उपपत्तियाँ प्रस्तुत गई हैं। शंकुक का अनुमितिवादी मत भी ठीक-ठीक ढंग से सारगर्भित रूप मे प्रस्तुत किया गया है । भट्टनायक के मत को प्रस्तुत करने के लिये बड़ा ही सुन्दर शैली मे पीठिका प्रस्तुत की गई है। भट्टलोल्लट एवं भट्टशंकुक की व्याख्या अपर्याप्त बताई गई है । भट्टनायक की अपनी व्याख्या से पूर्व. पूर्वागत व्याख्याओं द्वारा प्राप्त निष्कर्ष से दो बातें इस प्रकार की आ उपस्थित होती है कि जिनका उत्तर दिये बिना आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता । पहली बात तो यह है कि जो सामग्री मंच पर है, उसे प्रेक्षक के भावोद्‌बोध मे कारण क्यों न मान लिया जाय ? उत्तर है कि मान लिया जाता यदि उसका नायक से सम्बद्ध रूप से ज्ञान न होता । परन्तु (अन्य-सम्बद्ध फलतः) परकीय बोध एक ऐसा प्रतिबंधक है जिसके कारण इस सामग्री का उपयोग प्रत्येक के 'आस्वाद'-बोध मे तो नहीं हो सकता । वाजपेयी जी ने उन लोगों का तर्क भी बहुत ही ठीक उठाया है, जो यह मानते है कि नाटकीय प्रयोगवश एक ऐसा भ्रमात्मक वातावरण तैयार हो जाता है कि प्रेक्षक अपने को नायक से अभिन्न मान लेता है । इस स्थिति में परकीय बोध

का प्रतिबन्ध हट जाता है। पर इस पक्ष में भी एक अनिवार्य प्रतिबन्ध यह है कि नायक के साथ प्रेक्षक का तादात्म्य हो जाने पर प्रेक्षक की अनुभूति भी नायक की लौकिक अनुभूति-सी सुखात्मक (रसात्मक प्रकृति मे भिन्न) के साथ दुःखात्मक भी हो सकती है। अतः 'तादात्म्य' और 'ताटस्थ्य' का मार्ग छोडकर भट्टनायक ने प्रेक्षकगत अनुभूति के रसात्मक प्रवृत्ति को सिद्ध करने के लिये काव्य के तीन व्यापार कल्पित किये—अभिधा, भावना एवं भोग।

भट्टनायक द्वारा आविष्कृत 'भावना' और 'भोग' पर लोगो ने पर्याप्त विचार किये है। आचार्य वाजपेयी ने भावना या भावकत्व को 'भाव' के गुण माना है और बताया है कि यह और कुछ नही, बल्कि 'भावना' करने की सामर्थ्य ही है। अपने पक्ष के समर्थन मे भरत के नाट्य-शास्त्र की उस पंक्ति का आशय भी उद्धृत किया है, जिसमे यह कहा गया है कि जो काव्यार्थों को भावना का विषय बनावे, वही भाव है (काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावाः)। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा है कि काव्यार्थ रस का भावक है। इन उद्धरणों और विवेचनों को जोडकर यदि आचार्य जी का मंतव्य स्पष्ट किया जाय, तो यह कहा जा सकता है कि 'भावना' एक व्यापार है और ('भावकत्व' रूप में) वह 'भाव' का गुण है। भावना करने की सामर्थ्य है किस विषय की ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये आचार्य जी ने कहा है कि भावना का विषय है काव्यार्थ। अभिनवगुप्त ने भी बिलकुल यही बात कही है कि 'काव्यार्थ' का अर्थ यहाँ 'रस' है, 'काव्य में वर्णित अर्थ' नही। इन विवेचनाओ मे स्वाभाविक चिन्तन के माध्यम से आचार्य जी वहाँ पहुँच गये है, जहाँ अभिनवगुप्त। पर इस प्रसंग और विवेचन के संदर्भ में केवल एक ही उक्त वाक्य 'काव्यार्थ रस का भावक' कुछ सगत नही लगता। यदि काव्यार्थ का अर्थ 'काव्य मे वर्णित अर्थ' लिया जाय, तब तो अवश्य संगति नही लगाई जा सकती है। पर तब 'काव्यार्थ' भी भावक अर्थात् 'भावन' व्यापार का आश्रय हुआ और 'भाव' को भी भावकत्व या भावना का आश्रय कहा गया है, अतः इस भासमान असगति का परिहार किस प्रकार हो सकेगा ? हाँ, यदि काव्यार्थ का अर्थ काव्य मे वर्णित 'भावात्मक' अर्थ ले लिया जाय, तो सगति लगाई जा सकती है। फिर भी, इस विवेचन के संदर्भ मे 'काव्यार्थ' शब्द का 'रस', 'भाव' एवं काव्य वर्णित 'व्यंजक अर्थ' तीनों अर्थों में प्रयोग करना तो विचारणीय हो ही जाता है। यों 'भावन' या 'भावना' पर इधर डॉ० नगेन्द्र तथा अन्य विचारकों के भी ऐसे बहुरूपी विचार आये हैं कि उन सब के सन्दर्भ में वाजपेयी जी के विचारों का मूल्यांकन किया जा सकता है, पर वह एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय होगा।

'भावना' के अनन्तर 'भोग' पक्ष की व्याख्या में वाजपेयी ने जी दार्शनिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से विचार किया है। कतिपय अन्य मूर्द्धन्य समीक्षक काव्य के इस भोगात्मक आस्वाद और तदर्थ अपेक्षित व्यापार दोनों पर अनपेक्षित स्तर तक मनोविज्ञानशास्त्र का सहारा लेने लगे हैं। वाजपेयी जी स्वयं प्रयोग काल में पड़े हुए का सहारा दूसरे के निर्णय में लेना नहीं चाहते।

परम्परानुसार उन्होंने भोग के दार्शनिक रूप का सक्षेप में स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस क्रिया के द्वारा साधारणीकृत स्थायी भाव का रस-रूप में उपभोग होता है, उसे भोजकत्व कहते हैं। रजस और तमस् विहीन सात्विक मन ही काव्य-रस का भोग करता है। आगे उसी का (पश्चिमी) साहित्यिक दृष्टि से स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है, "इस स्थिति में सांसारिक दृश्य और संवेदनायें तिरोहित हो जाती हैं, शुद्ध साहित्यिक (कल्पना-जन्य) आनन्द उपलब्ध होता है। यह आनद इसलिये ब्रह्मानन्द सहोदर कहलाता है।"

साहित्यिक दृष्टि से उन्होंने इस आस्वाद को वह कल्पना-जन्य आनन्द बताया है जिसमें आस्वाद्य सामग्री के व्यवहारोपयोगी पक्ष और तज्जन्य संवेदनायें तिरोहित हो जाती हैं तथा सामग्रीगत आनन्दोद्रेकानुरूप पक्ष कल्पना-गृहीत होकर काव्यास्वाद का अनुभव करता है। एडिसन ने भी कल्पनाजनित आनन्द की कुछ ऐसी ही व्याख्या प्रस्तुत की है। भारतीय दृष्टि से वाजपेयी जी यह स्वीकार करते हैं कि वह आनन्द ब्रह्मानन्द सहोदर है और 'निकष' की भूमिका में तो उन्होंने यह भी कहा है कि इस आनन्द को लौकिक या अलौकिक दोनों कहा जा सकता है। वाजपेयी जी के इस वक्तव्य को कुछ लोग बचाव की कौशलपूर्ण पदावली समझते हैं, पर मैं यह नहीं मानता। इस आस्वाद को इस दृष्टि से 'लौकिक' भी कहा जा सकता है कि लोक में रहने वाले सहृदय इसका आस्वाद करते हैं, पर साथ ही कहीं यह प्रश्न न हो जाय कि अन्यविध लोकगत ऐन्द्रिय अनुभूतियों की क्या संज्ञा दी जाय ? क्योंकि एक ही संज्ञा में दोनों का बोध करना ठीक न होगा। जिस प्रकार केवल 'लौकिक' संज्ञा भ्रामक है, उसी प्रकार केवल 'अलौकिक' संज्ञा भी भ्रामक है। केवल 'अलौकिक' कहने से यह भ्रम खड़ा हो सकता है कि रसानुभूति कोई लोकोत्तर भूमिका की चीज तो नहीं है ? अतः वाजपेयी जी ने दोनों ही शब्दों का प्रयोग करके दोनों शब्दों से होने वाली भ्रांतियों की जैसे नाकाबन्दी सी कर दी है।

अभिनवगुप्त की रस-व्याख्या को उपस्थित करते हुए उन्होंने भी परम्परागत प्रसिद्धि के अनुरूप यह स्वीकार किया है कि अभिनवगुप्त का भ

से वैशिष्ट्य सहज ही इस बात में है कि जहाँ भट्टनायक भावना और भोग नामक दो पृथक्-पृथक् व्यापार काव्यरसास्वाद के लिए स्वीकार करते हैं वहाँ अभिनवगुप्त इन दोनों के कार्य को एक मात्र व्यजना-साध्य मान लेते हैं। इसलिए वे अवश्य स्वीकार्य व्यजना से भिन्न दो नवीन काव्य-शक्तियों की कल्पना अत्यावश्यक मानते हैं। परवर्ती व्याख्याकारों ने एक अन्तर और लक्षित किया है और वह यह है कि भट्टनायक के यहाँ भी जो स्थायी भाव भोग-गोचर होता है वह 'तटस्थ' (नायक) का ही है, प्रक्षेक का अपना नहीं। अतः भट्टलोल्लट एव शकुक की भाँति 'ताटस्थ्य' वाला आक्षेप इनके मन में भी सिर उठा सकता है। रस-प्रदीपकार ने इसके परिहार के लिये मीमासकों के 'विवेका-ग्रह' वाला पथ पकड़ा है। पर 'बालप्रिया'-कार एवं 'बालबोधिनी'-कार ने साधारणीकरण की प्रक्रिया को ही इस ताटस्थ्य निवारण के लिए पर्याप्त समझ लिया है, अत. इस ताटस्थ्य का उल्लेख करते हुए भी इसके समाधान का अति-रिक्त प्रयास नहीं किया है।

जहाँ एक ओर वाजपेयी जी ने रस-व्याख्या संबंधी इन चार मतों को प्रस्तुत किया है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने यह भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न खड़ा किया है कि जब लोचन में १२-१३ मतों का और रसगंगाधर में कुल ११ रस-व्याख्या से सम्बद्ध मतों का उल्लेख किया गया है, तो क्या कारण है कि उनमें से केवल चार को ही विशेष महत्त्व दिया गया—उन्हीं का लोगों ने केवल या विशेषतः उल्लेख किया ? जब अभिनवगुप्त के अतिरिक्त शेष तीन व्याख्याकारों के मत और लोगों के मतों की ही तरह निस्सार थे, तो इनको भी क्यों नहीं उपेक्षित कर दिया गया ? आचार्य जी का अनुमान है कि इन तीनों मतों की आपेक्षिक अतात्त्विकता भले ही हो, दार्शनिक दृष्टि से इनका महत्त्व भले ही अपेक्षाकृत न्यून या न्यूनतर हो, पर सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से यदि इन व्याख्याओं का महत्व पुनः समझने की चेष्टा की जाय, तो ऐसा स्पष्ट जान पड़ेगा कि इन मतों में भी कुछ तत्त्व है। वे निरी भौंड़ी और अस्वीकार्य व्याख्याये नहीं हैं। चिंतन की इस लम्बायमान विचार-परम्परा में दार्शनिक दृष्टि से हटकर सभवतः पहली बार वाजपेयी जी ने सौंदर्यशास्त्रीय एक नई दृष्टि से इन अवास्तविक करार दिये मतों का पुनर्मूल्यांकन किया है।

वाजपेयी जी का विचार है कि ये चारों मत क्रमशः काव्य की प्रेषणीयता और काव्यरस में अस्वादन की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते हैं और

उनमे से प्रत्येक मत समस्या के एक-एक पहलू को लेकर आगे बढ़ता है। भट्टलोल्लट के मत का सम्बन्ध काव्य की निर्माणात्मक प्रक्रिया से है। इन्होंने नायक मे रस की स्थिति स्वीकार कर इस बात पर बल दिया कि कवि की प्रतिभा में, कल्पना जगत् में, उपस्थित नायक मे (नायक-नायिका के व्यवहार द्वारा) रसात्मक स्थिति नही रही, तो काव्य द्वारा वर्णित होकर भी वह पाठक या प्रेक्षक मे रसात्मक बोध कैसे करा सकेगा ? इस प्रकार निर्माण पक्ष से विचार करने पर भट्टनायक के मत का भी महत्त्व प्रतीत होता है। भट्ट शंकुक के अनुमितिवादी व्याख्यान का महत्त्व इस बात मे है कि वह नायक-नायिका के निर्माण में निहित कवि की सौंदर्य साधना को सहृदयों तक पहुँचाने की दिशा मे किया गया प्रयास है। मध्यवर्ती नट की स्थिति द्वारा उसका महत्त्व बताने वाले शंकुक की व्याख्या का संबंध काव्य-कला की अपेक्षा अभिनय कला से ज्यादा है। भट्टनायक ने एक सीढ़ी और आगे बढ़कर 'भावना' व्यापार के आविष्कार द्वारा काव्य और सहृदय के सम्बन्ध और सामर्थ्य को स्पष्ट किया। अभिनवगुप्त ने उनसे भी आगे बढ़कर काव्य की ध्वन्यात्मकता का—रस प्रतीति कराने की सामर्थ्य का—विश्लेषण किया। इसी प्रकार ये चारों मत जैसे एक क्रमबद्ध योजना के क्रमिक सोपान है। साथ ही इस दृष्टि मे अपनी-अपनी जगह चारों का महत्त्व है।

रस-प्रक्रिया मे सम्बद्ध वाजपेयी जी के 'साधारणीकरण' सबधी विवेचन का मूल्याकन अभी अवशिष्ट है। इस विषय मे सबद्ध उनके सारगर्भित विवेचन को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। (१) भट्टनायक का साधारणीकरण सिद्धांत केवल काव्य की सामर्थ्य का लेखा न लगाकर दर्शक की सामर्थ्य का भी व्याख्यान करता है। (२) इस प्रसग मे आचार्यो की यह दलील असाहित्यिक ही है कि पूज्य व्यक्तियों या देव के रतिभाव का साधारणीकरण प्रेक्षक को नही हो सकता। जब मूल प्रणेता ने उस भाव की अनुभूति द्वारा उसे प्रस्तुत किया है तो वैसी ही भाव-सृष्टि प्रेक्षक या पाठक मे क्यों कर न हो सकेगी ? (३) साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य है। (४) साधारणीकरण वास्तव मे कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है—केवल किसी पात्र विशेष का नही।

जहाँ तक पहला पक्ष है, यह तो स्पष्ट ही है कि भट्टनायक ने 'भावना' को काव्य का एक व्यापार या सामर्थ्य माना ही है। लेकिन पाठक मे भी भावना की क्षमता होनी आवश्यक है अन्यथा अक्षम पाठक को भी रसास्वा

दकर्त्ता मानना होगा। दूसरी दलील को असाहित्यिक कहना भी बिल्कुल संगत जान पड़ता है। संगत इसलिये जान पड़ता है कि यदि अरसोचित तत्त्व उभाड़ दिया जाय, तभी साधारणीकरण न होगा और ऐसा करना असाहित्यिकता ही तो है। फिर उसके लिये दी गई दलील भी असाहित्यिक कही जाय, तो इसमें अनौचित्य क्या है ? तीसरे सूत्र का भी अर्थ यही है कि रचयिता की अनुभूति रचयिता मात्र की अनुभूति न होकर, असाधारण न रहकर उपभोक्ता या सहृदयमात्र की हो जाय—साधारण हो जाय। और ऐसा होने के लिए समस्त कवि कल्पित या रचियता द्वारा उपस्थापित रसोपकरण को निर्विशेप हो जाना पड़ेगा, यही बात चौथे सूत्र से वाजपेयी जी ने कही है। भारतीय आचार्यों ने तो रसोपकरण की ही नहीं, रसयिता की भी संकुचित प्रभावता का विगलन स्वीकार किया है।

इन काव्य-सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने क्षेमेन्द्र के औचित्य मत का भी उल्लेख किया है और कहा है कि यह कोई स्वतन्त्र मत नहीं है, इसमें तो केवल विभिन्न काव्यतत्त्वों के समन्वय की योजना है। औचित्य-सम्बन्धी उनका एक सारगर्भित लेख 'साहित्यालोचन' में प्रकाशित हुआ, जिसका साराश इस है प्रकार है। (१) इनका औचित्य सम्बन्धी विवेचन कोई नया सिद्धांत नहीं है, वह तो व्यावहारिक समीक्षा का आश्रय लिये हुए है। (२) औचित्य मत के दो मुख्य आधार है—कला-सम्बन्धी और नीति संबंधी (३) औचित्य का नियामक लोक ही नहीं, काव्य और शास्त्र की भी अलोकोपलब्ध सरणियाँ हो सकती हैं। (४) औचित्य मत पश्चिमी अंग-संगति की अपेक्षा व्यापक है।

औचित्य के सम्बन्ध मे इधर तीन प्रकार के विचार मिलते है—कुछ एक लोग यह मानते है कि अलंकार, रीति आदि के समान यह भी नूतन काव्यात्मवाद है। आचार्य जी इस विचार से कतई सहमत नहीं है, और न होना ही मेरी दृष्टि मे भी सही है। कारण यह है कि औचित्य अपने आप मे कोई निरपेक्ष तत्त्व नहीं है, वह तो काव्य के किसी मूर्द्धन्य (रस) तत्व की दृष्टि से निहित और परीक्षित होता है, अत: यह स्वतः आत्मस्थानीय हो ही नहीं सकता। दूसरे दल वाले यह मानते है कि आनन्द एव अभिनवगुप्त की परम्परा से हटकर क्षेमेन्द्र ने औचित्य के अंग रूप मे 'रसौचित्य' का विचार कथा है, जबकि आनन्द एव अभिनव 'रस' के अंग रूप मे 'औचित्य' की

समीक्षा करते है। इसके विरोध मे तीसरे लोग यह स्वीकार करते हैं कि क्षेमेंद्र है आनन्द और अभिनव की ही परम्परा मे (मुझे नही अभिमत है), पर जो वह 'रस' का औचित्य के अग या काव्याग रूप मे विचार करते है उसका मूल रहस्य है आनन्द और क्षेमेन्द्र के विचार का दृष्टिभेद। आनन्द या अभिनव ग्राहक की दृष्टि से 'रस' को मूर्द्धन्य और उसकी निष्पत्ति के लिये अगरूप मे औचित्य का विधान करते हैं, जबकि क्षेमेंद्र व्यावहारिक समीक्षा की दृष्टि से औचित्य का विचार रस-निर्वाह के प्रसंग में करते हैं। वाजपेयी जी भी यही स्वीकार करते है कि क्षेमेंद्र अपने औचित्य का विवेचन करने मे व्यावहारिक समीक्षा का आश्रय लिए हुए है। उनकी दृष्टि यहाँ सैद्धांतिक नही, व्यावहारिक है और व्यावहारिक होने पर काव्य के समस्त अंग या अंगी औचित्य विचार की दृष्टि से परीक्षित होगे ही। यही कारण है कि रस को सैद्धांतिक दृष्टि से आनन्द और अभिनव की भाँति मूर्द्धन्य मानते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने 'औचित्य' का प्रयोग 'रस' पर भी किया है।

प्राय. औचित्य पर विचार करने वाले लोग या तो उसके कला-पक्ष पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करते हुए उसे 'सदृश-नियोजन' मे ही सीमित कर देते है या वर्ण्य-पक्ष से विचार करते हुए नैतिक सामाजिक मान्यताओ तक ही परिमित कर देते है। वाजपेयी जी ने औचित्य के इन दोनो पक्षों पर संतुलित विचार प्रस्तुत किये है। कई-कई लोग भरत आदि को उद्धृत करते हुए इस औचित्य का निर्धारक स्रोत एक मात्र 'लोक' को ही मानते है—और निस्सन्देह 'औचित्य' की समय के साथ बदलती हुई धारणा लोक प्रवृत्ति द्वारा ही निर्धारित हो सकती है पर काव्य एव शास्त्र के भी कुछ अपने आदर्श और अपनी रीतियाँ होती है, कवि-सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्ति को इन औचित्यनियामक स्रोतों से भी परिचित होना चाहिए। यद्यपि क्रांति-प्रेमी इसका विरोध करेंगे, पर परम्पराविच्छिन्न गगन बेलि-जैसी क्रांति स्वस्थ क्रांति नही हो सकती। हाँ, उसके साथ यह भी है कि परम्परा भी वही स्वस्थ हो सकती है जो निर्जीव कीटाणुओं को पहचाने और उन्हे जीवनी शक्ति के अनुरूप न समझ कर उनका त्याग करे तथा जीवन्त धारणाओ के साथ बढ़ती चले। आचार्य वाजपेयी का व्यक्तित्व इन्हीं आदर्शों के अनुरूप प्राचीनता के प्रति आस्थावान है, साथ ही प्रगति-शील और दकियानूसी वातावरण को छोड़कर विकास के अनुरूप स्वच्छंदता का स्वागत करने वाला है।

[ख]

'भारतीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा' पर ही विचार करते हुये आचार्य वाजपेयी ने न केवल काव्य-सिद्धांत पक्ष की प्रत्युत व्यवहारपक्ष की भी चर्चा की है। उन्होंने इसके अन्तर्गत काव्य के बहुसंख्य गुण-दोषों, भाषा एवं रीति से संबंध रखने वाले अनेक तत्त्वों का उल्लेख किया है। साथ ही शब्द-शक्ति एवं विभिन्न काव्य रूपों के संगठन तथा बाह्य अवयवों की भी बात कही है। बाद में इन व्यावहारिक और विशिष्ट पक्षों के संबंध में यह कहा है कि भारतीय आचार्यों ने इन्हें उपयुक्त धरातल पर स्थित नहीं रखा है, यहाँ तक कि कुछ तत्त्वों की विवेचना में वे लक्ष्य (साहित्यिक) छोड़कर इतनी दूर चले गये हैं कि उनका लक्ष्य अकाव्यशास्त्रीय क्षेत्रों में हो गया है। इसीलिये दूसरी आपत्ति यह भी की गई है कि काव्य के ये व्यावहारिक पक्ष प्रायः विश्लिष्ट रह गये हैं। शब्द-शक्तियों के संबंध में भी आचार्य जी ने यह धारणा प्रकट की है कि शब्द-शक्ति से संबद्ध विचारों का भी सम्यक् विनियोग काव्यशास्त्र की समस्या के साथ नहीं हो पाया है।

निस्सन्देह भारतीय आचार्यों की काव्यशास्त्रीय चर्चाओं में विवेचना और वर्गीकरण के लक्ष्य से दूर जा पड़ने वाली, साहित्य की सीमा को लाँघ जाने वाली बारीकियाँ दृष्टिगोचर होती हैं और इसीलिये कभी-कभी साहित्यिक उपकरणों में विश्लिष्टता के तत्त्व भी मिल जाते हैं। उदाहरण के लिये हम एक ओर भामह, दण्डी एवं उद्भट की काव्यतत्त्व-संबंधी विवेचनाओं को ले लें तो हम पायेंगे कि उनमें दोष, गुण एवं अलंकारों का पृथक्-पृथक् निरूपण तो है, पर उनका निरूपण करते हुये यह नहीं बताया जा रहा है कि काव्य के अमुक मूर्धन्य तत्त्व को या तत्संबंधी औचित्य को ध्यान में रखकर उनको अमुक ढंग से काव्योचित सीमा में संश्लिष्ट रूप से विनियोजित किया जाय। दूसरी ओर साहित्य-दर्पण के लक्षणा-संबंधी वर्गीकरण को ले लिया जाय, जिसमें लक्षणा के ८०-८४ भेद गिनाये हैं, पर भेद गिनाते समय यह ध्यान नहीं दिया गया कि ये प्रभेद केवल प्रभेदकरण संबंधी प्रातिभ-पाटव के प्रदर्शनार्थ हैं या इसका कोई साहित्यिक उपयोग भी है? इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि काव्य के अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों का उतना उपेक्षित और साहित्योचित ढंग से सविस्तर विचार नहीं हो पाया है जितना अधिक परवर्ती आचार्यों ने अलंकार-स्वरूप-निरूपण संबंधी शास्त्रार्थ में, बाल की खाल निकालने में कोशिश की है। काव्य के भावन-पक्ष पर विचार अवश्य

केंद्रित हुआ, पर कितने आलंकारिक है जो अभिनवगुप्त की भाँति काव्योचित ढंग से उसपर विचार करते हैं ? वे प्राय दार्शनिक मतवादों की बारीकियों मे साहित्यिक समाधान को उलझा देते है। इसी दौड़ान मे काव्य के निर्माणपक्ष से उठाई जाने वाली आतर प्रातिभ-प्रक्रिया का सूक्ष्म विवेचन रह भी गया है। सूत्रात्मक सकेत अवश्य उपलब्ध हैं, पर क्या उनकी व्याख्या और विस्तृति अपेक्षित नही थी ? म०म० कुप्पूस्वामी शास्त्री ने तो अपने 'High-ways and By-ways' मे भावन-पक्ष पर ही विचार करने के फलस्वरूप आविष्कृत ध्वनि-सिद्धांत की अतिरिक्त बौद्धिकता को आचार्य जी के ही शब्दो में स्मरण किया है।

परन्तु इन कतिपय 'उपेक्षाओ' और 'अतिरेकों' के सत्य होने पर भी अनेक ऐसे भारतीय आचार्य है जिन्होने यदि एक ओर वर्गीकरण के सदर्भ मे अपने को साहित्यिक सीमा मे ही रखा है तो दूसरी ओर व्यावहारिक पक्षो का निरूपण करते हुये सश्लेष पर भी ध्यान केन्द्रित किया है। जिन आचार्यों ने इस प्रकार की सावधानी बरती है, उनका प्रदेय उन्हे मिलना चाहिए। आचार्य जी इस सावधानी और साहित्यिक प्रयासो का स्वागत करते हैं।

पहले शब्द-शक्तियो को ही लें। शब्द-शक्तियो का जैसा सूक्ष्म एव गम्भीर विवेचन काव्येतर शास्त्रो मे मिलता है, वैसा साहित्य के लक्षणग्रन्थो मे उपलब्ध नही है। दूसरी बात यह है कि शब्द-शक्तियो का आरम्भ भी पहले काव्येतर शास्त्रो मे ही हुआ है। साहित्यशास्त्र मे ८वी-६वी शती तक क्या आनन्दवर्द्धन (६वी शती) से पूर्व शब्द-शक्तियो की चर्चा नितात नगण्य रूप मे रही है। आनन्दवर्द्धन ने पहले-पहल साहित्यशास्त्र की महत्त्वपूर्ण समस्या—रस की प्राप्ति किस शब्द-शक्ति से ?—का समाधान खोजते हुए वैयाकरणो के स्फोट-सिद्धात से प्रेरणा प्राप्त कर व्यञ्जना की स्थापना की और विपक्षियो को जमकर उत्तर दिया। अन्य दर्शनो के प्रबलतर सस्कार वाले कुछ आचार्य अपनी व्युत्पत्ति के बल पर 'व्यञ्जना' के सम्बन्ध मे (साहित्यिक कृति का स्वाँग भरने वाले ग्रन्थों में) जो कुछ असाहित्यिक स्थापनाएँ दे गये हैं, सच्चे साहित्य-मर्मज्ञो ने उसका पुनः साहित्योचित सस्कार किया है। महिमभट्ट इस प्रसंग मे स्मरणीय है। 'व्यञ्जना' के आचार्यो ने जो शाब्दी और आर्थी भेद किये है, मर्मज्ञ उसकी साहित्यिक उपादेयता से परिचित है। हाँ, व्यञ्जना के आधार पर गुणीभूत व्यग्य एवं ध्वनि के अनन्त भेदो को लेकर कहा जा सकता है कि क्या ऐसा करते हुए ये आचार्य व्यजना के मूलत साध्य रस से अपने को

दूर नही खीच ले गये ? इस विषय मे जहाँ तक आनन्दवर्द्धन का सवाल है, उन्हे अपनी साहित्यिक समस्या और मूल साध्य का पूरा स्मरण है । उन्होने जैसे इन दोनो शंकाओ का समाधान ही सोचकर यह कहा होगा कि व्यजना-सम्बन्धी उनके महान् प्रयास को देखकर कोई यह न समझने लगे कि इन्होने ध्वन्यालोक का निर्माण मुख्यत. ध्वनि-सिद्धांत की स्थापना के लिये ही किया है । उन्होने स्पष्टत: कहा है कि उनकी उस समस्त कृति का प्रतिपाद्य यह है कि काव्य का मूर्द्धन्य तत्त्व 'रस' है और उसके ग्रहण के लिये व्यजना या ध्वनि-सिद्धात का आविष्कार है । उन्होने इसीलिये कहा है—

व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि ।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ।।

उन्होने यह भी स्वीकार किया है कि यह 'रस' तत्त्व ही है जिसके सम्पर्श से लाख बार सुनी हुई बात भी नई सी लगने लगती है । वसत का सस्पर्श ही पुराने तरुओ को भी नया बना देता है ।

दूसरी शब्द-शक्ति है लक्षणा । काव्येतर शास्त्रो मे लक्षणा पर बहुत सूक्ष्म और विस्तीर्ण शास्त्रार्थ उपलब्ध है, पर काव्यशास्त्र मे काव्यीय उपयोगिता को देखते हुये आचार्यों ने अपनी आवश्यकता के अनुरूप बने-बनाये विचार उनमे ले लिये है । जहाँ तक लक्षणा के 'स्वरूप' का सम्बन्ध है, साहित्यिको ने न्याय-दर्शन एव मीमांसा-दर्शन के सिद्धान्तो को अपना लिया है, पर उसके निमित्त पक्ष से विचार करते हुये 'प्रयोजन' (या व्यग्य) की साहित्यिक उद्भावना स्वयं कर ली है । वर्गीकरण के सम्बन्ध मे चन्द्रालोककार एव साहित्यदर्पणकार कुछ लक्ष्य से अवश्य विच्छिन्न है, पर मम्मट भी हैं कि जिन्होने साहित्यिक महत्त्व रखने के कारण लक्षणा के 'प्रयोजनवती' रूप के ही छः भेदो को लक्षणा कहा है—'लक्षणा षट्विधा मता' । निरूढा की चर्चा करते हुये भी उसकी असाहित्यिकता के कारण जैसे उसे नही ही सा मान लिया । लक्षणा के चतुर्विध शुद्धा मे से उपादान लक्षणा का अर्थान्तर सक्रमितवाच्यध्वनि तथा लक्षणलक्षणा का अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि मे उपयोग है और सारोपा तथा साध्यवसाना का 'हेतु' अलकार मे उपयोग है । इसी प्रकार गौणी के 'सारोपा' का रूपक मे और 'साध्यवसाना' का रूपका-तिशयोक्ति मे विनियोग है । लक्षणा के ही 'अव्यग्या' का स्वत तो नही, पर सव्यग्या' की पृष्ठभूमि मे उपयोग है और सव्यग्या लक्षणा का साहित्यिक दृष्टि से ही महत्त्व है । दूसरी बात 'लक्षणा' के सम्बन्ध मे काव्येतर शास्त्रियो

से काव्यशास्त्रियों की साहित्यिक उपादेयता से सम्बन्ध रखते हुये यह भी है कि जहाँ मीमांसक आदि दार्शनिक लक्षणा को एक 'जघन्य' वृत्ति के रूप में मानते रहे, वहाँ साहित्यिक लोग काव्यीय उपादेयता की दृष्टि से उसे प्रशस्त वृत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। वामन ने तो काव्यीय वक्रोक्ति की आत्मा सादृश्याश्रित लक्षणा को कहा ही है। भोजराज तो इनसे भी आगे बढ़कर यह मानते है कि काव्य का जीवित है वक्रोक्ति और वक्रोक्ति का जीवित 'लक्षणा'।

इसके बाद आपेक्षिक दृष्टि से साहित्यिक महत्ता आती है अभिधा की। 'अभिधा' के भी स्वरूप और वर्गीकरण सम्बन्धी विवेचन में साहित्यिकों ने कोई विस्तृत शास्त्रार्थ प्रस्तुत नहीं किया। उसके प्रभेद पक्ष से और स्वरूप पक्ष से दार्शनिकों ने काफ़ी कहा-सुना है, पर साहित्यिकों ने अपनी उपादेयता के अनुरूप अपेक्षित चीजें भर ही ग्रहण की हैं। मम्मट ने अन्य पक्षों की तो उपेक्षा कर दी है। अभिधा के प्रसंग में चतुर्विध संकेतितों का केवल इसीलिये सविस्तार उल्लेख किया कि विरोधालंकार के दस भेदों में जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा-जैसे भेदों का सहारा लिया गया है।

जहाँ तक काव्य के गुण और दोषों के विवेचन को उपयुक्त धरातल पर रखने का सम्बन्ध है, गुण का विचार रीति-धर्म, रस-धर्म एवं अन्य काव्योपकरण-धर्म के रूप में वामन, आनन्दवर्द्धन एवं पण्डितराज जैसे प्रतिनिधि विचारकों ने किया है। इन सभी आचार्यों ने गुण-विवेचन को साहित्यिक लक्ष्य से विश्लिष्ट नहीं किया है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि रीति-धर्म के रूप में 'गुण' का स्वरूप और वर्गीकरण नितांत अस्पष्ट और अयौक्तिक रहा है। वहाँ बेतरीके विभिन्न स्तरीय चमत्कारोत्पादक तत्त्वों को एक 'गुण' में नाथ दिया गया है। ध्वनि-सम्प्रदाय वालों के यहाँ विश्लिष्टता का सवाल ही नहीं खड़ा होता। वहाँ तो अलंकारों की अपेक्षा रस के अंतरंग धर्म के रूप में गुण का उल्लेख और विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

जहाँ दोषों का सवाल है, कुछ आरंभिक काव्यशास्त्रियों में इन पर स्वतन्त्र अर्थात् विश्लिष्ट रूप में विचार अवश्य किया गया मिलता है, पर बाद के ध्वनि-सम्प्रदायानुयायियों ने परम्परया अथवा साक्षात् रस-विघातक या रसापकर्षक तत्त्व को ही दोष बताया है। प्रदीपकार ने 'उद्देश्यप्रतीतिविघातक' को दोष कहा है। प्रकाशकार मम्मट ने दोषों का सर्वाधिक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है, पर उनके टीकाकारों ने और कहीं-कहीं उन्होंने स्वयं स्पष्ट किया है कि किस प्रकार ये समस्त दोष साहित्यिक प्रयोगों में आकर उद्दिष्ट पक्ष का विधान करते है।

सम्प्रति, यह भी देखना चाहिये कि आचार्य जी द्वारा प्रयुक्त 'विश्लिष्ट' शब्द का क्या केवल (१) **'मुख्य प्रयोजन से विश्लिष्ट'** अर्थ में ही प्रयोग है या इस अर्थ में भी कि उन व्यावहारिक पक्षों का (२) **'लेखक के साहित्यिक** (स्वकीय एवं इतर व्यावर्तक विशेषताओं से सम्पन्न) **व्यक्तित्व से विश्लेष'** है। मैं समझता हूँ, दोनो ही अर्थो में इस समर्थ आचार्य ने 'विश्लिष्ट' शब्द का प्रयोग किया है। इस स्थिति में ऊपर कतिपय विशिष्ट व्यावहारिक प्रयोगों की विश्लिष्टता का केवल एक ही पक्ष से विचार किया गया है। दूसरे अर्थ पर ध्यान देने से भारतीय काव्यशास्त्र के गुण-दोष, भाषा, शब्द-शैली जैसे व्यावहारिक पक्ष काव्य की उत्कृष्टता और अपकृष्टता का तो थोड़ा-बहुत बोध अवश्य करा देते हैं, परन्तु निर्माता के साहित्यिक व्यक्तित्व की स्वकीय और इतरव्यावर्तक विशेषताएँ अपेक्षित मात्रा में उद्घाटित नहीं हो पातीं और इस अर्थ में 'विश्लिष्टता' का आक्षेप बहुत कुछ सार्थक हो जाता है। कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र का महा संश्लेषक 'रस' तत्त्व है, और गुण एवं दोष आदि के उससे सबद्ध विवेचन के सूत्र मिलते ही हैं और इस प्रकार कवि के रसात्मक व्यक्तित्व से गुण-दोष का विवेचन संबद्ध हो ही जाता है—फिर दूसरे अर्थ में भी विश्लिष्टता का आरोप कहाँ तक ठीक है ? पर संस्कृत साहित्य में व्यावहारिक समीक्षा का जो रूप आया है वह कवि की अपेक्षा काव्य के विवेचन से ही ज्यादा सबद्ध है—गुण एवं दोषों के उदाहरणों में काव्य का उत्कर्षापकर्ष चाहे देखने को मिल जाय पर उसमें कवि के व्यक्तित्व का साहित्यिक विश्लेषण तो शून्य ही है। बादरायण सम्बन्ध कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ, अब सवाल यह है कि आलोचक काव्य का विश्लेषण करे या कवि के काव्य-व्याप्त-मानस का ? निस्सन्देह 'क्लैसिक' प्रवृत्ति पहले पक्ष पर और रोमाण्टिक प्रवृत्ति दूसरे पक्ष पर जायगी। संस्कृत आचार्य पहले पक्ष के हैं और वाजपेयी जी दूसरे पक्ष के। इस प्रकार 'विश्लिष्ट' के दूसरे अर्थ से जहाँ तक सम्बन्ध है, निश्चय ही पौरस्त्य-पक्ष आक्षेप्य है। इस दृष्टि से आचार्य जी का कथन बहुत ही सगत है। पर इन सब दोषों का बहुत कुछ भार युग और तत्कालीन वायुमण्डल पर भी है।

[ग]

आचार्य जी के समीक्षक-मानस का संघटन पूर्णत साहित्यिक है। यही कारण है कि उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं में अन्यविध (काव्येतर) स्वर, साहित्यिक स्वर के प्रसाधन रूप में ही आते हैं। वे कहीं भी इतने उदग्र होकर

नहीं आते कि साहित्यिक स्वर उनसे दब जाय या उनके सामने मंद या निष्प्रभ पड जाय। समीक्षाओं मे मनोविज्ञान, राजनीति एवं दर्शन-शास्त्र का प्रसंग आया है, पर सर्वत्र आचार्य जी का साहित्यिक स्वर इनके अतिरेकी रूप के प्रकाशन का लोभ संवरण करता हुआ सतुलन बनाये हुये है।

यहाँ का प्रकृत विवेच्य है—आचार्य जी की समीक्षा मे भारतीय दर्शन का पक्ष। भारतीय दर्शन मुख्यत: आध्यात्मिक दर्शन है। आचार्य जी मानते है कि जिसे 'व्यापक रूप मे आध्यात्मिक दर्शन' कहते हैं, वह सम्पूर्ण आदर्श काव्य का एक सुप्रतिष्ठित दर्शन है। इस प्रकार आध्यात्मिक दर्शन की चर्चा आदर्श-काव्य के विवेचन मे तो उपलब्ध होती ही है, यथार्थ काव्य के भी प्रसग मे आनुषगिक रूप मे इसके कण उपलब्ध होते है। 'अंचल' और 'सूर' के भोग एवं लय पर्यवसायी रचनाओं की समीक्षा मे ये चीजे मिलती है। वस्तुत: एक जगह तो आचार्य जी ने काव्य और कलाओ के मूल्य निरूपण के विचार मे यह प्रश्न ही खडा किया है कि "लौकिक और अलौकिक, भौतिक और आध्यात्मिक, वास्तविक और आदर्श क्या अलग-अलग स्तरो पर है या एक ही मूल वस्तु के दो पक्ष या पहलू है ?" समाधान के रूप मे उन्होने यह माना है कि "अपनी उन्नतावस्था मे दोनो एक दूसरे के सहकारी सिद्ध होते है किन्तु जब इनमें कट्टरता बढ जाती है, साम्प्रदायिकता आ जाती है, लीक बन जाती है, तब ये एक दूसरे के विरोधी शिविरो मे रहने लगते हैं।" निस्संदेह यह समाधान भारतीय धर्म तरु के आगम एवं निगम जैसे द्विविध फलो का सरस निःष्यंद है। वे मानते है कि वस्तुवाद मे आत्म-पक्ष की तो आदर्शवाद मे बाह्य-पक्ष की (अपनी अतिरेकी प्रवृत्ति में) उपेक्षा है, पर ये दोनो ही पक्ष आध्यात्मिक दृष्टि से एक ही 'सत्य' के दो पहलू हैं। भारतीय साधना का यही परम लक्ष्य है कि वह विरोध में अविरोध का साक्षात्कार कर ले। वेदो मे विवेचित ज्ञान का साधना-पक्ष आगमो में निरूपित है। ये आगमिक 'बाह्य' को 'आंतर' का ही प्रसार मानते है, स्थूल को सूक्ष्म का ही परिणाम स्वीकार करते है। तात्त्विक स्थिति से अपरिचित अज्ञ जीव इनमे विरोध देखता है। इसलिये विरोध मे अविरोध का साक्षात्कार कर लेना ही तत्त्वज्ञान है। इसको न केवल ब्राह्मण तांत्रिक ही बल्कि बौद्ध तान्त्रिक भी स्वीकार करते है।

'साधना' की तरह 'काव्य' का स्तर भी अतिवादी स्तर नही है। यही कारण है कि निष्णात सन्तो की रचनाओं मे प्रत्येक दार्शनिक अपने-अपने पक्ष के अनुरूप सामग्री प्राप्त कर लेते है। उसमें निर्गुण-सगुण एव उभयातीत पक्ष

की चर्चा को देखकर दार्शनिक समीक्षक विवाद खड़ा कर देते हैं। साहित्यिक समीक्षक इन अनिवादो को अतात्त्विक समझ कर उसे छोड़ देता है। वह रूप, अरूप एवं रूपातीत की तह मे निहित 'एकरंग' की व्याप्ति मानता है। वाजपेयी जी ने इसी संतुलित और समन्वित धारणा के अनुरूप यह कहा है—"इस दृष्टि से न केवल भागवत और सूरसागर वरन् उपनिषद्, गीता, पुराण, भक्ति की सगुण, निर्गुण आदि शाखाओ के प्रवर्त्तक कवि और आचार्य रामानुज, मध्व, वल्लभ, चैतन्य, रामानन्द, कबीर, सूर, तुलसी सभी के बाहरी रगो मे अन्तर होते हुये भी भीतर एक ही रग मे रँगे हुये है।" (महाकवि सूरदास, पृ० ६५)। आचार्य जी की इसी संश्लिष्ट एवं तात्त्विक दृष्टि का आभास हमे वहाँ भी मिलता है जहाँ वे कहते है—"स्वार्थ या आसक्ति का त्याग प्रवृत्ति के मूल में भी है और निवृत्ति के मूल मे भी। दोनो का आधार एक ही है, किन्तु शुक्ल जी ने आधार के इस ऐक्य की ओर ध्यान न देकर निवृत्ति ओर प्रवृत्ति, ज्ञान और कर्म, व्यक्तिगत साधना और लोक धर्म—दोनो को एक दूसरे का विरोधी बना दिया है।" (हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी, पृ० ७७)। इस प्रकार जहाँ तक तात्त्विक दृष्टि और चरम लक्ष्य का सम्बन्ध है, इन पक्तियो के माध्यम से उन्होंने अपने श्रद्धेय वेदात के दार्शनिक ज्ञान और आगम के चरम साध्य की ओर इगित किया है। मेरी इन पक्तियो का निष्कर्ष यह न भी हो कि वे इस प्रकार की दृष्टि प्रस्तुत करते हुये आगम और निगम के निष्णात आचार्य है, पर इतना तो अवश्य ही है कि उनकी चिंतक-दृष्टि स्वतन्त्र चलकर भी वहाँ पहुँच सकी है। आनन्दवर्द्धन ने ठीक ही कहा है—"सवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्।"

नैगमिक अद्वैतवादी वेदांती यदि 'विरोध' में 'अविरोध' को पाना ही चरम साध्य बनाते है, तो आगमिक अद्वैतवादी उनसे एक कदम और आगे बढ़कर यह भी कहना चाहते है कि 'अविरोध' ही मे 'विरोध' की, एक ही मे दो की भी आनन्दात्मक या अबंधात्मक प्रकृति का साक्षात्कार कर लेना चाहिए—तभी 'पूर्णता' की प्राप्ति होती है। दार्शनिक धरातल पर नैगमिक अद्वैतवादी 'विरोध' (ससार) की 'अविरोध' साक्षात्कार के अनंतर 'बाधितानुवृत्ति' स्वीकार करते है, पर प्रायोगिक आगमिक अद्वैतवादी 'विरोध' मे 'अविरोध' का साक्षात्कार करने के अनन्तर 'अविरोध' में 'विरोध' या 'द्वैत' की भी सत्य एवं आनन्दात्मक स्थिति स्वीकार करता है—परमशिव मे ही 'शिव' एव 'शक्ति' की समरसीभूत स्थिति मानता है। बंधकाल मे 'द्वैत' समरस नही रहता—'प्रकाश' और 'विमर्श' अथवा 'स्वातन्त्र्य' और 'बोध' पृथक् जान पड़ते

है—मुक्तावस्था में इनका अपार्थक्य हो जाता है। तन्त्रों का यही "Two in One" चरम प्रतिपाद्य है—चाहे वे तन्त्र बौद्ध हों या ब्राह्मण। 'प्रसाद' जी इसी आगमिक साध्य के क्रान्तिदर्शी कवि हैं और आचार्य वाजपेयी उनके इस 'सामरस्य' वाले सिद्धान्त के पक्के समर्थक हैं।

'साध्य' के विवेचन के अनतर साधन और साधन-क्षेत्र के विषय में जहाँ तक वाजपेयी जी की दार्शनिक धारणा का सम्बन्ध है, वे 'वैदिक दर्शन—समग्र जीवन दृष्टि में कहते हैं—"सामूहिक आनन्द की धारणा ही वेदांत की आत्मसत्ता के मूल में है, परन्तु मैं यह नहीं मानता कि इसकी साधना जंगल ही में रहकर हो सकती है।" वे मानते हैं कि "प्राकृतिक अनुभूतियों की सत्ता स्वीकार कर उन्हीं का परिष्कार करना आत्मिक साधना की परिपाटी कही जा सकती है।"

उपर्युक्त दोनों ही उद्धरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। मैं भी यह मानता हूं कि 'साधना' की भूमि 'व्यावहारिक भूमि' ही है। वेदांत का साधनात्मक पक्ष आगम सृष्टि को ही साधनाभूमि मानता है। वस्तुतः व्यावहारिक भूमि से ऊपर उठने का मतलब भौतिक आवश्यकताओं से ऊपर उठ जाना है और यह अवस्था 'विदेह' अवस्था है। भौतिक आवश्यकताओं का अपेक्षी रहकर ससार छोड़ने का कोई अर्थ ही नहीं है—छूटा ही कहाँ संसार उससे ? भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हाथ-पाँव मारना सासारिकता नहीं तो और क्या है ? जंगल में चले जाने मात्र से यह हाथ-पाँव का मारना समाप्त नहीं हो सकता। इसकी समाप्ति के लिये सच्चा निकष व्यावहारिक जगत् है—उसी में रहकर ही वह साधना की जा सकती है और तभी अपनी परीक्षा भी होती है। हाँ, यहाँ पर यह सवाल अवश्य खड़ा होता है कि तब फिर संसारी और मुमुक्षु की चेष्टाओं में अन्तर कहाँ आया ? इसीलिये तो 'योगः कर्मसु कौशलम्' कहा गया है। वह कौशल क्या है ? आचार्य जी उसे गीताकार के अनुसार 'निष्काम कर्मयोग' मानते हैं। लेकिन इसी के साथ जब वे यह भी कहते हैं कि "**प्राकृतिक अनुभूतियों की सत्ता स्वीकार कर उन्हीं का परिष्कार करना आत्मिक साधना की परिपाटी कही जा सकती है**", तब हम उनका आगमिक साधना की ओर पक्का झुकाव देखते हैं। वस्तुतः और ध्यान से देखा जाय तो 'निष्काम कर्मयोग' और 'प्राकृतिक अनुभूतियों' की सहज-साधना में कोई तात्त्विक विरोध नहीं है। सहज साधना के माध्यम से आध्यात्मिक यात्रा करने वाले के कर्म निष्काम भावना से ही होंगे।

इस प्रकार हम देखते है कि काव्य की आलोचनात्मक भूमि पर खड़े होकर भी अपने स्वतन्त्र चिंतन से अनायास दार्शनिक साध्य एवं साधन का जो स्वरूप आचार्य जी इगित करते है, उनकी तह मे भी विचारो की परतें छिपी पडी हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि स्वच्छन्दतावादी की नैसर्गिक चितना भी वही पहुँच सकती है जहाँ शास्त्रीय चितना अपना आदर्श उत्कर्ष देखती है। वाजपेयी जी का कहना ठीक ही है कि विरोध सदा अतिवादो को लेकर खडा किया जाता है। जिसके भीतर सतुलन है उसे बाहर के आपाततः प्रतीत असतुलन मे भी संतुलन ही दिखाई पडता है।

[घ]

समीक्षक के आवश्यक गुणो की व्याख्या करने वाले प्रसिद्ध प्रतिभाशाली उपन्यासकार डी० एच० लारेन्स का कहना है—"साहित्यिक समीक्षा आलोचक की अनुभूति के तर्कसम्मत आलेख के अतिरिक्त और कुछ नही है। उसकी यह अनुभूति-प्रक्रिया उस पुस्तक के फलस्वरूप होती है जिसकी वह आलोचना कर रहा है। आलोचना कभी भी विज्ञान नही हो सकती। सर्वप्रथम यह अतिशय वैयक्तिक होती है और द्वितीय स्थान मे उसका सम्बन्ध उन मूल्यो से होता है जिनका विज्ञान निषेध करता है। समीक्षा का निकष भाव अथवा सवेदन है, तर्क अथवा विवेक नही। हम किसी कला-कृति का मूल्याकन अकृत्रिम तथा प्राणवान् भाव के ऊपर पडे हुये उसके (कृति के) प्रभाव के आधार पर करते है, अन्यथा नही। रूपाकार और शैली के संदर्भ मे सभी प्रकार की समीक्षात्मक खीचतान, तथाकथित वैज्ञानिक वर्गीकरण तथा पुस्तको के वानस्पतिक अनुकरण पर विश्लेषण केवल असगत और निरर्थक शब्द-व्यय मात्र है।

"समीक्षक को आलोच्य कलाकृति के समग्र प्रभाव और शक्ति की अनुभूति होनी चाहिए। ऐसी स्थिति मे समीक्षक को भी शक्तिसम्पन्न तथा समर्थ होना चाहिये। स्पष्ट है कि इस योग्यता के समीक्षक इने-गिने ही होते है। जो व्यक्ति क्षुद्र, निर्लज्ज एव दुर्विनीत मनोवृत्ति वाला होगा, उसकी समीक्षा भी तदनुसारिणी ही होगी और भाव-संस्कृत व्यक्ति तो 'फोनिक्स' पक्षी के समान दुर्लभ ही है। जो व्यक्ति जितना ही शास्त्रनिष्णात होगा उतना ही वह साधारण, भावरिक्त तथा जड़ होगा।

"इससे भी अधिक कलात्मकता और संवेदनशीलता में सुसंस्कृत होने पर भी व्यक्ति को परम आस्थावान् होना चाहिए। उसमे इतना साहस होना चाहिये कि वह जो अनुभव करता है, उसे स्वीकार कर सके।"

लारेंस के उक्त कथन मे समीक्षक के व्यक्तित्त्व के अन्तर्गत संवेदना, व्यक्तित्त्व, अनुभूति तथा नैतिकता को अनिवार्य तत्त्वों के रूप मे स्वीकार किया गया है। साहित्य का क्षेत्र वस्तुतः भावात्मक ही होता है—इसीलिये उससे सौन्दर्य और रसवत्ता स्वभावतः केन्द्रीय रूप में संबद्ध होते है। विचारणा को साहित्य अपने क्षेत्र मे उसी सीमा तक स्वीकार करता है जब तक वह उसका अंकुश मानकर वशवर्ती होकर चले। आचार्य वाजपेयी का समीक्षक और विचारक साहित्य के इस मूलभूत सिद्धान्त से पूर्णतया अवगत है। इसी कारण उनकी साहित्यिक विचारणा और समीक्षा मे लारेंस द्वारा निरूपित सौंदर्यवादी मानो और भावसघनता की अनुभूति का पूर्ण ईमानदारी से उपस्थापन हुआ है। आचार्य वाजपेयी के समीक्षक का आविर्भाव स्वच्छंदतावादी साहित्य की सर्जना के समानान्तर ही हुआ। आचार्य वाजपेयी ने अपने समीक्षक और विचारक के प्रथम उन्मेष में ही जिस स्वतन्त्रचेता प्रतिभा, विश्लेषण-क्षमता और विचारणा के नव्य आयाम का परिचय दिया—उसी से उनके युग-प्रवर्त्तक आचार्य का संकेत मिल जाता है। उन्होंने आलोचना के बाह्यार्थनिरूपक स्वरूप को आनुषंगिक मानकर उसके आन्तर-विश्लेषण एवं सौंदर्य-उद्घाटन रूप पर बल देते हुए एक स्थल पर कहा है—"काव्य का महत्त्व तो काव्य के अंतर्गत ही है, किसी भी बाहरी वस्तु मे नहीं। सभी बाहरी वस्तुएँ काव्य-निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती है, वे रचयिता के व्यक्तित्त्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती है और डालती भी हैं—पर इन स्वीकृतियों के साथ हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन हैं।" इस उद्धरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका समीक्षक बँधी-बँधाई समीक्षा की लीक से हटकर अपना स्वतंत्र तन्त्र निर्मित करता हुआ प्रतीत होता है। अतएव इस युग के साहित्यिक संदर्भ मे मौलिक विचारणा का सूत्रपात आचार्य वाजपेयी से ही मानना चाहिए। यहाँ पर मौलिक विचारणा से हमारा अभिप्राय उस साहित्यिक चिंतन से है जो नव्य साहित्य सर्जना के संदर्भ में समागत वैशिष्ट्यों तथा मूल्यों के संधान और प्रतिष्ठापन में सचेष्ट हो। उनकी समस्त पूर्ववर्ती समीक्षात्मक कृतियाँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं।

प्रस्तुत प्रसंग मे उनकी उन समीक्षा-सरणियो का उपस्थापन हमारा लक्ष्य है जो 'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध', 'कवि निराला', 'प्रकीर्णिका' आदि नवनिर्मित कृतियो मे उभर कर आई हैं। 'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध' शीर्षक कृति के प्राक्कथन में उन्होंने बताया है कि साहित्यकार की चेतना राष्ट्रीय भूमिका की होनी चाहिए। साहित्य के 'राष्ट्रीय स्वरूप' से उन्होंने अपना आशय स्पष्ट करते हुये कहा है—"साहित्य के राष्ट्रीय स्वरूप से मेरा आशय केवल स्वदेश पर लिखे गये साहित्य से नहीं है, वरन् उस सम्पूर्ण साहित्य से है जिसकी प्रेरणा भारतीय भूमि और परिवेश से ली गई है तथा जिसमें राष्ट्र के एकीकरण और उन्नयन की संभावनाएँ पायी जाती हैं।" इस प्रकार की व्याख्या से वे राष्ट्रीय साहित्य को जहाँ एक ओर राग-द्वेष एव प्रतिहिंसा को जन्म देने वाली संकीर्णता से ऊपर उठा ले जाते है, वही दूसरी ओर अराष्ट्रीयता का निषेध कर राष्ट्र के एकीकरण तथा उन्नयन की सभावनाओ से भी उसे समन्वित कर देते है।

आधुनिक साहित्य के समर्थ समीक्षक होने के नाते उनकी दृष्टि का उस व्यक्तिनिष्ठ नये साहित्य की ओर जाना स्वाभाविक है जिसे प्रयोगवाद, प्रयोग-शील, प्रपद्यवाद, नई कविता आदि नई संज्ञाओं से विभूषित किया गया है। इस संतुलित समीक्षक से जहाँ एक ओर इन नये साहित्यकारो को पर्याप्त प्रोत्साहन और प्रशस्ति मिली है वही दूसरी ओर साहित्यिक धुरीहीन रचनाओं और रचनाकारों को उनसे अतिशय भर्त्सना और प्रतारणा भी मिली है। इस संदर्भ मे 'आधुनिक साहित्य' तथा 'नया साहित्य और नये प्रश्न' द्रष्टव्य हैं जिनमें उन्होंने काव्य की इस तथाकथित नव्य विधा को साहित्य के लिये अवांछनीय और घातक रूप मे स्वीकार किया है। इस मान्यता की प्रतिक्रिया स्वरूप जो वाग्बाण उन्हे सहने पड़े हैं उनका प्रत्युत्तर देते हुये उन्होंने कहा है—"हमें यह ज्ञात है कि साहित्य की सृष्टि व्यक्ति करता है, व्यक्ति की ही सद्भावना और प्रेरणा साहित्य मे निहित रहती है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हमारा साहित्यिक निर्माण भी व्यक्तिकेन्द्रित बन जाय और हम केवल वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं को महत्त्व देने लगें। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि पिछले कुछ वर्षों से हमारी साहित्यिक सृष्टि व्यक्तिमुखी हो गई और यद्यपि हम साहित्य में यथार्थ का नारा लगाने लगे हैं, पर यह यथार्थ राष्ट्रीय भूमिका का यथार्थ नही है, वह हमारा निजी यथार्थ हो सकता है।"

नये काव्य के विषय में चिन्तन करते हुए उन्हे ऐसे लगा है कि उसमे या उसके स्रष्टाओं में अनास्था, कुण्ठा और नैराश्य का आतिशय्य है, फलतः उनकी

कविता का मुख्य स्वर पीड़ा से आक्रान्त है। इस पीड़ा का, उनके अनुसार आत्मपीडा मे पर्यवसान होता है और तब कविता मे शृगारिक भावना की शारीरिकता जोर पकड़ती है जिसके परिणामस्वरूप कवि मनोगुहावासी और असामाजिक हो जाता है, संयम तथा संतुलन खो देता है। असामाजिकता अपने साथ संश्लेषविरोधी विघटनकारी तत्वो को लाती है। सश्लेष-वृत्ति के साथ-साथ आने वाली रसवत्ता और सौदर्यवृत्तियाँ भी उपेक्षित होने लगती है। आचार्य वाजपेयी ने साहित्य मे भावबोध को प्राथमिकता दी है, इसीलिये बौद्धिकता के आग्रहपूर्वक सन्निवेश के वे विरोधी है। उन्होंने कहा है—"आज हिन्दी कविता, और विशेषकर प्रयोगशील कविता, जिस नये मार्ग पर चल रही है, वह भावबोध का मार्ग न होकर अलकार और उक्ति-वैचित्र्य का मार्ग है।" इसी प्रकार नये काव्य में प्रतिबिंबित 'वादी' प्रवृत्ति को भी इसलिये घातक और हेय समझते है कि एक तो वह असामाजिक संकीर्णता लाती है, दूसरे ह्रासोन्मुख विदेशी प्रवृत्तियो को प्रश्रय देती है और तीसरे राष्ट्रीय चेतना के विकास का प्रतिरोधक बन कर वैज्ञानिकता का अधानुयायी बना देती है जिससे कवि की मौलिकता को आघात लगता है।

इन नव्यतम आलोचनात्मक कृतियो मे काव्य के अतिरिक्त नाट्यसाहित्य तथा कथासाहित्य पर भी आचार्य वाजपेयी ने अपने विचार व्यक्त किये है। वाजपेयी जी गभीर अभिनेय नाटक को सर्वोत्तम कलासृष्टि मानते हैं और मानते हैं कि उन नाट्यकृतियो में महत्ता तभी आती है जब सामूहिक भावभूमि पर निर्मित होकर वे समूह का बल प्राप्त करती हैं। 'प्रसाद' के निधन के पश्चात् आने वाली नाट्यगत यथार्थपरक प्रवृत्ति ने जो इब्सन आदि पश्चिमी नाट्यकारों के प्रभाव और प्रेरणा से पनपी, फली और फूली है, यथार्थवाद की कठोर सीमाओ को स्वीकार कर, वाजपेयी जी के अनुसार अपने को पंगु बना लिया है। इसी प्रकार वे नाट्यकृतियों मे वैयक्तिक-सवेदनो को समष्टि से पृथक् चित्रित करने के पक्ष मे भी नही हैं। उन्होने कहा है—"वह (नाटककार) यदि निजी सवेदनो को प्रकाशित करता हुआ समष्टि सवेदनों को गहरा स्पर्श नहीं देता, तो किसी अन्य क्षेत्र में भले ही सफल हो, नाट्यकला के क्षेत्र मे लोक-प्रियता नही प्राप्त कर सकता।" आचार्य वाजपेयी ने आधुनिक व्यंग्यपूर्ण नाटको मे सुख-दुःख की अभिव्यक्ति को व्यक्तिगत धरातल पर प्रतिष्ठित देखा है और इस संदर्भ में बताया है—"नाटक मे व्यंग्य का अर्थ निजी असतोष की अभिव्यक्ति नही है। नाटक मे सुखान्त का अर्थ निजी भाव की अनुकूलता नहीं है, दुःखान्त का अर्थ व्यक्तिगत निराशा या पीड़न नहीं है इसका अर्थ

है—सामूहिक असतोष, सामूहिक अनुकूलत और सामूहिक दु.ख-सवेदन।"
निष्कर्ष यह कि यदि नाटक के अन्तर्गत नाटककार की जीवन के प्रति निजी व्यंग्य और असतोष की अभिव्यक्ति होगी, तो स्पष्ट है कि समष्टि का कोई उपकार न हो सकेगा, साथ ही सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को व्यापक और अकुण्ठित धरातल पर कोई प्रेरणा न मिल सकेगी।

इसी प्रकार उपन्यास या साहित्य के अन्तर्गत भी आचार्य वाजपेयी भावाभिव्यक्ति और सामाजिक सदर्भो का सतुलित सन्निवेश पसन्द करते है। जैनेन्द्र एव अज्ञेय के उपन्यासो के विश्लेषण के सन्दर्भ मे उनके एतद्विषयक मन्तव्य प्रकाशित हुए हैं। 'मृणाल' के रहस्यमय तथा दार्शनिक विचारो का उन्होने कोई सामाजिक मूल्य नही देखा है। अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' मे उन्हे कला-योजना का श्रेष्ठतम रूप और निरीक्षण की सूक्ष्मता तो उपलब्ध हुई है, किन्तु शेखर का समूचा व्यक्तित्व आत्मकेन्द्रित, विकृत और असामाजिक होने से समाज के लिये प्रेरणादायक नही प्रतीत हुआ है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा और जैनेन्द्र के औपन्यासिक प्रदेय को वे इसी सीमा तक स्वीकार करते है कि उन्होंने प्रेमचन्दयुगीन विवरणात्मक पद्धति से हिन्दी उपन्यास को हटाकर उसे मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। इलाचन्द्र जोशी के अंतश्चेतनावादी तथा यशपाल के मार्क्सवादी प्रभावो को केन्द्र बनाकर जिस निष्कर्ष पर वे पहुँचे है वह यह है कि वादी दृष्टि रखने वालो के यहाँ 'वाद' प्रमुख हो जाता है और जीवन गौण। परिणाम यह होता है कि औपन्यासिक स्थापनाएँ आरोपित और यान्त्रिक होकर समाज की सहज मनोभूमि से पृथक् हो जाती है।

● ●

उन्नीस | भारतीय काव्यशास्त्र के पुनराख्याता : डॉ० नगेन्द्र

भारतीय काव्यशास्त्र के रसेतर सम्प्रदाय मैं केवल चार मानता हूँ—अलकार, रीति ध्वनि तथा वक्रोक्ति। 'औचित्य' के लिये यद्यपि 'स्थिर काव्यस्य जीवितम्' कहा गया है, तथापि काव्यगत सौन्दर्य के परस्पर प्रतिपक्षी आत्म-स्थानीय तत्त्वों के प्रतिस्पर्द्धी रूप में क्षेमेन्द्र ने उसे नही रखा है, विपरीत इसके उसे सबका साधक और जीवित माना है। जो अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रता तथा रस का साधक है, वह प्रतिस्पर्द्धी कैसे ? इसीलिए काव्यात्मा के सम्बन्ध मे उठे हुए अनेक विकल्पों और पक्षों के समकक्ष एक प्रतिस्पर्द्धी सम्प्रदाय के रूप मे मैं इसे नही मानता। यही बात 'काव्यात्मा चमत्कृति.' के बारे में भी कही जा जा सकती है। जैसे 'औचित्य' सबका साधक है, उसी प्रकार 'चमत्कृति' सबका 'साध्य'। इसलिए रसेतर सम्प्रदायो के अन्तर्गत मैं केवल उपर्युक्त चार को ही स्थान देता हूँ। डॉ० नगेन्द्र ने भी अपनी काव्य-शास्त्रीय विवेचनाओं मे अनेकत्र कहा है—"काव्यशास्त्र मे क्रमश. अनेक वादो और सम्प्रदायो की प्रतिष्ठा हुई, जिनमे से पाँच अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हुये—-रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि-सम्प्रदाय।" डॉ० नगेन्द्र के वक्तव्यो से भी यह स्पष्ट झलकता है कि वे चाहते तो अनेक वाद और सम्प्रदाय हैं, पर प्रमुख और महत्त्वपूर्ण पाँच ही मानते है।[1] अतः उनके अनुसार भी रसेतर भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रमुख रूप से चार ही सम्प्रदायो की स्थिति है।

उक्त चतुर्विध सम्प्रदायो के सन्दर्भ में भारतीय काव्यशास्त्र के 'आख्यान' और 'पुनराख्यान' करने से पूर्व यह जान लेना चाहिए कि इन शब्दो की आशय-परिधि क्या है ? चूँकि ये शब्द व्यवस्थितार्थक होकर अद्यावधि रूढ़ अत: और पारिभाषिक नही बन सके है, अतः प्रस्तुत सन्दर्भ मे इन्हे एक व्यवस्थित

---

१ रीतिकाव्य की भूमिका, १९६४, पृ० ३३ तथा १९८।

अर्थ देकर के ही आगे बढ़ा जा सकता है। काव्यशास्त्र के 'आख्यान' से इस सन्दर्भ में मेरा आशय है मूल आख्याताओ के द्वारा अपने काल तक के सर्जनात्मक साहित्य को लक्ष्य में रखकर 'सामान्य' सिद्धान्त मे निहित 'विशेष' (भेद-उपभेद) के निरूपण का यथावृत व्याख्यान। मैं अपना आशय थोड़ा और स्पष्ट कर दूँ। भारतीय काव्यशास्त्रीय चिंतकों ने जिस सम्प्रदाय का भी काव्य के सन्दर्भ मे उपस्थापन किया है, उसको इतना सामान्य और व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है कि 'काव्य' का आत्मबीज सौन्दर्य उसमे व्याख्यात हो जाय। उन आचार्यों का यह प्रयत्न होता है कि उनके काल तक निर्मित सर्जनात्मक साहित्य के सौन्दर्य-स्रोतों का यथासम्भव विश्लेषण कर दिया जाय और उन्हें विभिन्न भेदोपभेदों मे वर्गीकृत कर सामने रख दिया जाय। इस प्रकार उनका सिद्धान्त 'सामान्य' है और तत्कालावधिक सर्जनात्मक साहित्य को लक्षित कर तदाधृत सौंदर्य-स्रोतमय भेदोपभेद 'विशेष'। इस सामान्याश्रित विशेष के यथावत् व्याख्याल को इस सन्दर्भ मे मैं 'आख्यान' कहना चाहता हूँ। 'आख्यान' के अन्तर्गत मै उस विवेचन को भी लेना चाहता हूँ जो अद्यावधि अन्य लोगो द्वारा अदृष्ट पर मूल आख्याता को (सदर्भगम्य) अभीष्ट हो। उदाहरण के रूप मे डॉ० नगेन्द्र जब रीति-सम्प्रदाय को यथावत् स्पष्ट करते है तब तो वे उस सम्प्रदाय के आख्याता हैं ही, आख्याता तब भी है जब वे विश्लेषणपूर्वक यह स्पष्ट करते है कि कांति गुणगर्भ 'गौडीया' रीति को अतात्त्विक मानने वाले वामन 'रस' को महत्त्व नही देते।[१] यदि इस आशय को डॉ० ग० त्र्य० देशपांडे ने समझा होता जो रीति-सम्प्रदाय के आख्याता हैं, तोऐसा कभी न मानते कि वामन 'रस' को 'काव्येषु दशरूपकं श्रेयः' कहकर आत्म-स्थानीय कहना चाहते हैं।[२] इस प्रकार 'आख्यान' के रूप मे सम्प्रदाय के तत्कालावधिक 'सामान्याश्रित विशेष' के यथावत् व्याख्यान को तो लिया ही जा सकता है, लिया जा सकना है उसको भी जो मूल आख्याता का अभीष्ट लोगो को प्रकाशित न हो।

'पुनराख्यान' का आशय भिन्न है, या इस सन्दर्भ मे मैं भिन्न मानना चाहना हूँ। मूल आख्याताओ के 'सामान्य' सिद्धान्त मे भविष्य के लिए सम्भावनाएँ भी निहित हैं। यदि अतीत के सिद्धान्तो मे वर्तमान से जुडने की सभावना नही है, तो उमे मृत घोषित करना चाहिए और विशुद्ध इतिहास या संग्रहालय

१. हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, पृ० १८४।

२ भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ११५।

की वस्तु समझना चाहिए। उनका ज्ञान विशुद्ध ज्ञान के लिए हो सकता है, पर वर्तमान की दृष्टि से उनमे उपयोगिता की सभावना नही हो सकती। भारतीय काव्यशास्त्र के सप्रदायों में, साम्प्रदायिक सिद्धान्तो मे ऐसी सामान्य विशेषता है जिसमें वर्तमान से भी जुडने की सभावना निहित लक्षित होती है। उदाहरण के लिए किसी भी सप्रदाय को लिया जा सकता है। अलकार को ही ले ले। उसे 'सौंदर्य' और सौंदर्य-स्रोत के अर्थों में लिया जाकर अन्तहीन निरूपित किया गया है। आचार्य दण्डी और केशवदास द्वारा निरूपित अलकार के अतिवादी रूप की उपेक्षा भी कर दी जाय और इसके संतुलित रूप 'वाग्विकल्प' 'भगीभणिति', 'वाग्वैचित्र्य', उक्तिभंगिमा' को भी लिया जाय, तब भी काव्य जब तक शब्दार्थात्मक है तब तक आलकारिक भगिमा की सभावना अक्षत है। हम उसके भेदोपभेद आविष्कृत कर उसमें निहित वर्तमानोपयोगी सभावना को मूर्त कर सकते है। यदि हम सौंदर्य, संश्लेष और व्यवस्था के उपासक है तो हमे चुनौती है कि हम इन संभावनाओं को वर्तमान सर्जना के संदर्भ में पुनरुज्जीवित करें। इस प्रकार 'पुनराख्यान' का एक आशय है—**'सामान्य' मे निहित वर्तमानोपयोगी 'संभावना' को मूर्त करना** और इस प्रकार अतीत के सिद्धान्त और सम्प्रदाय को वर्तमान सर्जनात्मक साहित्य से जोड़ देना।

'पुनराख्यान' का एक और आशय मैं समझता हूं। वह यह कि इतर राष्ट्रीय-साहित्य सर्जना के समानान्तर आविष्कृत और रचित सम्प्रदाय और सिद्धान्तो के साथ प्रकृत सप्रदाय को सामने रखकर मानवमात्र मे होने वाली सामान्य प्रवृत्तियों के आलोक में संभावित एकरूपता या समानान्तर विशेषता को उद्घाटित करना। उदाहरण के लिए इलियट के Objective corelation तथा रसवादियो का विभाव सिद्धान्त ले ले। अर्थात् नए सर्जनात्मक साहित्य के सदर्भ में आविष्कृत इतर राष्ट्रीय, काव्यशास्त्रीय चिन्ताधारा के समकक्ष भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो को रखकर उसकी सामर्थ्य और सभावना को मूर्त करना भी 'पुनराख्यान' का एक रूप है।

प्रसन्नता की बात कि डॉ० नगेन्द्र का भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन उपर्युक्त 'आख्यान' तथा 'पुनराख्यान' की विभिन्न परिधियो को आत्मसात् करता है।

[क] अलंकार-सम्प्रदाय

अलकार-सम्प्रदाय पर विशेष रूप में विवेचन-विश्लेषण 'रीतिकाव्य की भूमिका' मे डा० नगेन्द्र ने प्रस्तुत किया है, यो प्रकीर्णक रूप से अयत्र भी।

इस प्रयत्न मे उस प्रौढि का अकुरण लक्षित होता है जो आगे अन्य संप्रदाओं के विवेचन मे प्रकट हुई है। इसमे होनहार बिरवान के चीकने पात साफ दिखाई पडते है।

जहाँ तक अलकार-सम्प्रदाय के आख्यान की बात है, डॉ० नगेन्द्र ने उसका ऐतिहासिक अनुक्रम मे भरतनाट्यशास्त्र से लेकर अपने चिन्तन-काल तक किसी न किसी रूप मे उपस्थापन किया है और माना है कि अलकार की परम्परा भी इस परम्परा की तरह एक क्रमिक विकास का ही परिणाम हो सकती है।[1] इस विकास परम्परा की गगोत्री उनकी दृष्टि मे पण्डितो द्वारा आख्यात भाण की सूक्ष्म परीक्षा थी। उनकी भी धारणा है कि आरम्भ मे इस प्रवाह का सबध दृश्यकाव्य से और उक्ति-चमत्कार के प्रवाह का श्रव्यकाव्य से चला आ रहा था। भामह आदि का अलकार-साम्प्रदायिक चिन्तन दूसरी धारा का प्रतिनिधित्व कर रहा था, भामह का व्यवस्थित चिन्तन इस सप्रदाय की ऐतिहासिक सीमा को पीछे खीच ले जाता है। मेधाविन् को इसी शृंखला की एक कडी समझा जा सकता है।

ऐतिहासिक आख्यान के इस क्रम मे उन्होंने अलकार का साम्प्रदायिक विकास करने वालो की मूल मान्यताओ का सूक्ष्मेक्षण भी किया है। उदाहरणार्थ भामह की मान्यताओ का उल्लेख करते हुए उन्होने कहा है कि भामह ने अलकार को ही काव्य का प्रधान अंग माना है। कारण है, अन्य सौन्दर्य-स्रोतो का अलकार रूप मे ही उल्लेख। उनकी दूसरी मान्यता है कि काव्य का प्राण है अलकार और अलकार का वक्रोक्ति। तीसरी उल्लेख्य बात है सूक्ष्म, हेतु और लेश को अलकार की सीमा से बहिष्कृत करना। चौथी बात है शब्दार्थ-वैचित्र्य को वक्रोक्ति का स्वरूप मानते हुए अलकार को उससे एक-रूप करना।

इस प्रकार वे न केवल भिन्न-भिन्न अलकारवादियो की उल्लेख्य मान्यताओ का उपस्थापन ही करते है, अपितु उनका पारस्परिक अतर भी स्पष्ट करते है ताकि विकास का पथ स्पष्ट हो सके। उनकी दृष्टि मे भामह की अपेक्षा दण्डी स्पष्ट शब्दो मे अलकार को काव्य का शोभाकर शाश्वत धर्म मानते है और कई बातो मे उदार भी है। दण्डी जहाँ एक ओर भामह स्वीकृत अनेक अलकारो का नामोल्लेख नही करते, वही दूसरी ओर उनके द्वारा अमान्य

१. रीति काव्य की भूमिका, पृ० १४।

अलकारो—सूक्ष्म, लेश, हेतु—को अलंकार घोषित भी करते है। भामह जहाँ वक्रता के अभाव मे अलकार की सत्ता नही मानते, वही दण्डी उसके अभाव मे भी संभावना करते है। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा से अलग हटकर डॉ० नगेन्द्र मानते है कि भामह और दण्डी की 'वक्रता' और 'अतिशय' भिन्न नहीं, एक ही हैं। प्रो० शर्मा 'वक्रता' में घुमाव फिराव और 'अतिशय' मे बढ़ाव-चढाव मानकर भेद करते है जबकि डॉ० नगेन्द्र वस्तुमुखी दृष्टि मे लक्षणकारो के वक्तव्यों के साक्ष्य पर अभेद।

अलकार-सम्प्रदाय के ऐतिहासिक 'आख्यान' के सन्दर्भ मे दो-तीन बातें और उल्लेखनीय है। पहली यह कि उन्होंने सख्यागत क्रमिक विकास का भी ध्यान रखा हैं। दूसरी यह कि भिन्न-भिन्न आत्मवादियों के निरूपणक्रम में अलकार का स्वरूपगत विकास कैसा होता रहा साथ ही काव्य मे उसका स्थान किस प्रकार गौण, प्रधान, निवार्य, अनिवार्य होता रहा इसका भी ध्यान रखा है। इस प्रकार इतिहास-निरूपण क्रम मे जहाँ सख्या, स्वरूप, गौणता-प्रधानता तथा निवार्यता-अनिवार्यता का आकलन हुआ है वही अलंकारों के वर्गीकरण की दिशा में किए गए प्रयत्नो का भी सकेत किया गया है। यह बात दूसरी है कि यत्र-तत्र कुछ ऐसी बातें भी है जो विवादास्पद हो सकती है।

ऐतिहासिक क्रम मे अलकार-संप्रदाय का आख्यान करने के अनन्तर विशेष मुद्दों पर जमकर विचार किया गया है। ये मुद्दे है—(क) अलंकार की परि-भाषा, भेद, (ख) अलकार और अलंकार्य का भेद, (ग) अलंकारो का मनो-वैज्ञानिक आधार, (घ) रसानुभूति से अलकार का योग, (ङ) भारतीय और यूरोपीय अलकार-शास्त्र।

उपर्युक्त बिन्दुओं मे से तृतीय और पचम बिंदु को 'पुनराख्यान' के अंतर्गत विचारार्थ लिया जा सकता है, शेष को 'आख्यान' के। द्वितीय बिंदु मे भी पुनराख्यान के तत्व है।

जहाँ तक अलंकार की परिभाषा और धर्म का सबध है, उनके निरूपण मे सीमाएँ और सभावनाएँ तो है ही, उपलब्धियाँ भी है। सीमा के सन्दर्भ मे यह कहा जा सकता है कि ध्वनि के प्रस्थापक आनन्दवर्द्धन का आशय अना-ख्यात रह गया। उन्होंने अलंकार का निरूपण सैद्धांतिक भूमिका पर किया है और ऐसा करते समय उनके मस्तिष्क मे कारयित्री की 'सहजा' और 'आहार्या' दोनों प्रतिभाएँ थी। 'सहजा' को ध्यान मे रखते हुए उन्होंने कहा है कि अलंकार 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' होते है, अर्थात तदर्थ पृथक से यत्न की

नहीं होती, रसावेश मे वे स्वयम् आ जाते है। कवि केवल सर्जनात्मक अनुभूति को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है—इस भावदीप्त स्थिति का प्रभाव अभिव्यक्ति को वक्र बना देने में है। आनन्दवर्द्धन को सीधे उपस्थित न करते हुए भी डॉ० नगेन्द्र द्वारा इस संदर्भ मे उठाए गए दो प्रश्नो—(क) क्या प्रत्येक उक्ति-चमत्कार काव्य है ? (ख) क्या काव्य मे उक्ति-चमत्कार अनिवार्य है ?—मे से अंतिम का उत्तर वही है जो आनंदवर्धन को अभीष्ट है। आहार्या प्रतिभा को ध्यान मे रखकर 'अलंकार' के लिए जिन शर्तों का उल्लेख आनंद ने किया है डॉ० नगेन्द्र ने प्रसगात् उसकी बात भी कही है; पर उनके आशय को सीधे यथावत् न रखकर अपनी स्वतःस्फूर्त चिन्तनात्मक यात्रा में उपलब्ध किया है। आहार्या कारयित्री मे अलंकार तभी अलकार रह पाते है जब वे निम्नलिखित शर्तें पूरी कर पाते हों—

(१) विवक्षा तत्परत्वेन,

(२) नाङ्गित्वेन कदाचन,

(३) काले च ग्रहणम्,

(४) काले च त्याग.,

(५) नातिनिर्वहणैषिता,

तथा (६) निर्व्यूढावपि यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।

इन शर्तों में केवल प्रथम का उल्लेख डॉ० साहब ने किया है पर वह भी प्रसगान्तर से।

अनाख्यान के सदर्भ मे एक बात और भी कहनी है। ध्वनिमतानुयायियो की दृष्टि से अलकार के स्वरूप की बात करते हुए अपेक्षाकृत रसवादी विश्वनाथ महापात्र का ध्यान तो उन्होने रखा किंतु चतुष्पाद प्रतिष्ठित सम्मट के अभिमत का प्रकाश ठीक-ठीक नही कर सके। मम्मट ने सैद्धांतिक नहीं, व्यावहारिक दृष्टि से 'अलकार' के स्वरूप को स्पष्ट किया है। तभी तो प्रयोग मे जैसा देखा, वैसा सूत्रबद्ध कर दिया। सिद्धांततः चाहे वक्रता का होना अनिवार्य और शाश्वत हो, परन्तु प्रयोग मे उसकी अस्थिरता दिखाई पड़ती है। कतिपय रचनाएँ ऐसी भी मिलती है जहाँ दीप्त भाव नहीं है, अलकार हैं। कहीं अलंकार नहीं है, भावदीप्ति के बावजूद। कही भावदीप्ति के साथ वक्रता या अलंकृति रहकर भी उपकारी, अनुपकारी, हानिकारी और तटस्थ रह सकती है। प्रकाशकार ने सोदाहरण इन विशेताओ की पुष्टि की है।

डॉ० नगेन्द्र के विचारो को देखकर लगता है कि वे भी विश्वनाथ महापात्र तथा रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा में रसवादी दृष्टिकोण से ही अलंकार की परिभाषा के विषय मे सोच रहे हैं—तभी तो वे वक्रता को व्यापक और कवित्व को व्याप्त नही मानते। वे स्पष्ट कहते हैं कि प्रत्येक उक्ति-चमत्कार या वक्रता काव्य नही है। वे अलकारवादियो की तरह यह नही मानते हैं कि प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य पद की अधिकारिणी है। उनकी मान्यता है कि चमत्कार की माँग करने वाली वृत्तियाँ दो हैं—कुतूहल तथा रमण। कुतूहल वृत्ति की तर्पक चमत्कृति उनकी दृष्टि मे काव्योचित चमत्कृति नही है और न ही कुतूहल काव्य की मूल वृत्ति है। वे रमणतर्पक चमत्कृति को काव्योचित चमत्कृति मानते हैं और रमणक्षम वृत्ति को—भावझंकृति को—मूल वृत्ति मानते हैं। जिस वाग्भंगिमा मे भावो को जगाकर रमाने की क्षमता जितनी ही अधिक होगी, वह उतना ही उत्कृष्ट काव्य होगा। यह बात आनदवर्द्धन के 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' तक डॉ० नगेन्द्र को उठा ले जाती है। इसीलिए थोडी बारीकी से देखा जाय तो वे ज्ञात मनोभूमिका पर चाहे शुक्ल जी से सवादी लग रहे हों पर अज्ञात भूमिका पर स्वच्छदतावादी चिन्तको की 'आत्मविश्रांति'-पर्यवसायी काव्यचिन्तना से जुट जाते है। आचार्य शुक्ल रसोद्रेक को काव्य की अनिवार्य शर्त मानते हुए भी उसे माध्यम ही मानते हैं, गन्तव्य नही। उनका गन्तव्य है रसमयी सात्विक वृत्ति की उद्दीप्ति और उसका सत्कर्म मे पर्यवसान। आत्मवादी शास्त्रीय चिन्तको की भाँति डॉ० नगेन्द्र का आतरिक झुकाव जहाँ 'चर्वणाविश्रान्ति' की ओर है वहाँ शुक्ल जी की कर्तव्यविश्रान्ति की ओर।

वे अपनी सीमाओ मे अलंकारवाद का आख्यान नही करते, अपितु अलकारवाद की सीमाओ का भी सकेत देते है। इस दिशा का सकेत उन्होंने महावीर प्रसाद द्विवेदी के एक वक्तव्य से आरभ किया है। 'भारतीभूषण' की प्रस्तावना में द्विवेदी जी ने कहा था—"ये पुराने भूषण भाषण के भिन्न-भिन्न ढग हैं। क्या इनके सिवा बोलने और लिखने मे सरसता या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कोई अन्य ढंग हो नही सकता ?" आचार्य रामचद्र शुक्ल ने भी 'कविता क्या है ?' निबध मे इस ओर स्पष्ट संकेत किया है और यह भी कहा है कि न तो पुरानी रमणीय उक्तियो का ही अलकारीकरण अब तक हुआ है, अर्थात् उनमे निहित वाग्भंगिमा की सज्ञा निर्धारित की गई है और न ही निर्धारित अलंकार पर्यवसायी संज्ञाएं सब 'अभिव्यक्ति'-पक्ष से ही सबंध रखती है। अत अलकारो के आख्यान के साथ वर्तमान सदर्भ मे

पुनराख्यान की भी आवश्यकता है। अलकारवाद पर विचार करते हुए डॉ० नगेन्द्र भी इसी दिशा मे कहते है—"भाव की रमणीयता उक्ति की रमणीयता के बिना अकल्पनीय है। परन्तु इसके लिए हमें अलकार की परिधि को परिगणित रूढ अलंकारो तक ही सीमित न रख कर सभी प्रकार की वचन-वक्रता अथवा उक्ति-रमणीयता तक विस्तृत करना होगा, लक्षणा और व्यजना के प्रयोगों को भी उसमें अतर्भुक्त करना होगा।" इस प्रकार आख्यान के साथ-साथ पुनराख्यान का भी प्रस्ताव इनकी विवेचनाओ में चलता रहता है।

इस प्रकार 'अलकार की परिभाषा और धर्म' शीर्षक वैचारिक संदर्भ में जो दो प्रश्न उठाए गए थे, उस विषय मे अंततः उनका अभिमत यही है कि काव्य की आत्मा भाव की रमणीयता अवश्य है, परन्तु इस रमणीय आत्मा का आधार शरीर भी अनिवार्यतः रमणीय ही होगा।[1] अर्थात् काव्य के लिए उक्ति की रमणीयता भी अनिवार्य है। प्रश्न यह है कि यहाँ व्याप्ति का स्वरूप क्या है ? जहाँ-जहाँ कवित्व होगा, वहाँ-वहाँ वक्रता होगी या जहाँ-जहाँ वक्रता होगी वहाँ-वहाँ कवित्व होगा। स्पष्ट है कि डॉ० नगेन्द्र व्याप्ति का पहला विकल्प ही स्वीकार करेंगे और करेंगे नहीं, करते है। वे मानते है कि जहाँ रमणीय भाव है वहाँ कवित्व या कविता है और जहाँ कविता है वहाँ काव्य की आभा—रमणीयभाव—का स्वतःस्फूर्त प्रस्फुटन रमणीय व भगिमा या वक्रता मे होता ही है। जो भीतर है वही बाहर प्रस्फुटित होगा। इसीलिए सच्चे कवि के 'भाव' में से 'रूप' फूटता है और अनुरूप फूटता है। डॉ० नगेन्द्र की इन सब स्थापनाओ से सहमत होते हुए भी 'आत्मा का आधार शरीर' जैसा प्रयोग समझ मे नही आता। 'आधार' शब्द के दो अर्थ है—अधिकरण और उपजीव्य। अधिकरण भी तीन तरह के है—वैषयिक, औपश्लेषिक तथा अभिव्यापक। इन शब्दो का शास्त्रीय जाल न फैला कर निष्कर्ष रूप मे इतना ही कहता हूँ कि शरीर न तो आत्मा का उपजीव्य है और न अधिकरण। अत. आधार की जगह 'माध्यम' या 'अभिव्यजक आधार' कहा होता तो उचित होता। यदि 'आधार' से उनका अभिप्राय अभिव्यंजक आधार ही अभीष्ट है, तब तो कोई बात ही नहीं।

इसी सदर्भ मे 'रसानुभूति से अलकार का योग' शीर्षक विचार बिन्दु को भी लेना सगत होगा। डॉ० नगेन्द्र रस को कवित्व की अनिवार्य शर्त मानने मे

---

१. रीति काव्य की भूमिका, पृ० ६१।

आचार्य शुक्ल के साथ है, पर कवित्व को चर्वणा-विश्रांति में मानने से स्वच्छंद चिंतकों की भाँति प्राक्मध्यकालीन चिन्तक आनन्दवर्धनादि के साथ है और रस का 'समन्वित मनोवृत्ति'-पर्यवसित रूप स्वीकार करने में वे आई० ए० रिचर्ड्स के साथ है। उन्होंने स्वीकार किया है कि 'रस मन की वह अवस्था है जिसमें हमारी मनोवृत्तियाँ अन्वित हो जाती है।' अलंकार किस प्रकार व्यजन में सहायक होते हैं, इस पर विचार भारतीय अलंकारवादियों ने उतना स्पष्ट नहीं किया जितना अन्य आत्मवादियों ने। रसवादी आचार्य यह तो मानते है कि काव्य और रस के बीच भाव्य-भावक सम्बन्ध है, पर उस प्रक्रिया का बारीक विवरण नहीं देते। टीकाकारों ने यत्र-तत्र यह अवश्य कहा है कि रस के अभिव्यञ्जक हैं विभावादि। विभावादि जितने ही सुन्दर होंगे, उतनी ही उनमें व्यंजनक्षमता होगी और सुन्दरीकरण काम है अलकारों का। इस प्रकार अलंकार विभावादि के सुन्दरीकरण द्वारा रसाभिव्यंजन में योग देते है। डॉ० नगेन्द्र अभिव्यञ्जन की इस शास्त्र-निर्दिष्ट प्रक्रिया का आख्यान करें या न करें, उससे भी महत्वपूर्ण फलतः पुनराख्यान के संदर्भ में वे 'ग्राह्य' की दृष्टि से सूक्ष्म विवरण देने का प्रयत्न करते है। चूँकि रिर्चड्स द्वारा प्रस्तुत संदर्भ का यह नया चिंतन है, अतः इसे पुनराख्यान ही कहना चाहिए।

तीसरा बिन्दु है : अलकार और अलंकार्य का भेद। इस बिन्दु पर भी डॉ० नगेन्द्र ने पौरस्त्य तथा पाश्चात्य, अर्वाचीन और प्राचीन चिन्तकों को आमने-सामने रखते हुए यह स्थापना की है कि क्रोचे की भाँति न तो भारतीय साहित्यशास्त्री और न ही विदेश के साहित्य मनीषी व्यावहारिक धरातल पर भी अलंकार और अलंकार्य के भेद को अस्वीकार करते है। भाव सर्जनात्मक अनुभूति के बीज से रूपाकार जैविक विकास की भाँति स्वतः स्फूर्त होता है, और काव्य की यही वयस्क प्रक्रिया है। इस तथ्य की पुष्टि भारतीय साहित्य शास्त्री भी तात्विक धरातल पर करते है। जब आनन्दवर्धन अलंकार को 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' कहते है, जब कुंतक 'अलङ्कृतस्यैव काव्यत्त्वम् न तु काव्य-स्यालंकारः' कहते है तब वे भी अद्वैत दर्शन को मन में रखकर क्रोचे की तरह की बात करते है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि एक व्यावहारिक धरातल पर समझने-समझाने के लिए (अपोद्धारबुद्ध्या) दोनों की पृथक् सत्ता कल्पित कर लेता है, दूसरा वहाँ भी दार्शनिक और तात्विक धरातल की ही बात करता है।

चतुर्थ बिन्दु है : अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार। इस दिशा में भी डॉ० नगेन्द्र ने पौरस्त्य और पाश्चात्य आचार्यों के द्वारा निरूपित अलकारों

के आधारों का ऐतिहासिक क्रम में उपस्थापन किया है और डॉ० डे प्रभृति पूर्ववर्ती विद्वानों से इनकी अयुक्तियुक्तता पर सहमति व्यक्त करते हुए कहा है कि दोष आधार-निरूपण में इसलिए है कि स्वयम् अलंकारों का स्वरूप-निरूपण ही किसी निश्चित आधार को लेकर नहीं चला। उसका आधार शैली की सीमा को लांघ कर वस्तु तक नहीं, अपितु न्याय, दर्शन, वाणी और क्रिया तक चला गया है। अतः इस पक्ष के 'आख्यान' से विरक्त होकर उन्होंने 'पुनराख्यान' की बात सोची और उस दिशा में प्रयत्न भी किया।

उन्होंने बताया है कि काव्यव्यापार दीप्त भावभूमि पर निर्भर है और भावदीप्ति मानस ओज पर। दीप्त भाव जब वाणी के माध्यम से फूटता है, तब वाणी में 'अतिशय लोकातिक्रान्तगोचरता' सहज ही आ जाती है। यही अतिशय अलंकार का सामान्य स्वरूप है। डॉ० साहब की यह प्रक्रिया तो ठीक लगती है, पर एक दूसरे ढंग से भी उन्होंने 'अतिशय' का समर्थन किया है और वह है कवि के अलंकार-प्रेम में निहित आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति। प्रदर्शन में अतिशय का तत्त्व संभव है ही। इस वक्तव्य में और तो सब ठीक है, पर एक बात विचारणीय लगती है। जिस काव्यव्यापार में कवि अलंकार-प्रेमपरक आत्मप्रदर्शन से हटकर शुद्ध भाव-व्यंजन (आत्मव्यंजन) में सब प्रकार के आत्मप्रदर्शन के प्रलोभनों का संवरण करता हुआ अलङ्कतवाक् कहा जाता है, वहाँ इस वक्तव्य की क्या स्थिति होगी? कहा जा सकता है कि इस प्रश्न का उत्तर डॉ० नगेन्द्र ने पहले वक्तव्य में दे ही दिया है। पर इस उत्तर के आलोक में इतना स्पष्ट है कि दूसरा वक्तव्य अलंकार-नियोजन की व्यापकता को देखते हुए अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है।

इस प्रकार न केवल वे अलंकारों की मूल प्रेरणा पर ही विचार करते हैं अपितु व्यावहारिक धरातल पर भी अलंकारों के कुछ मूर्त आधार निर्धारित करते हैं। उनकी दृष्टि में उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए प्रयोक्ता छः प्रकार की मनःस्थितियों से गुजरता है—स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल। साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार उन्हीं मनःस्थितियों के मूर्त रूप हैं, अतः अलंकारों के वर्गीकरण में इन आधारों का उल्लेख किया जा सकता है। इस संदर्भ में उन्होंने इन आधारों का सोदाहरण समन्वय भी किया है। आधार-निर्धारण की दिशा में उनका यह एक सशक्त कदम है।

पाँचवाँ बिन्दु है : भारतीय और यूरोपीय अलंकार-शास्त्र। इस विवेचन की उल्लेख्य विशेषता है दोनों देशों की अलंकार-विवेचनागत समता और

विषमता। जहाँ तक समता का सम्बन्ध है, वाच्य को प्रभावोत्पादक बनाना एक सार्वभौम वृत्ति है, अतः उसके घटक तत्वों का मिलना सहज संभव है। रही विषमता, वह भी भिन्न देशों में संभव है।

'रीतिकाव्य की भूमिका' के अतिरिक्त अन्यत्र भी डॉ० नगेन्द्र ने अलंकार पर विचार किया है और वहाँ अलकार सम्बन्धी अन्य नूतन दिशाओं का भी उद्घाटन किया है। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के निरूपण के सदर्भ मे उन्होंने अलंकार पर विचार करते हुए यह ठीक ही लक्षित किया है कि वक्रोक्ति-सम्प्रदाय अलंकार-सम्प्रदाय का पुनरुत्थान मात्र नही है—अलकार-सम्प्रदाय की वक्रोक्ति और काव्य-जीवित की वक्रोक्ति मे तत्वगत भेद है। इसी के साथ-साथ दूसरी उल्लेखनीय विशेषता उनके प्रस्तुत सदर्भ के चिन्तन की यह भी है कि जहाँ अन्य काव्यात्मवाद अलकार और अलकार्य की बात करके भी व्यवहार में उसे भूल जाते है वहाँ कुन्तक ने अपनी दृष्टि निर्भ्रान्ति रखी है—इस तथ्य को उन्होंने स्पष्ट किया है। जहाँ अन्य मतवादी वर्णन प्रणाली के साथ वर्ण्य को भी अलंकार के अन्तर्गत रख दिया करते थे, वहाँ कुन्तक ने इसका जोरदार खण्डन किया है।

अलकार और अलकार्य के पार्थक्य-अपार्थक्य सम्बन्धी विवाद को डॉ० नगेन्द्र ने समस्त पूर्वी-पश्चिमी, प्राचीन तथा अर्वाचीन की विस्तृत पीठिका पर उठाकर उसका तुलनात्मक विश्लेषण किया है और इन तमाम मतामतों के परिप्रेक्ष्य में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि अलकार और अलकार्य के भेदाभेद का प्रश्न प्रत्यक्ष रूप से वाणी और अर्थ के भेदाभेद के साथ सम्बद्ध है। अभेद की अपेक्षा मे 'भेद' और 'भेद' की अपेक्षा में ही दार्शनिक भूमिका पर अभेद को समझा जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से अभेद की बात मानी जा सकती है, पर व्यावहारिक दृष्टि से भेद को अस्वीकार किया ही नही जा सकता। अन्यथा डॉ० नगेन्द्र के ही शब्दो मे 'सहजानुभूतिमूलक भेद-अभेद सभी निरर्थक सिद्ध हो जाते है।' इस प्रकार डॉ० नगेन्द्र क्रोचे की बात मे तत्त्वतः सहमति व्यक्त करते हुए भी व्यवहारत आचार्य शुक्ल से सहमति की साधार स्थापना करते है। आस्वाद और निर्माण धरातल पर कला अखण्ड है, पर विवेचना के धरातल पर तो उसे सखण्ड होना ही पडेगा। कला की आलोचना सहजानुभूति अथवा आस्वाद रूप मे न होकर धारणा रूप की ही होती है। डॉ० नगेन्द्र ठीक ही लिखते है, 'अपने अखण्डरूप में सहजानुभूति अविवेच्य है, अनिर्वचनीय है, धारणाओं मे खण्डित होकर ही वह विवेच्य हो सकती है—यही उसकी आलोचना है।' किसी भी चिन्तक की यही विशेषता होती है कि वह विवादास्पद बिन्दुओं को लेता

है और समस्त सम्बद्ध पूर्ववर्ती चिन्तन की पीठिका पर साधार अपना मत व्यक्त करता है। या तो वह कोई नई-नई स्थापना देता है अथवा क्रमागत स्थापना का ही परवर्ती विपक्षीय नई चिन्तनाओं के आलोक में पुनः दृढ़ीकरण करता है। यह संदर्भ क्रमागत धारणा के पुनः दृढ़ीकरण का है, इसे भी एक प्रकार की स्थापना ही कहा जाता है।

इसी प्रकार एक दूसरा प्रश्न भी चला आ रहा है कि 'स्वभावोक्ति' को क्या माना जाय—अलंकार या अलंकार्य ? रसवदलंकार क्या अलंकार कहा जा सकता है ? और कहा भी जा सकता हो तो किस अर्थ में ? डॉ० नगेन्द्र ने 'स्वभावोक्ति' और 'रसवदलंकार' का बड़ा ही पुष्ट ऐतिहासिक अनुक्रम में आख्यान किया है और अपनी सहमति कुंतक के साथ व्यक्त की है। 'स्वभावोक्ति' शब्द में समस्त संभावित अर्थ की परतों को उघाड़ा है और अलंकारता की परीक्षा की है, पर अंततः उसका निरसन ही किया गया है। पुनः यही बात 'रसवत्' के साथ भी रही है। इन संदर्भों में कोई 'पुनराख्यान' तो नहीं है, पर 'आख्यान' तर्कपुष्ट और विश्वसनीय है।

अलंकार-विवेचन के संदर्भ में कुंतक की दो और उल्लेखनीय स्थापनाओं की चर्चा डॉ० नगेन्द्र ने की—एक तो रूपक और व्यतिरेक में से प्रत्येक के दो-दो भेद (वाच्य और प्रतीयमान) दूसरे दीपक के संबंध में यह कि दीपन क्रिया-पद ही नहीं, इतर पद भी कर सकते हैं। इन दोनों स्थापनाओं को उन्होंने विशेष महत्त्व नहीं दिया। रूपक और व्यतिरेक के भेदों—वाच्य तथा प्रतीयमान—को इसलिए नहीं कि वे क्रमागत हैं और दीपक के क्रियापदेतर की दीपकता को इसलिए नहीं कि इसमें उतना चमत्कार नहीं होता। जहाँ तक रूपक और व्यतिरेक की बात है, कुन्तक के संबंध में यह विचारणीय है कि उन्होंने वाच्य और प्रतीयमान—ये दो भेद माने कैसे ? कुन्तक के अभिधावाद तथा महिम के 'अभिधावाद' में अन्तर है। कुन्तक की अभिधा काव्योचित अभिधा है और महिम की काव्यलोकसाधारण अभिधा। इस पीठिका पर शक्ति के एक ही मानने से अर्थ भी एक ही स्तर का होगा और यदि अर्थ दो प्रकार—वाच्य तथा प्रतीयमान—का माना जायगा, तो शब्द की शक्ति भी दो माननी होगी। यदि वह अर्थ शब्दप्रमाणलभ्य है तो शब्द शक्ति-लभ्य ही होगा। वाच्य रूपक शब्दप्रमाणलभ्य तथा प्रतीयमान रूपक शब्देतर प्रमाणलभ्य माना जाय, फलतः शब्द की एक शक्ति—अभिधा—की संगति मान भी ली जाये तब भी प्रश्न बना ही रहेगा कि आखिर 'प्रतीयमान रूपक' शब्देतर

प्रमाणों में से किस प्रमाण का लभ्य होगा ? कुन्तक का आशय क्या समझा जाय और कुन्तक ने इसकी स्पष्टता क्यो नही की ? कुन्तक की ओर से अनुत्तरित जिज्ञासु का यह एक प्रश्न है। ध्वनि-विरोधी होने के कारण आनन्दवर्द्धन की 'व्यञ्जना' शक्ति तो इन्हे मान्य होने से रही । यह ठीक है कि इन्होंने अपने वाच्य मे प्रतीयमान का भी समावेश उपचारतः माना है, पर इस स्थिति में भी कम उलझनें नही है।

डॉ० नगेन्द्र के इस निष्कर्ष से भी सहमत होना स्वाभाविक है कि वक्रोक्ति-वादी 'वक्रोक्ति' को अलंकार रूप में मानकर भी अलंकारवादियो की अपेक्षा रसवादियों के अधिक समीप हैं। वे 'भाव' और 'स्वाभाव' को अलकार्य तथा वक्रोक्ति को अलकार मानते हैं।

वास्तव में वक्रोक्ति-सिद्धान्त सर्जना की दृष्टि से विचार करने के फल-स्वरूप निर्गत सिद्धान्त है, अतः कविव्यापाररूप वक्रता पर बल दिया जाना स्वाभाविक है। कहा है कि 'वक्रत्वं कविव्यापार.'। फिर भी पूर्ववर्ती समस्त काव्य-सम्प्रदायों मे कुन्तक का परिचय था, अत. उनकी समस्त हृदयावर्जक अच्छाइयो को आत्मसात् कर कुन्तक ने अपना अभिमत व्यक्त किया। उन्होने 'अलंकार' के स्वरूप के विषय मे बड़ी ही निर्भ्रान्त धारणा व्यक्त की है। डॉ० नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है कि न जाने क्यो परवर्ती काव्यशास्त्रियो ने इनकी अलंकार संबधी मान्यता की अवहेलना की और अलकार का निरूपण अति-व्याप्त भूमियो पर करते रहे। इस प्रकार डॉ० नगेन्द्र ने उस सदर्भ में तो अलकार का विवेचन किया ही है, रीति, ध्वनि तथा वक्रोक्ति सम्प्रदायों के संदर्भ मे भी उसे देखा और परखा है।

इस समस्त विवेचन में एक बात और विचारणीय है। अलकार-सम्प्रदाय सौदर्य का अस्तित्व कहाँ मानता है ? उसका कारण किसे कहना है ? अलकार-वादियों के अलंकार की परिधि क्या है ? डॉ० नगेन्द्र ने प्रसंगान्तर मे इन तीनों प्रश्नों पर भी अपना मंतव्य प्रकाशित किया है। 'हिन्दी काव्यालकार-सूत्रवृत्ति' की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट कहा है—(१) काव्य का सौंदर्य शब्दार्थ मे निहित है, (२) शब्द-अर्थ के सौदर्य के कारण है अलंकार, और (३) अलंकार के अतर्गत काव्य-सौंदर्य के सभी प्रकार के तत्त्व आ जाते है। डॉ० नगेन्द्र के इन तीनों निष्कर्षों से असहमत होने का प्रश्न ही नही उठता। निश्चय ही अलंकारवादी सौंदर्य का आधार शरीरस्थानीय शब्द तथा अर्थ (वाचक तथा वाच्य कथंचित लक्षक तथा लक्ष्य को ही मानते हैं उनकी

दृष्टि मे शरीर ही अलंकार्य है और वही सौंदर्य का आश्रय भी। इस प्रकार उन्हे देहात्मवादी भी कहा जा सकता है।

यहाँ एक बात और भी विचारणीय थी और वह यह कि सौदर्य द्विविध है—सहज और अर्जित अथवा स्वाभाविक और प्रवर्द्धित। अलकारवादी सह-जात सौदर्य को महत्व देते है या प्रवर्द्धन को? उनकी दृष्टि मे अलकार सहजात सौंदर्य के स्रोत हैं या अभिवर्द्धित? यह भामह के निम्नलिखित कारिकार्द्ध से लगता है कि वे अभिवर्द्धित सौंदर्य को महत्व देते थे और यह अभिवर्द्धन होता है अलंकार मे—

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।

सहजात कान्ति अथवा सौंदर्य-सवलित आनन भी भामह की दृष्टि मे तब तक आकर्षक नही होता जब तक वह अलकार-रहित रहता है। निश्चय ही अलकार-सहित होने पर कान्त आनन और भी कान्त हो जाता है; उसकी कान्ति प्रवर्द्धित हो जाती है। इस प्रकार अलंकारवादी सहजात काति की अपेक्षा अभिवर्द्धित कांति को महत्व देता है और इस अभिवृद्धि मे अलकार को कारण मानता है। रीतिवादी सहजात सौंदर्य को महत्व देता है और उसका कारण गुण को मानता है। इस तथ्य मे तो कोई संदेह ही नही है कि जहाँ रीतिवादी गुण का अस्तित्व अलंकार से पृथक् मानता है, वहाँ अलंकारवादी अलकार में ही गुण आदि सौदर्य-स्रोतो का अंतर्भाव कर लेता है।

निष्कर्ष यह कि अलकार-सम्प्रदाय का जहाँ एक ओर डॉ० नगेन्द्र ने शक्त आख्यान किया है वहीं पुनराख्यान की दिशा मे भी कुछ बातें कही हैं और अलकार संबधी चिन्तन को गति दी है।

[ख] रीति-सम्प्रदाय

अलकारमत के सबंध मे डॉ० नगेन्द्र ने विशेष रूप से (अपने प्राय: काव्य-शास्त्र के प्रथम प्रयास) 'रीति-काव्य की भूमिका' में ही कहा है और अन्यत्र प्रसंगात् उसकी चर्चा की है। रीतिमत पर भी उस ग्रंथ मे चर्चा है, पर उसको भी आत्मसात् करते हुए विस्तार के साथ 'हिन्दी काव्यालकार सूत्रवृत्ति' की भूमिका में इसका विवेचन—आख्यान-पुनराख्यान—हुआ है।

निस्संदेह 'रीति' का जितना विस्तृत व्याख्यान डॉ० नगेन्द्र ने प्रस्तुत किया है, उतना न तो उनके पूर्व किसी ने किया था और न बाद मे ही किसी ने किया है। उनके आख्यान की दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—एक तो यह कि

आलोच्य पक्ष को वे व्यापकतम ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे रखते है—ऐतिहासिक ही नही दैशिक भी। आलोचनकाल तक ज्ञात प्राचीन, अर्वाचीन, पूर्वी तथा पश्चिमी चिन्तनाओ के परिप्रेक्ष्य मे आलोच्य तत्व को रखकर तब अपनी बौद्धिक प्रतिक्रिया व्यक्त करते है। यह उनके गहन अध्ययन का फल है, श्लाघ्य धैर्य का प्रतिफल है। दूसरी विशेषता है: वर्तमान सदर्भ की समस्याओ और अध्ययन के चौखटे में विवेच्य पक्ष को रखकर किसी तर्कसगत निष्कर्ष की ओर पहुँचना। उनके आख्यान की यह एक प्रकार से पद्धति ही है।

अपनी बात दो उदाहरणों से स्पष्ट कर दूँ। रीति-संबंधी उनका सारा विवेचन सस्कृत तथा पश्चिमी साहित्यशास्त्र और हिन्दी रीतिग्रन्थों के साक्ष्य पर ऐतिहासिक और दैशिक परिप्रेक्ष्य से हुआ है—केन्द्र में वामन अवश्य हैं। वामन की काव्यशास्त्र से सबद्ध तमाम मान्यताओं को वे साहित्य-शास्त्रीय वर्तमान समस्याओ और विकल्पों के चौखटे मे रखकर परीक्षित करते है तथा अपना अभिमत देते है। रीतिमत के अंतर्गत डॉ० नगेन्द्र के काव्य स्वरूप, काव्य की आत्मा, काव्य का प्रयोजन तथा हेतु एव भेद आदि काव्यसिद्धान्तो के विवेचनो मे से किसी को भी लिया जा सकता है।

वामन द्वारा प्रदत्त काव्य की परिभाषा का परीक्षण उन्होंने न केवल देहवादी तथा आत्मवादी भारतीय साहित्यशास्त्रियो के संदर्भ में ही परीक्षित किया, अपितु प्रसगात् क्रोचे जैसे पश्चिमी कलादार्शनिको की काव्य-सम्बन्धी मान्यता को भी रखा और बताया कि आत्मवादी जहाँ अन्तरग धर्मो पर बल देते है वहाँ देहवादी बहिरंग धर्मों पर। फिर भी देहवादी भामह की परिभाषा जितनी मार्मिक है उसकी तुलना मे देहवादी वामन की नही। वामन गुणालकार-सस्कृत शब्दार्थ को काव्य कहते हैं, जब कि भामह समप्रधान तथा समजस शब्दार्थ-सहभाव को मानते हैं। डॉ० साहब ने 'अभिव्यजना' को काव्य कहने की दृष्टि से भामह को क्रोचे से एकरस कर दिया है, पर वस्तुपक्ष से काव्य का यशोगान करने वाले की दृष्टि से अपर्याप्त या अव्याप्त भी कहा है। इस संदर्भ मे भरत से लेकर रामचन्द्र शुक्ल तक और अरस्तू से लेकर रिचर्ड्स तक की व्यापक पीठिका रखी गई है। इस सदर्भ मे रह-रहकर उनका झुकाव क्रोचे और कुन्तक की ओर हो जाता है और भामह के समञ्जस शब्दार्थ-सहभाव मे ही वस्तुवादियो की 'रमणीयता' की प्रतिष्ठा कर वे अव्याप्ति के विरुद्ध तर्क भी देते है। इस पीठिका पर वामन का काव्यस्वरूप सम्बन्धी अभिमत उनकी दृष्टि से स्थूल है। वे मानते हैं कि वामन अपनी सीमाओ

मे वैसा कहने के लिए विवश है और उनकी दृष्टि से वह ठीक भी है तथापि वह तात्त्विक न रहकर वर्णनात्मक हो गया है।

इसी प्रकार जब वे वामनसम्मत काव्य की आत्मा पर विवेचन प्रस्तुत करते है तब उन्हे लगता है कि वामन 'रीति' और 'वस्तु' में 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर 'रीति' को ही महत्त्व देते है। रीति और वस्तु के आपेक्षिक महत्त्व के विषय मे अद्यावधिक निर्धारित चार पक्षो की पीठिका पर वामन का स्थान स्पष्ट करने मे उनकी उक्त आख्यान-शैली स्पष्ट है। चार विकल्प इस प्रकार है—एक वस्तु को उपजीव्य और शैली को उपजीवक मानता है। दूसरा वस्तु तथा रीति दोनो को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानना है, तीसरा, जो दूसरे से निकट है, मानता है कि काव्य मे रीति अथवा अभिव्यजना ही सब कुछ है—वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है; और चौथा पक्ष है दोनो के समन्वय का। वामन की स्थिति डाक्टर साहब ने इन चारो से भिन्न मानी है। कारण, जहाँ एक ओर उनका दृष्टिकोण अव्यक्तिगत होने से व्यक्तिवादी नही बन सकना वही दूसरी ओर वस्तुवादियो से भी वे इसलिए भिन्न हो गये कि 'रीति' को 'वस्तु' की अपेक्षा अधिक महत्ता दी। तीसरी ओर यह भी स्पष्ट है कि वे अभिव्यजनावादियो की भाँति वस्तु की सत्ता और महत्त्व से इन्कार नही करते। साथ ही वे दोनो का समान महत्त्व भी नहीं स्वीकार करते। इस प्रकार उनकी स्थिति अभिव्यजनावादियो और समन्वयवादियो की मध्यवर्तिनी है।

वस्तुतः इस सदर्भ मे एक प्रश्न अनाख्यात रह गया। वामन एक जगह 'रीति' को काव्य की आत्मा मानते है और अन्यत्र काव्य की ग्राह्यता अलंकार-वश स्वीकार करते है—'काव्य ग्राह्यमलंकारात्'। इन दो वक्तव्यो से एक अतर्विरोध उभरता है और वह यह कि काव्य की अन्तःसत्ता, सारवत्ता 'रीति' पर आधृत है या 'अलकार' पर? यदि इन दोनो वक्तव्यो का समन्वय करना हो, तो एक ही रास्ता है और वह है—'रीति' की भी विशेषता 'गुण' और अलकारान्तर्गत 'गुण'। कारण, वे व्यापक अर्थ मे दोषत्याग, अलकार तथा गुण तीनो को ही अलकार मानते है। इस आलोक में रीतिअविरोधी अलंकार 'गुण' ही हो सकता है। साथ ही इसकी पुष्टि इसलिए भी हो जाती है कि वामन प्राथमिक या काव्य मे उपादेय सहज सौंदर्य का स्रोत 'गुण' ही मानते है। उन्होंने कहा है कि युवती के सहज सौंदर्य (जो यौवन नामक गुण के कारण सभव है) का स्रोत 'गुण' ही है। यौवन नामक गुण के अभाव मे अलकार का कोई अर्थ नही है। इससे स्पष्ट है कि वामन काव्य में जिस 'रीति' को महत्त्व

देते है, वह 'गुण' के कारण और गुणो की इतनी सख्या मानी है, ऐसे-ऐसे अर्थो का उसमें समावेश किया है कि न केवल सौदर्याधायक वस्तु सामान्य और कलात्मक उपकरणों की ही स्थिति ध्वनित है अपितु समाधि जैसे काव्यकारण का भी उल्लेख हो गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वामन रीति को महत्त्व ('रीति' के कारण) गुणवत्ता के कारण देते है। ऐसी स्थिति मे वामन को उक्त चतुर्विध विकल्पों में कहाँ रखा जाय, यह विचारणीय है।

डॉ० नगेन्द्र के मन मे भी यह बात गूँजती है, पर निष्कर्ष विपरीत है। देखें—"गुण के अर्थगुण और शब्दगुण ये दो भेद कर और कान्ति मे रस दीप्ति मानते हुए वामन ने अर्थ अथवा वस्तु की सत्ता तथा महत्त्व दोनो अगीकार किये है, फिर भी सब मिलाकर सापेक्षिक महत्त्व रीति का ही है जिसके बिना अर्थगुण सम्पदा का उत्कर्ष सिद्ध ही नही हो सकता।"

काव्य-सिद्धान्त के अनन्तर इस विवेचन का दूसरा महत्त्वपूर्ण खण्ड है—'रीतिसिद्धान्त' शीर्षक। इसके अन्तर्गत पूर्ववृत्त, रीति की परिभाषा और स्वरूप, रीति के आधार, रीति के मूलतत्त्व, रीति के नियामक हेतु तथा रीति का प्रवृत्ति, वृत्ति तथा शैली से अन्तर स्पष्ट किया गया है। इन सारे वैचारिक बिन्दुओ के माध्यम से भी वे ही दो उक्त बाते—वामन ही की स्थिति और उक्ति की व्यापक पीठिका पर विशद आख्यान तथा यत्र-तत्र वर्तमान साहित्यिक समस्याओ के चौखटे मे किसी पक्ष को रखकर अपनी बौद्धिक प्रतिक्रिया। इस सारे संदर्भ मे दो विवादास्पद बिंदु विशेष द्रष्टव्य है—एक तो रीति और शैली की एकरूपता तथा विरूपता और दूसरे 'गुण' का स्वरूप और उसकी मनोवैज्ञानिक स्थिति। गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति स्पष्ट करते हुए दार्शनिक पीठिका पर निरूपित 'गुण' की नई पीठिका पर पुनराख्यान किया गया है।

रीति और शैली की एकरूपता और विरूपता की समस्या को लेकर डॉ० नगेन्द्र ने जो स्थापना की है, वह इस प्रकार है। शैली के दो मूल तत्त्व है: वस्तु तत्त्व और व्यक्तितत्त्व। इन दोनों पक्षो से विचार करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने डॉ० डे के इस वक्तव्य से कि रीति और शैली दोनो मे उक्त दोनो तत्त्वो के आधार पर सर्वथा भेद है, असहमति व्यक्त की है। वस्तुतत्त्व की दृष्टि से तो भेद मानना वे अनावश्यक मानते ही है, व्यक्ति तत्त्व की दृष्टि से भी उतना महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। साथ ही वे यह स्वीकार करते है कि इधर 'शैली' मे व्यक्तित्त्व का समावेश जितना हुआ है उतना रीति तत्त्व मे नही था अर्थात् व्यक्तितत्त्व के समावेश में ८ भेद है आत्यन्तिक नहीं भारतीय रीति

मे न तो व्यक्तितत्त्व का एकांत अभाव है और न ही 'व्यक्ति शैली है' की भाँति एकात सर्वापहारी अधिकार ही । इस संदर्भ में भी मेरा यह कहना है कि सघटना या रीति के विषय में भारतीय आचार्यो (जैसे कुन्तक) ने जिस 'स्वभाव' की बात का उल्लेख किया है, वह 'स्वभाव' भी वस्तुमुखी है, व्यक्तिमुखी नही—अन्यथा कुन्तक सघटना को कतिपय निर्धारित गुणो से जकड़कर तीन ही नही मानते ।

दूसरा उल्लेख्य विंदु है : गुण का स्वरूप और मनोविज्ञान के आलोक मे उसकी स्थिति, मनोवृत्तियो के समन्वयन मे उसका योगदान । 'गुण' के स्वरूप पर भारतीय आचार्यो ने खूब जमकर दार्शनिक दृष्टि से भी विचार किया है । डॉ० नगेन्द्र ने इस वैचारिक शृखला का सशक्त आख्यान किया है । वास्तव मे पण्डितराज ने पूर्ववर्ती ध्वनिवादियो के विपक्ष मे अपना मत प्रकट किया है और अनुभव तथा तर्क दोनो के आधार पर खण्डन किया है । उन्होने नव रसो के दो त्रिको मे (शृगार, शान्त, करुण तथा वीर, वीभत्स, रौद्र) त्रिकसाधारण एक 'विशेषता' मानी है और उसी को गुण कहा है । प्रथम त्रिक परस्पर स्वरूप मे भिन्न होकर भी इस माने में एक समानता रखते है कि उनका प्रभाव द्रवात्मक होता है और दूसरे त्रिक का दीप्त रूप । मात्रात्मक भेद सभव है, पर मूलतः नही । अतः 'तीन' मे रहने वाली 'एक' विशेषता को तीन से अभिन्न नही कहा जा सकता । तथापि डॉ० नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है और पण्डितराज की भाँति उनका आख्यान सगत है कि इस एक 'विशेषता' (त्रिकव्यापिनी) को पृथक् 'गुण' क्यो कहा जाय और रस से भिन्न कारण क्यो कहा जाय । रस को ही उस द्रुति या दीप्ति का प्रयोजक क्यो न माना जाय ? रस से पृथक् 'गुण' की कल्पना कर उसे प्रयोजक क्यो माना जाय ? पण्डितराज ने तो दार्शनिक भूमिका पर भी उसका प्रत्याख्यान किया है और कहा है कि रस रूप आत्मा तो निर्गुण है, उसमें 'गुण' कहाँ ? परवर्ती आचार्य अच्युतराय ने अपने 'साहित्यसार' मे पण्डितराज का खण्डन करते हुये कहा है कि 'रत्याद्य-वच्छिन्न चित्' यदि रस है और यह पण्डितराज को स्वीकार है तो निर्गुण और निर्विशेष चित् में 'गुण' न हो पर सविशेष और सोपाधिक 'रस'-सगुण आत्मा मे तो 'गुण' की सत्ता माननी होगी ही । तब भी यह जिज्ञासा अक्षत ही रहेगी कि उपाधिभूता रति रसात्मक कोटि का आटीकन (स्पर्श) करके द्रुति का प्रयोजक होगी, अतः उससे पृथक् रूप मे प्रयोजक गुण क्यो माना जाय ? जब रसात्मक कोटि तक विकसित स्थायी स्वतः द्रुति, दीप्ति तथा विकास मे क्षम हैं, तो उनमें प्रमाण भाव मे भी एक अतिरिक्त गुण की कल्पना क्यो की

जाय ? विपरीत इसके कि रस धर्म के रूप में गुण की निराधार कल्पना मानी जाय, यही मान लेना कि द्रुति, दीप्ति आदि हार्दिक प्रभाव की प्रयोजकता वर्ण वाक्य, रचना अर्थ तथा रस—सबसे मान ली जाय और व्यवहार दृष्ट मधुर वर्ण, मधुर वाक्य, मधुर रचना, आदि व्यवहार की भी उपपत्ति बिठा ली जाय। इस प्रकार 'गुण' का जो स्वरूप बहुत दिनों से चलता चला आ रहा था, पण्डित-राज ने उसे हिला दिया। डॉ० नगेन्द्र ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस समस्या पर विचार करते हुए कहा है कि रस और गुण दोनों ही मन की स्थिति विशेष है। उनकी धारणा है कि रस वह आनन्दरूपी मनःस्थिति है जिसमें हमारी सभी वृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं और गुण वह रस की पूर्ववर्तिनी मनः-स्थिति है जहाँ हमारी चित्त-वृत्तियाँ पिघलकर, दीप्त होकर या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती है। इस प्रकार डॉ० नगेन्द्र पण्डितराज से हटकर अपना मत रखते हैं और लोचनकार के उद्धरण से अपने मत की पुष्टि करते है। निश्चय ही इस विचारोत्तेजक दिशा में साहित्य-शास्त्री अभी कुछ और सोचेंगे। विचारणीय यह है कि रसानुभूति का प्रभाव द्रुति आदि है अथवा द्रुति आदि की परिणति रसानुभूति है।

रीति-सिद्धान्त के अन्तर्गत उन्होंने गुण-संख्या, गुण और रीति, रीति प्रकार तथा दोष का भी व्यापक पीठिका पर आख्यान किया है। गुण की भाँति दोष की भी मनोवैज्ञानिक पीठिका पर रिचार्ड्स-सम्मत रसानुभूति के अनुरूप विचार कर पुनराख्यान की सम्भावना मूर्त की है।

रीति-विवेचन का तीसरा खण्ड है पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रीति और चौथा है हिन्दी में रीतिसिद्धान्त का विकास। अंततः संभावना करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने रीतिमत की सीमाओं और उपलब्धियों का उल्लेख किया है। तीसरा और चौथा खण्ड व्यवस्थित आख्यान ही कहा जा सकता है। कारण वह प्रासंगिक और पीठिका है—पुनराख्यान मूल और केन्द्रीय विवेचन के संदर्भ की वस्तु है। वहाँ यह है भी। रसवादी डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि में रस की अवहेलना-वश जहाँ रीतिमत समादृत न हो सका, वहीं बीस गुणों में सभी सौंदर्य-स्रोतों के समावेशवश वह अपने को एकांगिता से बचा भी सका है।

[ग] ध्वनि-सम्प्रदाय

'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' में डॉ० नगेन्द्र ने दो ही काव्य सिद्धांतों—रीतिमत तथा वक्रोक्तिमत—का समावेश किया है। ध्वनि-सिद्धांत पर डॉ० साहब ने हिन्दी 'ध्वन्यालोक' की भूमिका तथा 'रीति-काव्य की भूमिका' में

अपने विचार व्यक्त किए हैं। 'रीति-काव्य की भूमिका' मे इसका स्वरूप परिचयात्मक ही है। 'हिन्दी ध्वन्यालोक' की भूमिका में अपेक्षाकृत विस्तार-पूर्वक आख्यान उपलब्ध होता है।

अन्य रसेतर काव्यसिद्धांतों की भाँति ध्वनि-सिद्धांत का आख्यान भी जिन विभिन्न शीर्षकों मे हुआ है, वे है : पूर्ववृत्त, ध्वनि का अर्थ और परिभाषा, ध्वनि की प्रेरणा—स्फोट सिद्धात, ध्वनि की स्थापना, काव्यत्व का अधिवास, ध्वनि के भेद, ध्वनि की व्यापकता, ध्वनि और रस, ध्वनि के अनुसार काव्य के भेद, ध्वनि मे अन्य सिद्धातो का समाहार, ध्वनि और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र, हिन्दी मे ध्वनि, उपसहार, ग्रन्थकार तथा ध्वन्यालोक का प्रतिपाद्य विषय। यह सिद्धांत अपने मूल रूप मे ही इतना ग्राह्य और अद्यावधिक नव्य से नव्यतर काव्य धारा पर चरितार्थ होने वाला सिद्धान्त है कि उसमे पुनराख्यान की यो ही कम आवश्यकता है। सिद्धात जब इतना निगूढ हो, पूर्व विवेचित रूप मे अपर्याप्त हो तब उसके युगानुरूप पुनराख्यान की आवश्यकता भी होती है। ध्वनि-सिद्धांत मे ये सब कमियाँ स्वयम् ही नही है। इसीलिए इसका आख्यान और पुनराख्यान रीति और वक्रोक्ति मत की तुलना में नास्तिप्राय है और इस नास्तिप्रायता का कारण स्पष्ट है। इससे आख्याता के सामर्थ्य की कमी नही, अपितु आख्येय के सामर्थ्य का प्रचुर ध्वनन है। यो दो-तीन ऐसे प्रसग अवश्य है जहाँ आख्याता को स्वकीय सामर्थ्य का प्रकाशन करना पडा है।

इन विशेष प्रसगों मे एक विवाद है—काव्यत्व का अधिवास कहाँ? वाच्यार्थ में या व्यंग्यार्थ मे? ध्वन्यालोककार की स्थापना है कि व्यञ्जकता और काव्य-चारुता ये दोनो समनियत धर्म है अर्थात् काव्यत्व का बीज है चारुता और चारुता का स्रोत है व्यजंकता। जहाँ व्यजकत्व नही, वहाँ चारुता नहीं और जहाँ चारुता नही, वहाँ काव्यत्व नहीं। इस प्रकार काव्यत्व का सबध व्यजकत्व से है जो वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य—तीनो मे रह सकता है। अतः काव्यत्व का अधिवास वाच्यार्थ में ही है—यह 'ही' अवधारण सर्वथा व्यामोह-कारी तत्व है। वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थ निरपेक्ष होकर व्यंजक नही और व्यजक न होकर स्वरूपत. उसमे चारुता का अवस्थान संभव नहो है। यह बात दूसरी है कि प्रयोक्ता अपनी सामर्थ्य से व्यग्य की अपेक्षा वाच्य मे ही चारुता उत्पन्न कर दे। जैसे, उत्प्रेक्षा-सम्राट् हर्ष है और उपमा-सम्राट् कालिदास। उपमा मे सादृश्य या साधर्म्य वाच्य है और उत्प्रेक्षा मे व्यंग्य, तथापि जो चारुता कालिदास के वाच्य मे है वह श्रीहर्ष के व्यंग्य में नही।

अतः प्रयोक्तृ-निरपेक्ष रूप मे तो ध्वनिकार की बात सही है कि चारुता व्यंजक वाच्य मे होती है—केवल वाच्य मे नही। इस संदर्भ मे शुक्ल जी भी जब काव्यत्व का अधिवास व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य मे कहते है और जिन उदाहरणो की पीठिका पर उसे स्पष्ट करते हैं उससे साफ़ जाहिर है कि वे व्यंजक वाच्य की चारुता की बात करते है, मात्र वाच्य की नही। डॉ० नगेन्द्र ने शुक्ल जी के उद्धरणो को माध्यम बनाकर प्रश्न यह खडा किया है कि 'जीकर हाय पतग मरे क्या', से प्रतीत चारुता या चमत्कार वाच्य 'विरोधाभास' में है या व्यग्य रतिगत उत्कटता मे ? यदि चारुता का आधार उत्पन्न 'लक्ष्यार्थ' और अनुपपन्न 'वाच्यार्थ' की तुलना द्वारा उभरा हुआ 'विरोधाभास' है तो वह शुक्ल जी की अपनी ही मान्यता के विरुद्ध है और यदि दूसरा हो तो व्यंग्यार्थ से भी काव्यत्व के अधिवास को दूर नही किया जा सकता। अतः डॉ० नगेन्द्र शुक्ल जी की इस स्थापना को दिशान्तर भ्रमण और वदतोव्याघात मानते है। शुक्ल जी ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि अनूठी से अनूठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जबकि उसका सबध—कुछ दूर का ही सही—हृदय के किसी भाव या वृत्ति से होगा। शुक्ल जी के इस वक्तव्य के आलोक मे डॉ० नगेन्द्र का निष्कर्ष संगत लगता है।

इस संदर्भ मे यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए की ध्वनिकार ध्वनि की बात करते हुए भी अभिनिवेश अततः ध्वनित रस मे ही रखते है और आत्म-स्थानीय उसी को मानते है। वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि को जो महत्व है, वह रसपर्यवसायी और सन्निहित होने के कारण गौण रूप से।

शुक्ल जी को यह आपत्ति कि वस्तुव्यजना तथा भावव्यंजना में केवल सलक्ष्य और असलक्ष्यक्रम का मात्रात्मक भेद ही नही है, अपितु गुणात्मक या प्रकारात्मक भेद है, सही लगता है। वस्तुव्यजना बोध का एक रूप है जब कि भावव्यंजना स्पष्ट अनुभूति है। शुक्ल जी का यह भी सोचना संगत लगता है कि वस्तुव्यजना तक एक अर्थ के सहारे वैसे ही पहुँचा जाता है जैसे अनुमिति की प्रक्रिया मे। परन्तु व्यजना की प्रक्रिया मे भी हम एक अर्थ के सहारे दूसरे अर्थ तक पहुँचते है। अत. एक अर्थ बोध के सहारे (धूप से आग तक) दूसरे अर्थ के बोध तक पहुँचना अनुमान ही है—यह निष्कर्ष विवादास्पद है। अनुमान का लक्ष्य और व्यंजना का लक्ष्य भिन्न है। अनुमान जिस अर्थ का बोध कराता है उसका लक्ष्य बोध का प्रायोगिक और सत्य बताना होता है—व्यंजना का नहीं। व्यजना से हम जिस अर्थ तक पहुँचते है—वह चमत्कारी हो, बस इतना ही आवश्यक है, सत्यासत्य निर्णय से कोई सरोकार नही। इस सत्य से महिम

भी परिचित थे, अतएव उन्होंने लोकानुमान से काव्यानुमान को पृथक् भी कहा है—फलतः ऐसे चमत्कारी स्थलों की अनुमिति को वे 'काव्यानुमिति' कहना अधिक पसंद करते हैं।

डॉ० नगेन्द्र के इस निष्कर्ष से कि शुक्ल जी वस्तुव्यंजना में काव्यत्व नहीं मानते, मैं भी सहमत हूँ, पर इस शर्त के साथ कि यदि वह यथाकथञ्चिदपि भावपर्यवसायिनी न हो।

डॉ० नगेन्द्र ने एक दूसरी बात 'ध्वनि और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र' शीर्षक विचार प्रवाह के संदर्भ में कही है और वह यह कि कवि अपने हृदय का रस हृदयान्तर में संक्रान्त करने के लिए चित्रभाषा का प्रयोग करता है और यह कार्य कवि की कल्पना-शक्ति से ही संभव है। ग्राहक जब भाषा से 'चित्र' और 'चित्र' में भाव तक उलटी यात्रा करता है तब कवि की प्रतिभा या कल्पना का भी साक्षात्कार कर लेता है। डॉ० नगेन्द्र ने बहुत सुन्दर तथ्य को पकड़ा है। ध्वन्यालोककार ने कहा है—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥

अर्थात् रस प्रवाही महाकवि की वाणी निहित अलौकसामान्य प्रतिभाविशेष का प्राकट्य कर देती है। ग्राहक भाषा में निहित क्षमता (व्यंजना) से कवि की कल्पना का साक्षात्कार कर लेता है। दूसरे की कल्पना (कारयित्री) का साक्षात्कार करने के लिए स्वयम् में भी (भावयित्री) कल्पना होनी चाहिये पर इस सुप्त शक्ति को कौन जगावे? उत्तर है कविप्रयुक्त भाषा की क्षमता ही। इस आधार पर डॉ० नगेन्द्र का निष्कर्ष है कि शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यंजना' और रस के संवेदन सूत्र को ही 'रस ध्वनि' कहा है। वैसे यह ठीक है कि व्यंजना शब्द की एक क्षमता है और उसका कार्य अर्थबोध या अर्थप्रकाश है—पर वह यह कार्य कल्पना को जाग्रत कर के भी, ग्राहिका शक्ति को दीप्त करके ही तो कर सकती है।

अन्तिम बात है ग्रन्थकार के सम्बन्ध में। डॉ० नगेन्द्र ने विभिन्न क्रमागत तर्क-प्रतितर्कों का उल्लेख किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ग्रन्थकार और वृत्तिकार एक ही हैं। मैं इस विषय में बात बहुत नहीं बढ़ाना चाहता, पर द्वितीय उद्योत में लोचनकार की एक पंक्ति है—वृत्तिकारेण सता मया (आनन्दवर्द्धनाचार्येण)। इससे निर्भ्रान्त पुष्टि होती है कि ग्रन्थकार ही वृत्तिकार

होकर अपना स्पष्टीकरण दे रहा है। अतत. भूमिका के अंत मे सक्षेप मे डॉ० नगेन्द्र ने प्रतिपाद्य विषयो की तालिका प्रस्तुत कर दी है।

इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त के सम्बन्ध मे उनका अभिमत है कि वह काव्य का एक सार्वभौम सिद्धान्त है। इसीलिए वह युग का मान्य रहा है और है। अलकार और रीतियाँ तो काव्य के बहिरग को छूकर रह जाते है—पर ध्वनि-वाद एक साथ प्रबन्ध और मुक्तक—सब की उँचाई का शक्त प्रतिमान है। रसवाद को मुक्तक या श्रव्यकाव्य पर लागू करने मे रबर के चन्दोवा की तरह इसे खीचना पडता है—'ध्वनि' के साथ यह बात नही है। दूसरे, ध्वनि-सिद्धान्त की एक विशेष महिमा यह भी है कि वह सौन्दर्य के अन्य समस्त स्रोतो को ध्वनित रस के सूत्र में समन्वित भी कर लेता है।

[घ] वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

वक्रोक्ति मत का अभिव्यजनावाद के सदर्भ मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वाग्वैचित्र्यवाद कहकर अवमूल्यन कर दिया था, पर डॉ० नगेन्द्र के सुविस्तृत आख्यान और पुनराख्यान जैसे प्रयासों ने उसे न केवल वाग्वैचित्र्यवाद के गर्त से उबारा, प्रत्युत 'स्थाने' प्रतिष्ठित भी किया। निर्माण की दृष्टि से काव्य के विभिन्न पक्षो पर इतना मूल्यवान् प्रकाश विकीर्ण करने वाला भारतीय काव्यशास्त्र मे कोई दूसरा मत नही है। यह अवश्य है कि भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वाधिक शक्त सिद्धान्त ध्वनि-सिद्धान्त है और कुन्तक ने उसका खण्डन कर अपने को विपक्ष मे रखा। इस कारण उनके शब्दशक्ति-सम्बन्धी वक्तव्यो मे कुछ कमजोरी आ गई है और सूक्ष्मदर्शी समीक्षक उसे पकड लेते है। व्यञ्जनाश्रित ध्वनि का प्रत्याख्यान करने के बावजूद कुन्तक ने 'रस' और 'प्रतीयमान' का स्थान-स्थान पर न केवल उल्लेख किया है, अपितु उसे मूल साध्य भी बनाया है। कुन्तक के यहाँ 'भाव' और 'स्वभाव' ही अलकार्य है और वक्रोक्ति अलकृति। वे वक्रोक्ति को साध्य नही मानते और 'वक्रत्व कवि व्यापार.' कहने वाला व्यक्ति साध्य मान भी कैसे सकता है? साध्य तो परिणति है, आन्तरालिक व्यापार नही।

डॉ० नगेन्द्र के आख्यान की एक विशेषता यह भी है कि वे प्राचीन काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त को अपने और युग के चिन्तन-ढाँचे में भर देते है—फलतः प्राचीन चिन्तन आज के चिन्तको और जिज्ञासुओ के लिये ग्राह्य हो जाता है। प्राचीन चिन्तन को वर्तमान मे पुनरुज्जीवित करने का यही प्रशस्त पथ है कि एक

ओर जहाँ उसे वर्तमान ढाँचे मे बिठाया जाय और वर्तमान शब्दावली मे ढाला जाय, वही दूसरी ओर वर्तमान समस्याओ का समाधान देने में क्षम निहित सभावनाओ को उजागर किया जाय। इनके आख्यान और पुनराख्यान मे ये दोनो ही बातें मिलती है। उनके विवेचन मे इसीलिए पढने को मिलता है— 'आधुनिक काव्यशास्त्र की शब्दावली में कुन्तक की स्थापनाएं प्रस्तुत की जा सकती है।' दूसरी तरफ स्वच्छदतावादी क्रोचे जैसे दार्शनिक चिन्तको के सदर्भ मे कुन्तक की विवेचना में निहित सभावनाओं को उजागर किया गया है।

डॉ० नगेन्द्र व्यापक परिप्रेक्ष्य मे भारतीय काव्यशास्त्र की व्याख्या करते हुए बार-बार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—"भारतीय साहित्यवेत्ता शताब्दियों पूर्व साहित्य के मूल मर्मो तक पहुँच गया था—उसकी शब्दावली मात्र भिन्न थी।" और मै इसमे शतश: सहमत हूँ। मेरी भी धारणा है कि भारतीय जीवन जिस आध्यात्मिक परिधि को स्वीकार करता था, उसमें स्वत स्फूर्त सत्यो का महत्व था। विज्ञान आज उन स्फूर्त सत्यों की तार्किक सगति लगाकर आधुनिक लोगो के गले उतार सकता है। डॉ० नगेन्द्र ने इस पथ पर यथाशक्ति सचरण किया है। इस सदर्भ मे उनका वह विवेचन लिया जा सकता है जहाँ उन्होने कुन्तक के 'वक्रत्व कविव्यापार:' के अनुसार विषयवस्तु की अपेक्षा निर्माता कवि व्यापार को महत्व दिया है और उसका स्पष्टीकरण व्यापक परिप्रेक्ष्य मे कर एक प्रकार से पुनराख्यान ही प्रस्तुत किया है।

साहित्य जगत् का एक बहुत बड़ा प्रश्न है कि काव्य मे वर्ण्य महत्व का है या कवि-व्यक्तित्व। डॉ० नगेन्द्र ने पूर्व और पश्चिम के साहित्यशास्त्र को ही नही, दर्शन और मनोविज्ञान को भी सामने रखकर अपना पक्ष प्रस्तुत किया है और कुतक की सभावनाएँ भी मूर्त की है। उन्होंने व्यक्तित्व और कर्तृत्व का भी अतर साफ़ किया है। उनके अनुसार भारतीय काव्यशास्त्र जहाँ रस के माध्यम से विषय को महत्व दे रहा था वहाँ पश्चिम मे अरस्तू से मैथ्यू आर्नेल्ड तक महान् विषयवस्तु का ही महत्व माना जाता रहा है। परन्तु इस अविच्छिन्नता मे जहाँ-तहाँ व्यक्तिपरक दृष्टिकोण की ज्योति भी कौधती हुई लक्षित होती थी। क्रोचे ने तो वस्तु का एकान्त निषेध ही कर दिया था। पश्चिम मे वस्तु समर्थको का दृष्टिकोण क्षीण नहीं हुआ। इलियट और प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग तक ने इस पक्ष का जोरदार समर्थन किया। डॉ० साहब ने इसका बड़ा ही विशद और प्राजल उपस्थापन किया है। इलियट कवि-व्यक्तित्व का किसी प्रकार का योगदान नही मानते। यद्यपि कर्तृत्व का एकान्त निषेध भी नही करते, परन्तु उसे वे कान्शस एक्टिविटी (सचेष्ट क्रिया) भी नहा

मानते। वे मानते है कि सृजन प्रेरणा के प्रभाव मे भावो और सवेदनो के समन्वय का नाम ही काव्य रचना है। युग भी मानते है कि महान कला वस्तुपरक और अव्यक्तिगत ही होती है। भारतीय काव्यशास्त्र मे भी जो प्राक्तन और इदानीन्तन वासना को निर्माता या ग्राहक के व्यापार की विशेषता कहा गया है—युग के वक्तव्य के आलोक मे उसकी स्पष्ट ही सवादी व्याख्या हो जाती है। डॉ० नगेन्द्र ने उसको लक्षित किया है। कुन्तक से पूर्व भारतीय काव्यशास्त्र न तो भोक्ता और स्रष्टा का तादात्म्य मानता था और न ही कवि को माध्यम मात्र। वह तो काव्य को प्रतिभा अथवा व्युत्पति, अभ्यास या प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास की परिणति मानता था। इस सारी पीठिका पर जहाँ तक कुन्तक का सबध है, डॉ० नगेन्द्र मानते है कि वह कवि को केवल माध्यम नही मानता, विपरीत इसके कवि के कर्तृत्व की निर्भ्रान्ति घोषणा करता है। इस कर्तृत्व स्वीकृति मे भी उनके अनुसार दो विकल्प है—पहला यह कि कर्तृत्व क्या केवल कवि की सक्रियता है अथवा कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी ? काव्य को कविकर्म कहने वाला कुतक सक्रियता को तो मानता ही है, प्रतिभा को काव्य का कारण मानते हुए और उसे 'प्राक्तनाद्यतन सस्कारपरिपाक-प्रौढा' समझते हुए कवि व्यक्तित्व को भी अभिव्यक्त मानता है। पर डॉ० साहब के अनुसार आधुनिक मनोविज्ञान की भाँति कुन्तक व्यक्तित्व और भोक्ता को पर्याय नहीं मानते। 'स्वभाव' को महत्व देते हुए भी कुन्तक काव्य को कवि की प्रत्यक्ष आत्मानुभूति नही मानते। डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि मे कुन्तक द्वारा भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रतिपादित कवि की 'सवासनता' और पाश्चात्य मनोविज्ञान द्वारा स्थापित 'आत्माभिव्यक्ति' का मध्यवर्ती है। इस प्रकार डॉ० नगेन्द्र भारतीय काव्यशास्त्र की स्वतःस्फूर्त मान्यताओ को आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली और तर्क-प्रक्रिया द्वारा न केवल ग्राह्य बना देते है, अपितु विश्वसनीय भी। प्रतिभा तथा कल्पना के स्वरूप-विश्लेषण में जो व्यापक पीठिका और सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है—उससे भी चिन्तकों को अपने अनुरूप सोचने की संभावना का अनावरण होता है। इस प्रकार वे समस्या का अपनी दृष्टि से समाधान देते तथा औरों के लिए संभावना की जगह बनाते बढ़ते चलते है।

इसी प्रकार सौंदर्य वस्तुगत है या व्यक्तिगत? प्रकृति उद्दीपन है या आलम्बन ? ऐसे प्रश्नो को भी लिया और कुन्तक का पक्ष वर्तमान सदर्भ में स्पष्ट किया है। कुतक के अनुसार वस्तु या काव्यवस्तु सहज और आहार्य दो प्रकार की है। सहज वस्तु का सौंदर्य वस्तुगत और आहार्य का व्यक्तिगत है। रहा प्रकृति के

 का प्रश्न सो डॉ० नगेन्द्र कुन्तक के साथ हैं और उसे उद्दीपन ही

कहना चाहते है। स्वयम् शुक्ल जी ने रति या प्रेम को चेतन के कूलों मे बाँध-कर निरूपित किया है।

इस प्रकार वक्रोक्ति-सिद्धान्त के विभिन्न पक्षो का शक्त पुनराख्यानगर्भ आख्यान कर लेने के बाद डॉ० नगेन्द्र इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त एक व्यापक सिद्धान्त है जिसमे वर्ण से लेकर प्रबंध तक काव्य-सौदर्य के समस्त रूप वक्रता के ही प्रकार है। साथ ही तब तक के समस्त सौन्दर्य-स्रोत वक्रता के ही प्रकार है। वक्रता केवल वाक्चातुर्य नही है, वह कवि-व्यापार है। भावप्रेरित कल्पना या प्रतिभा पर बल होने के कारण इस वाद में कला का अतिचार नही है। कुन्तक का कवि-व्यापार या प्रतिभा प्रस्थान मे कविगत और पर्यवसान तथा परिणति मे अन्तश्चमत्कारात्मक वस्तुगत हो जाती है। इसीलिए भावदीप्ति-मूलक उक्ति-दीप्ति ही कुन्तक की सतुलित वक्रता है। वक्रोक्ति कलातत्व की मार्मिक व्याख्या है और यही कुन्तक का भारतीय काव्य-शास्त्र को योगदान है। साथ ही अलकृति को जीवित कहना उसकी सीमा भी है। पर 'जीवित' को Soul की जगह Life कहे तो विशेष गडबड भी नही है।



लेखक के अन्य ग्रन्थ

१—व्यंजना और नवीन कविता	१९५७
२—नृसिंह चम्पू	१९५८
३—भारतीय साहित्य दर्शन	१९५९
४—औचित्य-विमर्श	१९६६
५—रस-विमर्श	१९६४
६—साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष	१९६६
७—लक्षणा और उसका आधुनिक हिंदी काव्य में प्रसार	१९६६
८—काव्यालंकार-सार-संग्रह और लघुवृत्ति की व्याख्या	१९६६
९—रहस्यवाद	१९६६
१०—हिंदी साहित्य का इतिहास	१९६७
११—कवि श्री रामकुमार वर्मा	१९७२
१२—भारतीय काव्यशास्त्र : नए संदर्भ	१९८२
१३—आदिकालीन हिंदी साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका	१९७३
१४—कामायनी : कला और दर्शन	१९७३
१५—आधुनिक काव्य : कला और दर्शन	१९७३

•